जैन धर्म और अभिनव अध्यात्म

- लेखक : वस्तुपाल परीख
- अनुवादक : सौ. भारती जोशी

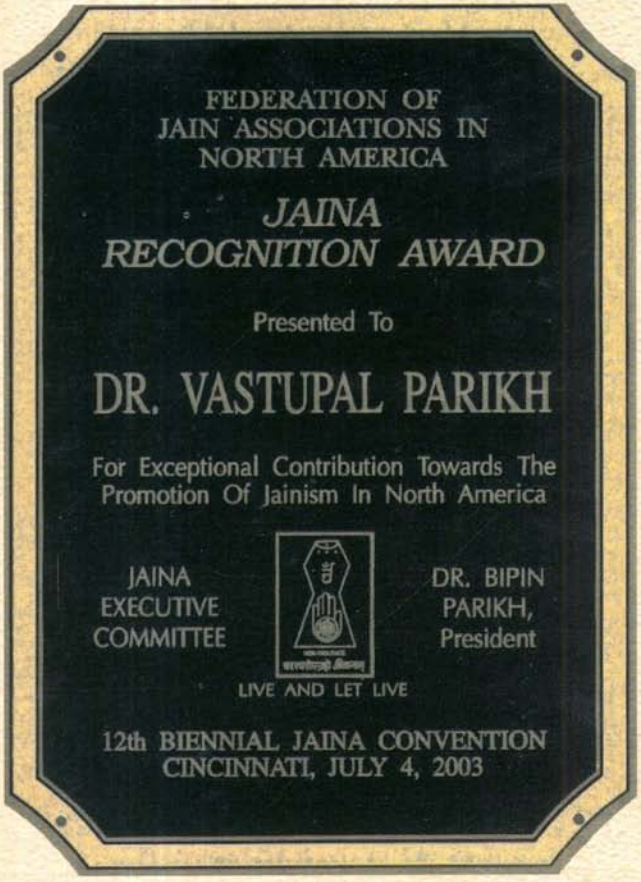

'जैना' - (Federation of Jain Associations of North America) - अमरीका की इस प्रमुख जैन संस्था द्वारा गौरव पूर्ण पुरस्कार "Recognition Award" से इस पुस्तक के लिए डॉ. वस्तुपाल परीख को तारीख 4 जुलाई 2003 को सम्मानित किया गया। इस गौरव के लिए हम **'जैना'** का हृदय से आभार प्रकट करते हैं।

- प्रकाशक

भावी पीढी के नाम...

जैन धर्म और अभिनव अध्यात्म

लेखक

प्राध्यापक वस्तुपाल परीख

अनुवाद

प्राध्यापक सौ. भारती जोशी

Original Title

Jainism and the New Spirituality

by

Professor Vastupal Parikh, Ph.D.

Published by

Peace Publications

Toronto, Canada

2002

Peace Publications
© 2005 Vastupal Parikh
2908-8 Lisa Street • BRAMPTON, Ontario
Canada • L6T 4S6
Phone: 905-453-5073 • E-Mail: vastup@hotmail.com

Published simultaneously in India and Canada.

प्रकाशक अथवा लेखक की लिखित संमति के बगैर इस पुस्तक की अथवा पुस्तक के किसी भी अंश की, किसी भी प्रकारसे नकल करना अपराध है । भारत के बाहर इस पुस्तक का व्यापार के लिए निकास करने का अधिकार केवल प्रकाशक को ही है ।

National Library of Canada Cataloguing in Publication Data:

Parikh, Vastupal, 1930 – Translated by: Bharati Joshi, 1930
जैन धर्म और अभिनव अध्यात्म
संदर्भ ग्रंथ सूची साथ

ISBN : 0-9689863-2-3

१. जैन धर्म २. जैन तत्त्वज्ञान ३. अध्यात्म ४. शीर्षक

B162.5.P37 2005 181'044 C2003-903788-0

: प्रमुख प्राप्तिस्थान :

Peace Publications

CANADA

PEACE PUBLICATIONS
685 Merton Street
TORONTO, Ontario
Canada, M4S 1B4

U.S.A.

PEACE PUBLICATIONS
6206 Frosty Winter Dr.
CENTERVILLE, VA
U.S.A. 20121

E-mail: peacepub@hotmail.com
Web: www.Peacepublications.com

INDIA

PEACE PUBLICATIONS
4, Chandan Wadi
opposite Rajbhavan
Shahi Baug
Ahmedabad
Gujarat 380 004
Tel.: 079-2286-8083
E-mail: peacepub@hotmail.com
Web: www.peacepublications.com

HINDI GRANTH KARYALAY
Booksellers and Publishers
9, Hirabaug,
C.P. Tank,
Mumbai 400004
INDIA
Phones: +91 22 20622600 / 238 26739
E-mail: manish.modi@mtnl.net.in
Web: www.hindibooks.8m.com

अथवा आपके पसंदीदा बुकस्टोर से प्राप्त करें

मेरी अंग्रेजी किताब "Jainism and the New Spirituality" का हिंदी अनुवाद तथा उसका प्रकाशन भारत के जाने माने उद्योगपति, विद्वान एवं धर्म प्रेमी समाज सुधारक, बजाज टेम्पो के चेअरमन **श्री अभय फिरोदियाजी** की प्रेरणा एवं आर्थिक सहयोग से हुआ।

एक दिन अचानक ही आपका स्नेहभरा खत मुझे मिला, जिसमें आप लिखते हैं-

"Over the last few years having looked at some of the books on the subject of Jain philosophy in Hindi, Marathi, Gujarati and English, I have come to believe that most books have not succeeded in bringing to the subject the high degree of readability, as also the extraordinarily attractive and reader friendly structure, that you have achieved. Have you considered having the book translated in Hindi, Gujarati, Marathi or other Indian languages? I would be happy to organize this at my cost in India if you were to agree to have this done."

Abhay Firodia - January 7, 2003

अभयजी, इस प्रोत्साहन और सहायता के लिए मेरे कृतज्ञतापूर्वक प्रणाम!

- वस्तुपाल घरीख

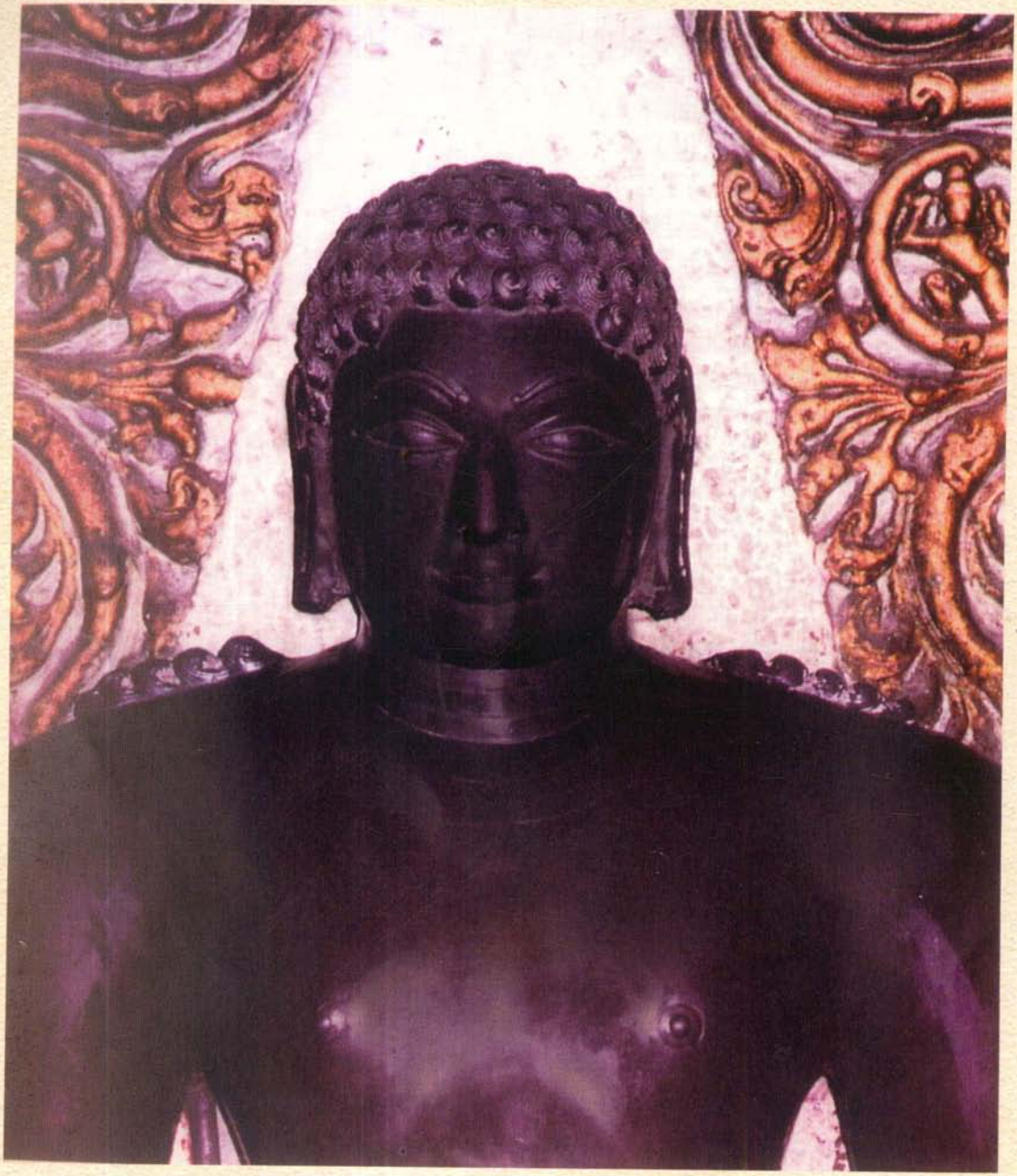

तीर्थंकर मूर्ति का 'अपरिग्रही ध्यानस्थ' स्वरूप
दिगंबर पंथीय जैन मंदिरों में अधिकांश पाया जाता है।

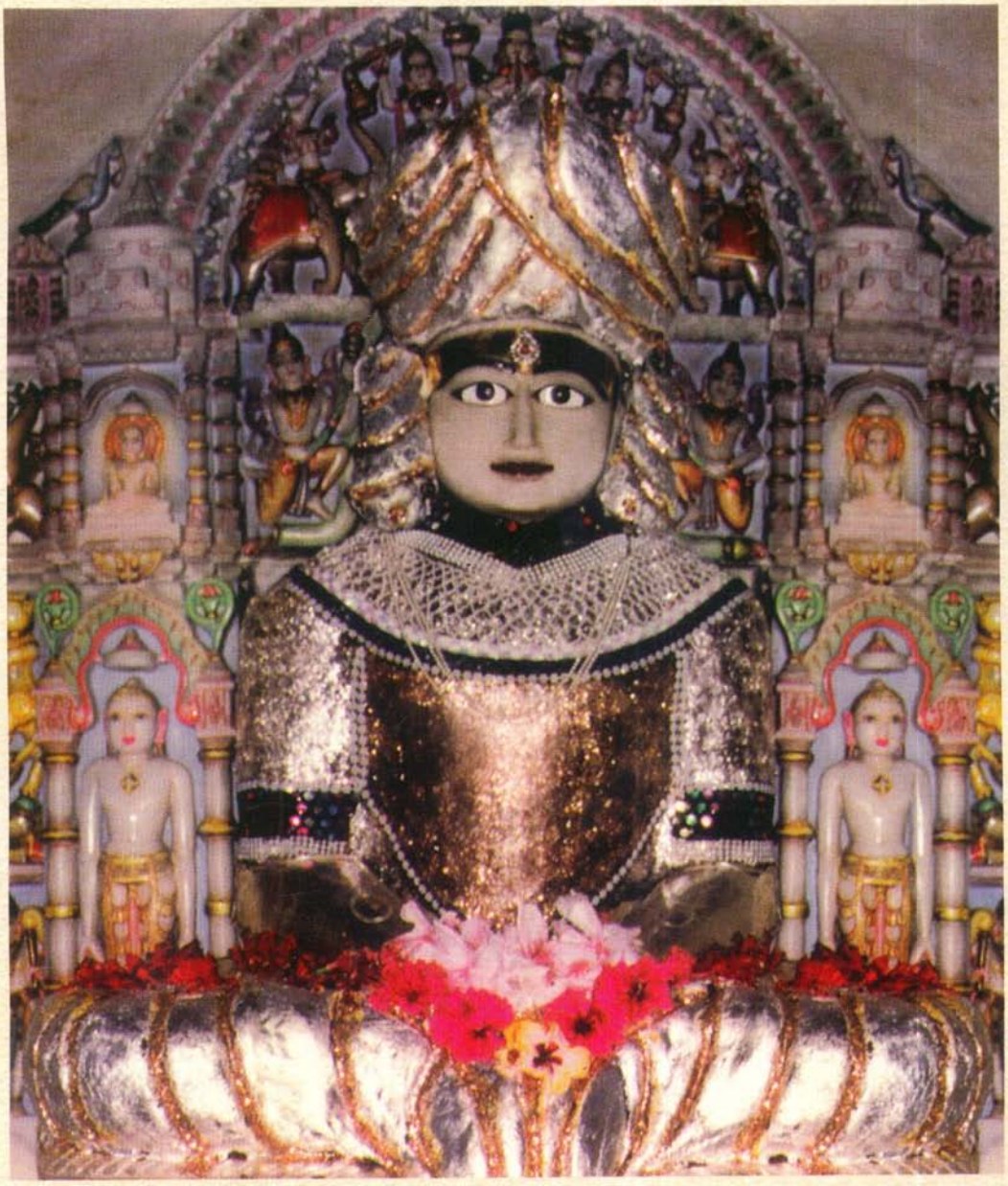

तीर्थंकर मूर्ति का 'वस्त्रभूषणादि से अलंकृत राजसी स्वरूप'
श्वेतांबर पंथीय जैन मंदिरों की परम्परा रही है।

जैन मंदिर अत्यंत सुंदर हैं।

अनुक्रमणिका

अनुक्रम

भूमिका **3**

1. मेरी अपनी यात्रा 7

खंड 1 सम्यक् चरित्र **13**

2. जागृति 15

3. मोक्ष मार्ग की खोज 23

4. जैन मार्ग 33

5. जैन जीवन शैली और समकालीन जीवन 39

खंड 2 सम्यक् दर्शन **45**

6. यथार्थ 47

7. जैन विश्व दर्शन की जड़ें 61

8. विश्व संचालन के सिद्धांत 73

9. कर्म 79

खंड 3 सम्यक् ज्ञान **91**

10. सम्यक् ज्ञान 93

11. ज्ञान के आयाम 99

खंड 4 समकालीन समस्याएं 107

12. आधुनिक विचारक 109

13. अभिनव अध्यात्म 119

14. विज्ञान 129

15. विश्व शांति 135

16. अहिंसा और शाकाहार 143

17. एक कार्य योजना 151

खंड 5 इतिहास एवं साहित्य 165

18. जैन धर्म, महावीर के पहले 167

19. जैन धर्म, महावीर के पश्चात् 181

20. पवित्र साहित्य 209

ऋण स्वीकार 218

संदर्भ ग्रंथ सूचि 219

ईन्टरनेट वेबसाईट सूचि 223

भूमिका

जैन धर्म प्राचीन होते हुए भी आधुनिक समाज के लिए बहुत प्रासंगिक है। मैंने पाया कि उसमें तर्कबुद्धि, अहिंसा और सरल जीवन शैली पर बल दिया गया है। यही नहीं, उसमें समकालीन विचारधाराओं के प्रति उदारता है, एक खुलापन है। जब मैं बीसवीं सदी में हुए विश्वयुद्धों, भीषण अग्निकांडों और अनाप-शनाप विकास, पर्यावरण के विनाश और आणविक अस्त्रों की भयावहता के बारे में सोचता हूं तो मेरे मन में एक सवाल उठता है, आने वाली सदी कैसी होगी? क्या वह अतीत को ही दोहराएगी? क्या हमें कभी शांति, स्थिरता नहीं मिलेगी? मुझे इन सवालों का उत्तर जैन धर्म में मिलता है। वह उत्तर है-एक सुखद भविष्य की आशा। ऐसा भविष्य जो शांति, सौहार्द्र, भाईचारा और परस्पर विश्वास में स्थित है।

अधिकांश लोगों के लिए आधुनिकता का अर्थ है, तर्कबुद्धि पर आधारित सोच, न कि कट्टरता या अंधविश्वास। आज नई शिक्षा के प्रचार-प्रसार के ही कारण हम किसी ऐसे विचार को ग्रहण नहीं करते जिसका आधार तर्कबुद्धि न हो।

विगत पीढ़ियों ने केवल अंधविश्वास के सहारे जिन मान्यताओं, अवधारणाओं को अपनाया, आज की पीढ़ी तर्क की कसौटी पर उनका स्पष्टीकरण खोजती है। विगत के अंधविश्वासों को वर्तमान युग की तर्कबुद्धि ने लगभग नष्ट कर डाला है। देखा जाए तो आधुनिकता के संदर्भ में जैन धर्म अंधविश्वास के प्रति हमें एक अलग नज़रिया देता है। जैन धर्म ही एक ऐसी आध्यात्मिक चिंतन शैली है, जिसमें किसी भी मान्यता को स्विकार करने से पहले साधक को उसका तर्कबद्ध विश्लेषण करना आवश्यक बताया है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो प्राचीन जैन दार्शनिकों को 'विश्वास की छलांग' (Leap of faith) लगाने की ज़रूरत महसूस नहीं हुई, बल्कि अध्यात्म की जिज्ञासा के समाधान में उन्होंने तर्कबुद्धि का ही आश्रय लिया। इसलिए मैं तो कहूंगा कि इक्कीसवीं सदी में विश्व की धर्म संबंधी जिज्ञासा और खोज के लिए जैन धर्म का विशुद्ध दृष्टिकोण ही एकमात्र उत्तर है। मेरे विचार में जैन चिंतन में विश्व शांति और पर्यावरण की सुरक्षा के लिए व्यक्ति के स्तर पर जो प्रतिबद्धता है, वही मानव समाज के भविष्य की आशा है, वही न्याय संगत, समतामूलक जीवन का आधार है।

आज ऐसे कई पाश्चात्य अध्यात्मवादी हैं जो बहुत गंभीरता से आधुनिकता पर नज़र रखे हुए हैं। आधुनिकता

से तात्पर्य है कट्टरता और अंधविश्वास से हटकर तर्कसंगत सोच। ह्यूस्टन स्मिथ अपनी पुस्तक "Beyond the post modern mind' [2] में लिखते हैं-

''आधुनिकता की परिभाषा है- परमेश्वर का लोप। धर्म संबंधी भावना अब समाप्त हो गई है। 'ईश्वर की मृत्यु' या 'ईश्वर को ग्रहण' जैसे वाक्यों का अर्थ भी पुराने ज़माने में समझ से परे रहा होगा। अध्यात्म का मुख्य हत्यारा है आधुनिक विज्ञान।''

इसकी पुष्टि सन् 1979 में एडवर्ड नॉर्मन की किताब "Christianity and the world order" [3] में मिलती है। नॉर्मन लिखते हैं-

''इसमें कोई शक नहीं कि विकसित समाजों में धर्मनिष्ठा की गिरावट में शिक्षा का बहुत बड़ा योगदान रहा है।''

मेरा विश्वास है, पुराने शक्तिसंपन्न धार्मिक संगठनों के बिखर जाने के बाद सामाजिक जीवन में जो उत्पात-उपद्रव हुए, जो गड़बड़ी-अव्यवस्था फैली, उसी की प्रतिक्रिया स्वरूप ऐसे वक्तव्य दिए गए। उनका तात्पर्य मगर यही निकलता है कि आधुनिक मनुष्य आध्यात्मिक मूल्यों में कोई रुचि नहीं रखते और विज्ञान तथा शिक्षा, आध्यात्मिक मूल्यों की गिरावट के लिए दोषी है। जबकि सच तो यह है कि अध्यात्म के विषय में जिज्ञासा आज भी पूरी तरह जीवित है। आज तो एक अद्‌भुत, वैश्विक आध्यात्मिकता का प्रादुर्भाव हो रहा है। हालांकि कट्टरता, हठवादिता से उसका रुख हट रहा है और वह नया रूप ले रही है। आधुनिक आध्यात्मिकता मंदिरों, मस्जिदों, गिरजाघरों में नहीं, बल्कि जंगलों, गांवों, शहरों की गली-गली में व्यापक जन आंदोलन में दिखाई देती है। उसकी जड़ें हैं-मानव अधिकार, प्राणी अधिकार, विश्व शांति और पर्यावरण के प्रति जागरूकता। इस नई आध्यात्मिकता के सर्वश्रेष्ठ पुरोहित आज के शीर्ष आंदोलक (activist) हैं। कई प्राचीन धर्मों ने भी इस नई आध्यात्मिकता को स्वीकारते हुए कर्मकाण्ड और धर्माचार्यों के आदेशों का महत्त्व कम किया है। इसी कारण धार्मिक संगठनों में अब प्रेम, न्याय, पारस्परिक बंधुत्व और मानव अधिकार को महत्त्व दिया जा रहा है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण में यह परिवर्तन अभिनंदनीय है लेकिन धार्मिक संगठनों और विज्ञान के बीच वही पुरानी सत्ता की, अधिकार की लड़ाई आज के मानव अधिकार के युग में आसानी से भुलाई नहीं जा सकेगी।

प्रसिद्ध खगोल-भौतिक विज्ञानी कार्ल सेगन[4] की मान्यता है-

''धर्म चाहे नया हो या पुराना, अगर वह आधुनिक विज्ञान द्वारा उद्‌घाटित विश्व की महत्ता को स्वीकारता है तो ऐसा धर्म सम्मान और आदर का ऐसा केन्द्र होगा जैसे कि परंपरागत रूढ़ धर्म, पंथ आदि पहले शायद ही कभी रहे होंगे।''

2. Smith Houston, *Beyond the Post-Modern Mind,* The Crossroads Publishing Company, New York 1992 p. 145.
3. Norman Edward, Christianity and the World Order, Oxford University Press, New York, 1979.
4. Sagan Carl, Pale Blue Dot : A vision of the human future, Random House Canada, 1994.

तात्पर्य यह कि आधुनिक मनुष्य की दृष्टि में आध्यात्मिकता न तो केवल आस्था, निष्ठा है और न ही विशुद्ध भौतिकवाद। समाज की निष्ठा, श्रद्धा, सम्मान को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए आध्यात्मिकता को बहुआयामी एवं अनेक स्तरीय बनना होगा। आध्यात्मिकता को तर्कबुद्धि के साथ नए विश्वास का तालमेल बैठाना होगा। इसके अलावा मनुष्य और शेष जीवधारी प्राणियों के संबंध में कुछ विशेष समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करना होगा। विश्व की विलक्षण महत्ता पर ज़ोर देते हुए विश्व रक्षा की तरफ विशेष ध्यान देना होगा। वह किस प्रकार किया जाए इस पर गहराई से सोच-विचार करना होगा। इससे भी आगे बढ़कर विश्व शांति और मनुष्य की आचरण संहिता का समागम करना होगा।

मेरी आध्यात्मिक यात्रा का शुभारंभ 'अभिनव आध्यात्मिकता' की इस परिकल्पना से हुआ। उस परिकल्पना के सहारे मैं जैन दर्शन तक पहुंचा। मैंने अनुभव किया इक्कीसवीं सदी की आध्यात्मिक खोज का समाधान जैन दर्शन से ही संभव है। जैन दर्शन में वास्तविक विश्व के अनुभव पर आधारीत सम्यक् दर्शन का आत्मा पर आधारित आध्यात्मिकता के साथ सुंदर समन्वय है। साथ ही तर्कसंगत कार्य-कारण सिद्धान्त पर आधारित कर्म सिद्धांत के साथ व्यक्ति की आचरण संहिता का समावेश है। ऐसी आचरण संहिता जो मनुष्य के अलावा समस्त जीवों का आदर करती है और मनुष्य का आचरण पूरी तरह बदलकर उसे स्थायी शांति देती है।

'जैन धर्म और अभिनव अध्यात्म' यह बताने का प्रयास है कि किस प्रकार जैन दर्शन ने तर्कबुद्धि में विश्वास को दृढ़ किया है और यह भी बताया है कि अभिनव आध्यात्मिकता की खोज में पुरानी परंपरागत अवधारणाएं किस प्रकार चरितार्थ की जा सकती हैं। इस पुस्तक में भारी-भरकम तात्त्विक और दार्शनिक चर्चा की अपेक्षा आध्यात्मिकता की खोज में मेरी अपनी यात्रा एक कहानी के रूप में प्रस्तुत है। आशा है मेरी प्रस्तुति केवल विद्वानों के लिए ही नहीं, बल्कि आज के तर्कबुद्धि प्रधान युग के अनुरूप अध्यात्म विषय में दिलचस्पी रखने वाले विद्यालयों, महाविद्यालयों के विद्यार्थियों के लिए भी उपयोगी होगी।

प्रथम अध्याय का आरंभ होता है, मेरी अपनी आध्यात्मिक जिज्ञासा से और बीसवीं सदी में हो रहे अन्याय और हिंसा के प्रति गंभीर चिंता से। इन्हीं दोनों कारणों से मैं जैन साहित्य की ओर उन्मुख हुआ। जैन ग्रंथों में तर्कबुद्धिपूर्ण विवेचन से मैं उसकी समृद्ध साहित्यिक परंपरा की ओर खिंचता गया। मेरी अध्यात्म की यात्रा बहुत विस्मयकारक, खोजपूर्ण एवं उत्साह से भर देने वाली यात्रा थी, जिसमें कई बार मुझे अद्‌भुत आंतरिक शांति का अनुभव हुआ। इन्हीं अनुभवों को मैंने अपने पाठकों के साथ बांटने की कोशिश की है।

शेष अध्याय पांच खंडों में विभक्त है। प्रथम तीन खंडों में जैन जीवन शैली, जैन विश्व दर्शन और जैन ज्ञान मीमांसा का समावेश है। (क्रमशः सम्यक् चरित्र, सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान)।

खंड एक - (अध्याय दो से पांच) में जैन आचरण संहिता के मूल सिद्धांत, सिद्धांतों के अनुसार आचरण के लिए मार्ग, चरित्र की सर्वोत्कृष्टता पाने के लिए परिश्रम और अंत में प्रयत्नों के पुरस्कार का वर्णन है।

खंड दो - (अध्याय छः से नौ) में जैन जीवन शैली का मार्ग दिखाने वाले सम्यक् दर्शन और दर्शनशास्त्र का विवेचन है। जैन जीवनदर्शन तर्कबुद्धि एवं ज्ञान पर आधारित है। जैन दार्शनिकों ने सम्यक् ज्ञान के सिद्धांतों के विषय में, उसकी प्राप्ति के साधनों के विषय में बहुत विस्तारपूर्वक लिखा है।

खंड तीन - (अध्याय दस, ग्यारह) में विद्वान जैन साधुओं के ज्ञान विषय पर विस्तृत साहित्य की संक्षिप्त रूपरेखा और उनके द्वारा सम्यक् ज्ञान पर की गई चर्चा का विवरण है।

उक्त तीन खंडों में जैन सिद्धांत और साधना पद्धति पर विहंगम दृष्टि है, जिसमें समकालीन वैश्विक समस्याओं को हल करने के लिए सम्यक् ज्ञान के औचित्य की पृष्ठभूमि तैयार होती है। हिंसा, युद्ध, गरीबी, वैश्वीकरण, कट्टरता जैसी सामयिक समस्याओं को हल करने में प्रयत्नशील हर व्यक्ति चाहे वह जैन हो या न हो, जैन सिद्धांत और साधना पद्धति पर डाली गई विहंगम दृष्टि से लाभान्वित अवश्य होगा।

खंड चार - (अध्याय बारह से सत्रह) में इक्कीसवीं सदी की मानसिकता के परिप्रेक्ष्य में जैन सिद्धांत एवं उनकी अनुशीलन प्रक्रिया पर चिंतन है। इस विभाग में अभिनव आध्यात्मिकता, अहिंसा, शांति, शाकाहार और विज्ञान जैसे विषयों पर चर्चा है। मैं मानता हूं, जैन पाठकों के लिए इन विषयों पर मेरा चिंतन शायद अपरंपरागत, अतः विवादास्पद हो सकता है, किंतु वह विशुद्ध रूप से जैन भावनानुसार अनेकांतवाद और अहिंसा के सिद्धांतों के अनुरूप ही है। इसमें मेरा उद्देश्य केवल पाठकों को सोचने के लिए प्रेरित करना और क्रियान्वयन के लिए बढ़ावा देना मात्र ही है। यदि मेरी टिप्पणी से पाठक आहत हों तो उसके लिए ठेठ परंपरागत जैन शैली में 'मिच्छामि दुक्कड़म' कहते हुए, मैं क्षमा चाहूंगा।

खंड पांच - (अध्याय अठारह से बीस) में जैन धर्म और जैन धार्मिक साहित्य का इतिहास दिया गया है। प्राचीन भारतीय काल का लिखित विवरण बहुत कम है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है। प्राचीन सभ्यताओं में भारत का अधिकांश विविध एवं समृद्ध साहित्य, इतिहास मौखिक रूप में रक्षित रहा है। जैन धर्म का इतिहास भी उसी प्रकार जैन लोक कथाओं एवं प्रचलित पाठ्य ग्रंथों में, प्राचीन बौद्ध और हिंदू साहित्य में दिए गए संदर्भों में एवं उन्नीसवीं, बीसवीं सदी के पाश्चात्य लेखकों की रचनाओं में विद्यमान है। ऐसे विस्तृत किंतु अपर्याप्त स्रोतों से प्राप्त सामग्री के निष्कर्ष, अपूर्ण जानकारी और ग़लत अर्थ लगाने के कारण काफी भ्रान्त हो सकते हैं। सौभाग्य से हाल ही में पाश्चात्य वैज्ञानिकों द्वारा उत्तर-पश्चिम भारत, पाकिस्तान और अफगानिस्तान में किया गया पुरातत्त्व संबंधी अनुसंधान प्राचीन जैन इतिहास का एक पूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है। इस खंड में मैंने प्रायः समकालीन शोध कार्य से सामग्री प्राप्त की है। वर्तमान शोध कार्य से प्राप्त अधिकांश जानकारी अनेक इतिहास ग्रंथों की जानकारी को असत्य बताती है। नए शोध कार्यों ने जैन परंपरा और लोककथा साहित्य की आंशिक पुष्टि की है, लेकिन जैनों कि अन्य मान्यताओं का विरोध भी किया है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं लिया जाए कि प्राचीन जैन इतिहास को नकारने का मेरा प्रयास है, बल्कि जैन इतिहास के संशोधन और वास्तविक अनुसंधान के लिए सक्रिय प्रयास को प्रोत्साहित करना है।

फरवरी 2002

वस्तुपाल परीख
टोरांटो, कॅनाडा

1

1. परिचय : मेरी अपनी यात्रा

मेरी जिज्ञासापूर्ण आध्यात्मिक यात्रा पैंतीस साल पहले कॅनाडा में शुरू हुई। उन दिनों मैं कॅनाडा के एक विश्वविद्यालय में रसायन विज्ञान पढ़ाता था। एक दिन मेरे ही विश्वविद्यालय के धार्मिक अध्यापन विभाग की प्राध्यापिका ने उनकी कक्षा में विद्यार्थियों को जैन धर्म विषय पर संबोधित करने के लिए मुझसे कहा। उन्होंने सुन रखा था कि मैं जैन हूं। वे यह भी जानती थीं कि मैं शाकाहारी हूं और पेड़-पौधों एवं अन्य प्राणियों की रक्षा के प्रति अति संवेदनशील हूं। अपने पर्यावरण के लिए मेरा रवैया कुछ अधिक ही संवेदनापूर्ण रहता है।

वैसे सन् 1960 के उत्तरी अमेरिका में प्रचलित चलन के अनुसार मेरा यह व्यवहार अनोखा माना जाता था। मगर जहां तक मेरा सवाल है, मेरा व्यवहार मेरा सहज स्वभाव था, क्योंकि मेरी परवरिश ही ऐसी हुई थी।

जैन धर्म पर व्याख्यान देने का निमंत्रण मेरे लिए स्वयं अपनी ही जीवन शैली के दार्शनिक एवं नैतिक आधार को खोज निकालने का अवसर बना। तब तक जैन धर्म के संबंध में मैंने कुछ भी नहीं पढ़ा था। जिन धार्मिक और नैतिक सिद्धांतों ने मुझे, मेरे व्यक्तित्व को गढ़ा, उनके बारे में मेरी जानकारी बहुत कम थी। वास्तव में मेरी विज्ञान पर आधारित शिक्षा के कारण मैं किसी भी धर्म के बारे में संशयवादी था और इसलिए किसी भी धर्म के प्रति मैं आस्थावान नहीं था। अत: एक वैज्ञानिक की जिज्ञासा, संशयवाद और विश्लेषणात्मक दृष्टि के संदर्भ में मैंने जैन धर्म पर पहला ग्रंथ[5] पढ़ना शुरू किया और मैं आश्चर्यचकित रह गया। मुझ जैसे तर्क एवं विश्लेषणात्मक बुद्धिवादी वैज्ञानिक के लिए वह ग्रंथ मानो एक महोत्सव का भव्य आयोजन था।

वह पुस्तक दूसरी सदी में लिखित 'जैन सिद्धांत और साधना' पर ग्यारहवीं सदी में लिखी गई टीका थी। उसमें किसी प्रकार के अंधविश्वास की कोई बात न थी, न भक्तिभाव के बदले करुणा के वरदान का

5. द्रव्य संग्रह : नेमीचंद्र सिद्धांतदेव, 11वीं सदी/अंग्रेजी अनुवाद- एस.सी. घोषाल (1917), दिल्ली जैन समाज द्वारा पुनर्प्रकाशित, 1950, नई दिल्ली, भारत.

आश्वासन था और न ही नास्तिक को दंड का भय दिखाया गया था और न ही उसमें किसी एक 'अंतिम सत्य' की पैरवी थी। बल्कि उसमें तो सावधान किया गया था कि किसी भी धार्मिक आदेश को ज्यों का त्यों स्वीकार मत करो। मनुष्य की सोच को, उसके सत्य को हम केवल आंशिक और सापेक्ष सत्य मानें (संपूर्ण सत्य नहीं) चाहे उसमें हृदय को छू लेने वाली कितनी ही भावसंकुल अपील क्यों न हो। उस ग्रंथ में स्पष्ट घोषणा की गई थी कि निरपेक्ष सत्य मानव की समझ से परे है। इसलिए तर्कबुद्धि संपन्न बुद्धिजीवी मनुष्य से ज़ोरदार अपील की गई थी कि वह उन्हीं विचारों को ग्रहण करे जो पाठक की श्रेष्ठ समीक्षात्मक सोच को स्वीकार्य हों। मेरे लिए तो जैसे यह एक आधुनिक वैज्ञानिक सोच का दो हज़ार वर्ष पहले किया गया समर्थन था। इससे मेरे व्यवहार और जीवनशैली को जैसे एक स्पष्टीकरण का आधार मिल गया। दूसरी सदी में लिखी गई इस पुस्तक में सम्यक् दर्शन का कितना सुंदर, तार्किक, बौद्धिक और वैज्ञानिक अभिगम दिया गया था!

इस पुस्तक को पढ़ने के बाद जो पहली बात मैंने जानी वह यह थी कि अन्य महान धर्मों की तरह जैन धर्म में भी आत्मा की मुक्ति की बात कही गई है। हज़ारों वर्ष पहले, प्रथम तीर्थंकर (आध्यात्मिक गुरु) रिखवदेव (बाद में ऋषभदेव) ने मुक्ति का मार्ग दिखाया। रिखवदेव के अनुसार हर जीवित प्राणी दुख भोगता है, पीड़ा सहता है। जब जीवात्मा देह छोड़ती है, तब मृत देह को कोई दुख नहीं होता, अर्थात् सुख-दुख, पीड़ा-आनंद का अनुभव देह में स्थित जीव (जिसे आत्मा कहा जाता है) करता है। रिखवदेव ने यह भी सिखाया कि जीव भौतिक शरीर में बंद है, क़ैद है और यह बंधन ही समस्त वेदनाओं, पीड़ाओं, दुखों का कारण है। बद्ध जीव अपने कर्मों के कारण बारंबार जन्म-मृत्यु के चक्र में फंसकर और भी कठोर बंध में जकड़ता जाता है। लेकिन प्रत्येक जीव में जन्म-मृत्यु के बंधन से मुक्त होने की (मोक्ष प्राप्ति की) पूरी संभावना होती है। मोक्ष की स्थिति में जीव त्रिकालदर्शी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, परम आनंद की स्थिति को प्राप्त कर शाश्वत आनंद का अनुभव करता है। रिखवदेव ने ही सिखाया था कि अपने आप पर अर्थात् अपनी भावनाओं पर, वासनाओं, इच्छाओं पर, दुर्बलताओं पर पूर्ण विजय पाने से जीव मोक्ष की स्थिति तक पहुंच सकता है। अपने आप पर विजय संभव है; जैन विश्वास करते हैं कि आत्म अनुशासन, ध्यान-धारणा, जिज्ञासा एवं आत्म संयम से रिखवदेव ने मोक्ष प्राप्त किया था। वे उन्हें प्रथम जिन (जो इंद्रियों को जीत लेता है) मानते हैं। रिखवदेव की शिक्षा है- प्रत्येक जीव का परम लक्ष्य है- मोक्ष! मनुष्य को उस लक्ष्य तक पहुंचने का प्रयत्न करना चाहिए।

जैनों ने ऋषभदेव की शिक्षा को भली-भांति ग्रहण किया और आज तक उनकी आचरण संहिता का अनुगमन करते हैं। दो हजार साल पुरानी उस पुस्तक में स्पष्ट किया गया है कि जैन आचरण संहिता कुछ सिद्धांतों द्वारा प्रतिपादित है। आरंभ में जैन तीर्थंकरों को वंदन है, जिन्होंने बताया कि विश्व में या तो जीव हैं या फिर अजीव। जीव अर्थात् आत्मा ही परम आनंद, ऊर्जा और असीम चेतना धारण करती है। अजीव से तात्पर्य वे सब जो अचेतन हैं, जीवित नहीं हैं। वस्तुतः अजीव, पांच अचेतन तत्त्वों के समूह की संज्ञा है। ये पांच तत्त्व हैं - पुद्गल, आकाश, काल, धर्म और अधर्म। इस प्रकार जीव सहित कुल छः मूलभूत तत्त्व

हैं। जैन परिभाषा में इन्हें द्रव्य कहा जाता है। सभी जीवित चेतन प्राणियों में जीव है, आत्मा है, जो भौतिक शरीर (अजीव) में क़ैद है। यह बंधन जीव-अजीव की परस्पर क्रिया के परिणाम-स्वरूप है। दोनों ही नित्य हैं, अनंत हैं और इसीलिए न तो उत्पन्न किए जा सकते हैं और न ही नष्ट! मगर परस्पर क्रिया (interaction) द्वारा उनका रूप- पर्याय बदलता रहता है। विश्व के स्वरूप को समझने की यही दृष्टि समस्त जैन दर्शन की नींव है।

उस ग्रंथ में प्रयुक्त शब्द पुद्गल, ऊर्जा, काल, आकाश, धर्म-अधर्म की परस्पर क्रिया की चर्चा से लगता है कि यह पुस्तक दूसरी सदी में लिखित नहीं, बल्कि बीसवीं सदी का वैज्ञानिक शास्त्रार्थ है। इसके अलावा विश्वव्यापी मूलभूत तत्त्वों में परस्पर क्रिया के लिए कारण स्वरूप सिद्धांतों की भी चर्चा है। जैसे कि कर्म सिद्धांत (कार्य-कारण सिद्धांत), विश्व संचालन के सिद्धांत हैं। जैनों के अनुसार विश्व की गति इन्हीं के कारण है। मैं यह पुस्तक बारंबार पढ़ता रहा। प्रत्येक बार पढ़ने के बाद पुस्तक की वैज्ञानिक अंतर्दृष्टि से मैं चकित रह गया।

पुस्तक में आगे चर्चा है जैन आचरण संहिता के मुख्य सिद्धांतों, जैसे अहिंसा (अन्य किसी जीव को न सताना अथवा समस्त जीवधारियों के लिए प्रेम), अनेकांतवाद (सत्य बहुकोणीय है) और अपरिग्रह (भौतिक साधनों का संग्रह सीमित करना), इनके सिवाय एक दार्शनिक सोच यह भी है कि जीवन किसी भी आकार या आकृति में हो, उसमें जीव वही है, चाहे वह मनुष्य हो, चाहे पशु-पक्षी या पेड़-पौधे। आत्मा केवल शरीर ही धारण नहीं करती, वह शाश्वत है, चिर आनंदमयी है, त्रिकालदर्शी है, सर्वशक्तिमान है। चूंकि समस्त जीव देह में बंद हैं, प्रत्येक जीवन, चाहे मनुष्य का हो, चाहे पेड़-पौधों का या फिर अन्य प्राणी का, वह सुरक्षा, आदर, सम्मान का अधिकारी है। जैनों की आत्मा संबंधी यह धारणा जीवन की स्वायत्तता (autonomy) को सुदृढ़ बनाती है, इसीलिए अहिंसा जैन दर्शन का केन्द्रीय आधार है। यहीं मुझे अपने शाकाहारी होने का कारण स्पष्ट हो गया।

अहिंसा के अलावा, पुस्तक में खोज, अन्वेषण और वैराग्य साधना की चर्चा है। जैनों का अनेकांतवाद सिद्धांत, जिज्ञासा, खोज और जांच-परख को प्रोत्साहित करता है। शायद इसी अन्वेषण और जिज्ञासा की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर मेरे अंतरमन में वैज्ञानिक बनने की इच्छा गूंजने लगी होगी। दूसरी सदी में लिखित ग्रंथ का यह संदेश केवल समकालीन ही नहीं, बल्कि आधुनिक युग से भी आगे का-आधुनिकोत्तर संदेश है। पुस्तक में लिखा है, अनेकांतवाद सिद्धांत के अनुसार मानव का समस्त प्रकार का ज्ञान (त्रिकाल ज्ञान के अलावा) सापेक्ष है, सत्य का एक अंश मात्र है। अर्थात् आंशिक सत्य है, पूर्ण सत्य नहीं। इस सिद्धांत के अनुसार केवल त्रिकालदर्शी (केवलज्ञानी) मुक्त आत्माएं ही पूर्ण सत्य जान सकती हैं। देह के बंधन में बंधे शेष हम सब, केवल अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रभावित होकर पूर्ण सत्य का एक अंश मात्र (सापेक्ष सत्य) ही जानते हैं।

अनेकांतवाद का सिद्धांत यह प्रतिपादित नहीं करता कि कोई विचार, कोई मत, वैध मानकर यूंही स्वीकार कर लिया जाए या फिर अन्य विचारधाराओं को बिना जांच-पड़ताल, खोज किए ही नकार दिया जाए। बल्कि अनेकांतवाद हमें धैर्य और आदर के साथ अन्य पक्ष को समझने के लिए प्रेरित करता है। अच्छी तरह से जांच-परख के बाद यदि दूसरे पक्ष की बात से असहमति है, तो उस स्थिति में असहमति क्यों है? क्यों विपक्ष स्वीकार्य नहीं है? यह दूसरे पक्ष को स्पष्ट समझाना होगा। स्पष्ट है, अनेकांतवाद व्यक्ति के विचार स्वातंत्र्य पर ज़ोर देता है। ज्ञान के लिए, विचार के लिए, समझ के लिए, सत्य के अनुसंधान के लिए और परस्पर विरोधी पक्षों में शांतिपूर्ण सामंजस्य के लिए अनेकांतवाद खोज को, जांच-परख को एक सशक्त साधन मानता है। यहां न केवल मुझ जैसे एक वैज्ञानिक मस्तिष्क को समझने का आधार मिला, बल्कि इससे भूमंडल को त्रस्त करने वाली गंभीर समस्याओं को शांति पूर्वक सुलझाने की आशा भी बंधती रही। कट्टर हठवादिता एवं अंध मताग्रह के विरोध में अनेकांतवाद एक प्रभावी साधन है। मेरे विचार में अपने मताग्रह के लिए हठधर्मिता कई मानव संघर्षों का मूल कारण है।

मेरी प्राध्यापिका मित्र के द्वारा जैन धर्म पर व्याख्यान देने के अनुरोध के बाद मैं अपनी व्यक्तिगत आध्यात्मिक खोज की यात्रा पर चल पड़ा। मेरी आध्यात्मिक खोज की यात्रा के कारण ही मुझमें समकालीन समस्याओं के प्रति जागृति उत्पन्न हुई। पर्यावरण प्रदूषण, वियतनाम का संघर्ष, युवा पीढ़ी का प्रचलित रूढ़ियों के विरोध में विद्रोह या ज़िंदगी की आपाधापी-भागमभाग, दौड़-धूप में से पलायन वृत्ति, इन जैसी स्थितियों के प्रति मुझमें एक जागरूकता पैदा हुई। इस यात्रा से मुझे एक सहायता यह भी मिली कि शांति, अहिंसा, वर्ण, जातिगत समानता और मानव प्रतिष्ठा को लेकर विश्व में एक नया आत्मीय भाव उत्पन्न हो रहा है। इस बात से मैं अवगत हुआ। राष्ट्रीयता, धर्म या मनगढ़ंत आदर्श, ध्येय के नाम पर अंधविश्वास की नैतिकता पर अब सवालिया निशान लग रहे थे, और यहां, इस दूसरी सदी की पुस्तक में मुझे तथाकथित आधुनिक समस्याओं पर भविष्यवक्ता की भविष्यवाणी सुनाई दे रही थी। उदाहरणार्थ अपरिग्रह का जैन सिद्धांत! इस सिद्धांत से मुझे जैनों की पर्यावरण संबंधी जागरूकता को समझने में सहायता मिली। इस सिद्धांत के अनुसार भौतिक वस्तुओं का अनावश्यक संग्रह नहीं करना चाहिए, पर्यावरण परिवेश के अंतर्गत सभी वस्तुओं से परस्पर निर्भरता रखते हुए सामंजस्य बनाए रखना चाहिए।

ईसा पूर्व छठी सदी में अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने कहा था -

"वह जो जानता है कि उसके लिए क्या बुरा है, वह जानता है कि दूसरों के लिए क्या बुरा है और वह जो जानता है कि दूसरों के लिए क्या बुरा है, वह जानता है कि उसके लिए क्या बुरा है। वह जिसका मन शांत है, जो वासनाओं से मुक्त है, दूसरों की क़ीमत पर जीना नहीं चाहता, वह जो भूमि, जल, वायु, अग्नि और पेड़-पौधों तथा पशुओं के प्रति पाप की प्रवृत्ति को समझता है, वह सच्चा साधु पुरुष है और कर्म का ज्ञाता है, क्योंकि ये सारे तत्त्व वास्तव में चेतन हैं, आत्मा की ऊर्जा से युक्त हैं और जो उन्हें हानि पहुंचाते हैं, वे अपनी आत्मा को मुक्त न करने वाले कर्मों से दृढ़तापूर्व बंधकर अपनी निज की हानि करते हैं।" [6]

6. आचारंग सूत्र, ईसा पूर्व छठी सदी में महावीर उद्धृत

सादा सरल जीवन अपनाकर व्यक्ति निरंतर दुखदायी इच्छाओं से, अधिक पाने की चाह से, लोभ से और इच्छा से अपने मन को मुक्त रखता है। इस तरह अपरिग्रह सिद्धांत के अनुसार मनुष्य पर्यावरण से अपनी भौतिक वस्तुओं की मांग को सीमित कर प्रकृति के साथ सामंजस्य बनाकर रह सकता है। सन् 1960 के उपभोक्तावादी दौर में प्रकृति के साथ सामंजस्यपूर्ण सादा जीवन और शाकाहार की बात कुछ अजीब लग सकती थी, मगर आज यही जीवनशैली पसंद की जा रही है। हालांकि जैन धर्म के बारे में लोगों को अभी भी बहुत कम जानकारी है, मगर पूरी दुनिया में बहुत से लोग अब जैन जीवन शैली के बारे में जाग्रत हो रहे हैं। पश्चिमी देश महसूस करते हैं कि जैन समाज के लोग समस्त चेतन जगत के लिए अहिंसा में विश्वास रखते हैं, पेड़-पौधों, प्राणियों की दशा के लिए विशेष संवेदनशील होते हैं, इसीलिए वे अब समझने लगे हैं कि जैन दर्शन, परस्पर सम्मान, सौहार्द्र और शांति का दर्शन है। अब पश्चिमी देशों के लिए जैन जीवनशैली विचित्र नहीं है।

दो हज़ार छः सौ वर्ष पहले भगवान महावीर ने घोषणा की थी कि रिखवदेव के अहिंसा, अनेकांतवाद और अपरिग्रह सिद्धांतों का पालन व्यक्ति की आत्मिक शांति का मार्ग है। जब से मेरी जैन धर्म की आध्यात्मिक यात्रा शुरू हुई तब से कुछ वर्षों में मैंने अनुभव किया कि जैन धर्म के सिद्धांत इतने प्रभावकारी और प्रासांगिक हैं कि वे आज विश्व शांति का मार्ग भी दिखा सकते हैं। भगवान महावीर के बाद आज दुनिया बहुत कुछ बदल गई है। संचार क्षेत्र में, उद्योग-व्यापार में, यात्रा में, निवेश प्रणाली में तकनीकी दृष्टि से इतने नए परिवर्तन हुए हैं कि पूरा विश्व ही एक 'वैश्विक ग्राम' (Global Village) का रूप ले रहा है। विश्व के नागरिकों में परस्पर निर्भरता के प्रति सजगता को महत्त्व दिया जा रहा है, लेकिन इसके साथ ही विनाशकारी युद्ध, आर्थिक शोषण और दूषित पर्यावरण आदि, इसी इक्कीसवीं सदी में हमारी पृथ्वी को नष्ट करने के लिए गंभीर संकट बन रहे हैं। इस संकट को टालने के लिए आज हमारी मानसिकता में मूलभूत परिवर्तन ज़रूरी है। मुझे विश्वास है कि जैन धर्म के सिद्धांतों का पालन हमारी मानसिकता में परिवर्तन ला सकता है। समस्याओं का उचित समाधान कर सकता है। ऐसे समाधान में ही भविष्य की आशा है। इस आशा ने मुझे सक्रिय बनाया है।

मेरी सक्रियता धर्म परिवर्तन कराने के लिए नहीं है। जैन धर्म के मूल्यों का प्रसार करने के लिए है। वे मूल्य जिनके सहारे जैन कई सहस्राब्दियों से जी रहे हैं। अब सही वक्त आ गया है कि दुनिया इन मूल्यों को अच्छी तरह से समझ ले। बीसवीं सदी में विश्वयुद्धों के कारण भीषण नरसंहार, विध्वंस और लोभ-लालच ने मानवता को, समस्त भूमंडल को अपूरणीय क्षति पहुंचाई है। लेकिन विश्व में अब चारों ओर एक नई आध्यात्मिकता का उदय हो रहा है। इस नई आध्यात्मिकता की परिभाषा है- मानवता और पर्यावरण के प्रति जागरूकता। जैन मूल्यों की परिभाषा भी यही है।

अभिनव आध्यात्मिकता के प्रसार के लिए जैन मूल्यों से बढ़कर और दूसरा कोई उत्कृष्ट साधन नहीं है। अब आवश्यकता इस बात की है कि जैनी अन्य धर्मावलंबियों के साथ मिलकर चर्चा करें, बात करें और विश्व

की समस्याओं का समाधान करने के लिए जैन मूल्यों का उपयोग करें। तभी जैन समाज के लोग अपने सिद्धांतों का सच्चे अर्थों में पालन कर सकेंगे। विश्व की सहायता कर सकेंगे और इस हजारों वर्ष प्राचीन धर्म का खोया हुआ गौरव पुनः प्राप्त कर सकेंगे। जैन समाज दूसरों के धर्म परिवर्तन करके जैन बनने के लिए सक्रिय प्रयास न भी करे तो भी उन्हें इतना विश्वास ज़रूर है कि एक दिन सारा विश्व जैन मूल्यों को मानवीय मूल्यों के आधार स्तंभ के रूप में अवश्य ही स्वीकार करेगा। जैन मूल्यों की यही स्वीकृति विश्व को शांति, सद्भावनापूर्ण इक्कीसवीं सदी का विश्वास दिलाएगी, इसमें संदेह नहीं।

प्रथम खंड : तर्कबद्ध चरित्र (सम्यक् चरित्र)

खंड 1 : पूर्वावलोकन

कुछ धर्मों में ईश्वर के द्वारा मुक्ति की खोज की जाती है, मगर जैन मार्ग मोक्ष के लिए सम्यक् आचरण द्वारा आत्मा की शुद्धि पर निर्भर करता है। सम्यक् आचरण की कुंजी के तीन मूल तत्त्व हैं। समस्त प्राणी मात्र के लिए प्रेम, समस्त विचारधाराओं, मतों के लिए समादर और अपनी आवश्यकताओं को, संग्रह को न्यूनतम करना। इसके लिए आत्म नियंत्रण और अनुशासन आवश्यक है, क्योंकि हमारी भावनाओं की, मन की प्रवृत्ति उक्त तीन तत्त्वों के विपरीत है।

जैन आचार्यों ने एक आचार संहिता बनाई और आत्म नियंत्रण पाने के लिए एक मार्ग निर्धारित किया। उनकी राय में यह मार्ग हमें पूर्ण आत्म नियंत्रण की ओर ले जाएगा परंतु इस मार्ग पर हमारी प्रगति कदम-दर-कदम होती है। उसके लिए 'लक्ष्य केन्द्रित' जीवन शैली और दैनिक अभ्यास अनिवार्य है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक व्यक्ति को अपना लक्ष्य स्वयं खोजना होगा, उसे समझना होगा, उसका अध्ययन करना होगा, एक सम्यक् आचरण को चुनना होगा ताकि नित्य अनुशासित अभ्यास से जीवन का 'लक्ष्य' पाने में सहायता मिले। खंड एक में बताया गया है कि सम्यक् जीवन शैली या सम्यक् चरित्र से लक्ष्य कैसे पाया जा सकता है।

लक्ष्य खोजना अर्थात् लक्ष्य के प्रति जाग्रत होना, उसके सम्यकत्व को पहचानना। अध्याय दो में इन दो मुद्दों की चर्चा है। एक बार लक्ष्य स्थिर हो जाए तो उस ओर प्रगति, संकल्प पर निर्भर करती है। जैन आचार्य कहते हैं कि प्रण अथवा व्रत लेकर अपने लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित रख सकते हैं। व्रतों के दैनिक अभ्यास से केवल आत्मसंयम ही प्राप्त नहीं होता, उसका भार भी कम महसूस होता है। अध्याय तीन में नई शुरुआत करने वालों के लिए मोक्ष मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए कुछ व्रत दिए गए हैं। अध्याय चार, मोक्ष मार्ग को स्पष्ट करता है। उसमें स्पष्ट किया गया है कि लक्ष्य प्राप्त करने से पहले साधक को साधना के कई सोपान चढ़ने पड़ते हैं, कई पड़ावों से गुज़रना पड़ता है। जैन मार्ग शुद्ध, पवित्र, तपस्वी जीवनशैली की अनुशंसा करता है। लेकिन अंतिम लक्ष्य को देखते हुए कठोर साधना, सार्थक भी है। अध्याय पांच में हम जैन जीवनशैली के व्यावहारिक लाभ देखेंगे। हर कोई न तो तापस जीवन की चाह करेगा और न ही उसके लिए सक्षम होगा। मगर कम कठोरता पूर्वक, मोक्ष मार्ग का अनुगमन करने से मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य लाभ अवश्य होगा। इसलिए प्रयत्न करने का इतना लाभ भी काफी है। एक और बात, पृथ्वी का अस्तित्व ही संभवत: इस पर निर्भर होगा कि विश्व कितनी गंभीरता से इन सिद्धांतों को स्वीकार कर अपनाता है। मेरा इतना ही निवेदन है कि कम से कम इस कारण से ही विश्व को 'सम्यक् चरित्र' समझना और अंगीकार करना चाहिए।

2. जागृति

मैंने एक शांति सम्मेलन में अहिंसा विषय पर अपना व्याख्यान समाप्त किया ही था कि श्रोताओं में से एक युवक ने खड़े होकर मुझसे प्रश्न किया- ''कोई व्यक्ति जैन कैसे बन सकता है? क्या मुझे जैन बनने के लिए किसी जैन साधु के पास जाना होगा, धर्मान्तर करने? क्या मुझे नियमित रूप से रोज़ जैन मंदिर जाना होगा? क्या मुझे धार्मिक प्रवचन सभा में नियमित उपस्थित रहना होगा?''

तो सवाल था, कोई जैन कैसे बन सकता है? मैंने कभी इस सवाल पर सोचा ही नहीं था ! क्या मैं इसलिए जैन हूं कि मेरा जन्म जैन परिवार में हुआ है ? क्या मैं तब भी जैन ही रहूंगा, अगर मैं कभी जैन मंदिर न जाऊं? जैन धर्म के विषय में कभी अध्ययन न करूं? या कोई प्रवचन न सुनूं? तब भी क्या मैं जैन ही रहूंगा? अगर मैं शिकार करने लगूं या मछली पकड़ने लगूं, तो इसका क्या अर्थ होगा? यदि मैं मांसाहार करूं, तब भी क्या मैं जैन कहलाने का अधिकार रख सकता हूं? क्या जन्म मात्र के अधिकार से ही कोई किसी विशेष धर्म का हो सकता है?

''यहां उपस्थित सभी लोग शांति, अहिंसा चाहते हैं, क्या इसका मतलब यह होगा कि यहां आए हुए सभी लोग जैन हैं?'' -उसने फिर सवाल किया। ''सिर्फ चाहना काफी नहीं है, जीवन शैली, आचरण, व्यक्ति का ध्येय और उसे पाने का मार्ग, ये कुंजी हैं'' - मैंने जवाब दिया। असल में मैं उसे यही बताना चाहता था कि सम्यक् चरित्र अपनाकर ही कोई भी जैन बन सकता है। फिर चाहे वह किसी अन्य संस्कृति, धर्म या जैनेतर घर में जन्मा हो। मगर फिर भी केवल एक विशिष्ट जीवनशैली अपनाना ही काफी नहीं है। यदि जैन दर्शन में आपकी निष्ठा नहीं है, तो सम्यक् चरित्र को जैन दर्शन के अर्थ में जीवनशैली में ढालना कठिन है। जैन दर्शन और उसकी दार्शनिक व्यवस्था में आस्था होना आवश्यक है। तर्कसंगत ज्ञान (सम्यक् ज्ञान) एवं प्रज्ञा से ही दर्शन, सम्यक् और दृढ़निष्ठा के योग्य बन सकता है। अंततः धर्म एक अटूट निष्ठा है, और जैन धर्म तर्कबुद्धि युक्त जांच-परख पर आधारित निष्ठा पर बल देता है।

समाज समीक्षकों के अनुसार आज आधुनिक शिक्षा प्रणाली ने धर्म पर कट्टर विश्वास, धर्मान्धता का वह दृढ़ बंधन शिथिल कर दिया है, जिससे व्यक्ति एक ही धर्मनिष्ठा से बंधा रहता था। आज का नया युग हमें

विचार पूर्वक, ज्ञान पूर्वक अपनी निष्ठा (faith) और अपना धर्म स्वीकारने की स्वतंत्रता देता है। जैन धर्म का भी यही संदेश है। जैन धर्म के मूल तत्त्व हैं-समस्त जीवों के लिए प्रेम, सभी वैचारिक धाराओं, मतों का समादर, अपनी आवश्यकताएं, संग्रह कम करना। यदि ये तत्त्व हमारे जीवन मूल्यों के अंतर्गत हैं, तो हम अनायास ही जैन जीवनशैली को अपना सकते हैं, जैन सम्यक् दर्शन समझ सकते हैं, उसमें समीक्षात्मक एवं सम्यक् अध्ययन और प्रज्ञा से अपनी निष्ठा दृढ़ करने की स्वतंत्रता रख सकते हैं। इसके लिए किसी प्रकार की धार्मिक दीक्षा ज़रूरी नहीं और न ही ज़रूरी है जैन धार्मिक संघ का सदस्य होना। फिर भी जब जीवनशैली में, जीवन के लक्ष्य में परिवर्तन होता है, तब हमें सहारा देने वाली किसी विशेष व्यवस्था की ज़रूरत होती है। जैन पूजा स्थल, जैन मंदिर, जैन सम्मेलन, जैन विद्वान, साधु-मुनि हमें सहारा दे सकते हैं। नैतिक बल, प्रेरणा दे सकते हैं। हमारी धर्म निष्ठा को दृढ़ बनाने के लिए समझ और ज्ञान दे सकते हैं। लेकिन यह सब किया ही जाए, ऐसी कोई बाध्यता नहीं है फिर भी उक्त स्थानों पर जाते रहने से, वहां लोगों से संपर्क करने, चर्चा करने से, हममें समाज से जुड़ने की, समाज का अंग होने की भावना उत्पन्न होती है। हमें अपनी साधना को आगे बढ़ाने का संबल मिलता है। धर्म में औपचारिक रूप से प्रवेश की बात तो तब आती है जब हम जैन साधु या साध्वी बनना चाहते हैं। तब हमारा औपचारिक स्वागत समारोह होगा। जैन धर्म स्वीकारने के लिए नहीं, बल्कि साधना, तपस्या का जो रास्ता हमने चुना है, उसके लिए साधु जीवन में विधिवत प्रवेश करने के लिए आयोजित समारोह में हमारा स्वागत होगा।

जैन होने के लिए न तो जैन परिवार में जन्म लेना आवश्यक है और न ही किसी जैन धर्म गुरु से दीक्षा लेना, जब तक कि आप विधिवत साधु या साध्वी न बनना चाहें। कोई भी व्यक्ति अगर सम्यक् दृष्टि से जाग्रत है और लक्ष्य पूर्ति के लिए निश्चित मार्ग का अनुसरण करना चाहता है, तो वह जैन है। मगर वह लक्ष्य क्या हो सकता है? लक्ष्य को पाने के लिए किस मार्ग पर चलना होगा? लक्ष्य केवल इतना है- 'शाश्वत आनंद' की स्थिति प्राप्त करना। लेकिन यह परम सुख या परमानंद क्या है?

खुशी या सुख

यही सवाल हाईस्कूल के नौजवान छात्रों ने मुझसे किया था, हालांकि संदर्भ भिन्न था। मैंने पूछा- किस चीज़ से आपको सबसे अधिक सुख या खुशी मिलेगी? तुरंत जो उत्तर मिले वे इस प्रकार थे-

सत्ता	*अच्छी नौकरी*	*लाखों डॉलर*
यौन सुख	*अच्छा स्वास्थ्य*	*मादक द्रव्यों का नशा*
मोटर गाडी	*बड़ा मकान*	*प्रसिद्धि, नाम*

मैंने फिर सवाल किया- अमेरिका के राष्ट्रपति सर्वोच्च सत्ताधारी हैं, क्या वे सबसे अधिक सुखी व्यक्ति हैं? अरबपति क्या सबसे अधिक सुखी होते हैं? जब मादक द्रव्यों का नशा उतरता है, तब क्या हालत होती है? कितनी देर तक आनंद रहता है?

मेरे विचार से उन्हें मेरा मुद्दा समझ में आ गया। वे जान गए कि शाश्वत आनंद, अस्थायी सुख सामग्री से परे, बहुत परे है। बाहरी वस्तुएं हमें स्थायी आनंद नहीं देतीं। उनकी समझ में आ गया कि प्रसन्नता, आनंद, सुख का भोक्ता शरीर नहीं किंतु इसके भीतर बसा हुआ एक तत्व है। कोई उसे आत्मा कहता है, कोई चेतन तत्त्व, कोई जीवन शक्ति तो अन्य कोई आत्मन्। जैन उसे 'जीव' कहते हैं। प्रत्येक में आत्मा या जीव है, इस बोध से, समझ से शायद उन छात्रों में 'जागृति' उत्पन्न हो रही थी।

जैनों का विश्वास है कि हम भले ही थोड़ी देर खुशी, प्रसन्नता महसूस कर लें, लेकिन जब तक जीव 'आत्मा' देह की कारा में बंदी है, तब तक शाश्वत आनंद की प्राप्ति असंभव है। तो फिर क्या मृत्यु आत्मा को बंधन से मुक्त करती है? जैन ऐसा नहीं मानते। उनका विश्वास है कि मृत्यु के कारण 'जीव' केवल दूसरे शरीर में प्रवेश कर पुनर्जन्म लेता है। जीव* फिर भी देह बंधन में बंधा ही रहता है। भविष्य में भी जन्म-मृत्यु के चक्र में फंसा रहता है तब तक, जब तक कि उसकी मुक्ति नहीं होती।** अखंड आनंद आत्मा की मूल प्रकृति है। उसे पाने के लिए प्रत्येक जन्म में प्रत्येक जीव मोक्ष की कामना करता है। जब तक मोक्ष नहीं तब तक संसार (जन्म-मृत्यु चक्र) दुखपूर्ण यातना की स्थिति है। जैनों की मान्यता है कि मोक्ष, मनुष्य जीवन का अंतिम लक्ष्य होना चाहिए, जैन विश्वास के अनुसार मोक्ष ही जीवन का अंतिम लक्ष्य है और उसे पाने के लिए आत्म शुद्धि का जैन मार्ग एक प्रभावी उपाय है। आत्म शुद्धि से मोक्ष प्राप्ति संभव है।

जागृति से पहले

मोक्ष के लिए जैन मार्ग में आध्यात्मिक प्रगति के चौदह पड़ाव हैं, जिन्हें गुणस्थान कहा जाता है। (पृष्ठ 19) जैन विश्वास के अनुसार चौथे गुणस्थान में 'जागृति' की स्थिति बनती है। पहला गुणस्थान भ्रम, मोह, मिथ्या धारणा, असत्य धारणा और निरुद्देश्य भटकाव है। दुःख से छुटकारा पाने का भी एक मार्ग है- इस बात से हम अनजान होते हैं। इसलिए हम बंध में बंधे रहते हैं। इस 'मिथ्यात्व' स्थिति में सत्य के प्रति, वास्तविकता के प्रति हमारे मन में निश्चित रूप से वितृष्णा, अरुचि होती है। दुख या पीड़ा का कोई असली कारण हमें मालूम नहीं होता, यहां तक कि उस विषय में हम किसी की सलाह भी सुनने के लिए तैयार नहीं होते। जब यह स्थिति बदलती है तब सत्य के लिए हमारी अरुचि, उदासीनता में बदल जाती है। यथार्थ को जानने का अवसर मिलने के बाद भी हम अवसर से लाभ नहीं उठाते। आध्यात्मिक यात्रा की प्रगति का यह दूसरा गुणस्थान है जिसे 'सास्वादन' कहा जाता है।

---

* जीव के विषय में जैन धर्म में धारणा ठीक वही नहीं है जो पाश्चात्य या हिंदू धारणा में आत्मा की है। पाश्चात्य और हिंदू धर्मी मानते हैं कि आत्मा परमात्मा का केवल अंश मात्र है और मुक्ति के साथ आत्मा-परमात्मा में फिर से विलीन हो जाती है। जैन मानते है कि जीव पूर्णत्व के साथ उदित दैवी शक्ति का कोई अंश नहीं है। 'जीव' स्वयं में एक सत्ता है, उसकी अपनी विशिष्टिताएं, गुण हैं, स्वभाव है, जिनमें से चेतना और शाश्वत आनंद आदी गुण हैं। जीव असंख्य हैं। उनमें से प्रत्येक जीव मोक्ष होने तक देह में बंदी है। मुक्त अवस्था और बद्ध अवस्था (अमुक्त) दोनों अवस्थाओं में प्रत्येक जीव की विशिष्ट पहचान होती है। पाठकों की सुविधा के लिए हम आत्मा और जीव शब्द का प्रयोग परस्पर परिवर्तनीय अर्थ में करेंगे। छठे अध्याय में विस्तृत विवेचन पढ़ें।

** नवम् अध्याय में विस्तृत विवरण देखें।

तीसरे गुणस्थान में यथार्थ के संबंध में जानने की इच्छा फिर भी नहीं होती। मगर ऐसे कुछ भागते क्षण ज़रूर आते हैं, जब हम सत्य की प्रकृति को समझने के लिए जिज्ञासु होते हैं। ऐसे क्षणों में हमारा अंतर्ज्ञान (intuition) भ्रम और ग़लती के साथ मिल जाता है। मगर हम अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिए उत्सुक अवश्य होते हैं। ये है 'मिश्र' स्थान। अगर सत्य की खोज में हम अपनी जिज्ञासा और प्रयत्न को बांधे नहीं रखेंगे, तो शायद हम फिर से दूसरे गुणस्थान में लौट जाएं और 'जागृति' हम से छूट जाए। यह तीसरी स्थिति ठीक प्रात:काल होने से पहले, 'भोर' की स्थिति के समान है, जब उजाला होने को है, मगर उजाला हो रहा है यह देखने से पहले ही हम फिर नींद के अंधेरे में खो जाएं। ऐसा जागना, जागना नहीं है। जो इस अवस्था तक पहुंचते हैं, वे हो सकता है इस बात से भी इन्कार कर दें कि उन्होंने सत्य की एक झलक देखी थी और उस अनुभूति की ओर ले जाने वाली राह की एक झलक देखी थी। अपने जीवन को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने की बजाए इस अवस्था में लोग अपने भाग्य की डोर अपने हाथ में रखने की क्षमता पर संदेह करते हैं, इसीलिए संसार चक्र में पुनर्जन्म के फेर में पड़कर अंतहीन दुख भोगते हैं।

जागृति

चौथे गुणस्थान में वास्तविक जागरण होता है। क्यों और कैसे होता है, इसका उत्तर जैन धर्म में कर्म सिद्धान्त के पास है। (आगे इसका अध्ययन करेंगे) फिलहाल देखें कि चौथे गुणस्थान (अविरति) में पहुंचकर क्या होता है? क्या चौथे गुणस्थान में पहुंचकर हम अकस्मात् बदल जाते हैं? क्या हमारा आचरण एकाएक बदल जाता है? 'जागृति' व्यक्ति में परिवर्तन अवश्य लाती है, किंतु परिवर्तन शनै:-शनै: होता है और आरंभ में तो पूर्णत: आंतरिक होता है।

जैन धर्म के अनुसार मोक्ष मार्ग की यात्रा उसी क्षण आरंभ होती है, जिस क्षण हम जानते हैं कि जीवन का अंतिम लक्ष्य 'मोक्ष' है। तब हम मिथ्या दृष्टिभ्रम की गहराई से ऊपर उठते हैं और आध्यात्मिक प्रगति के चौथे गुणस्थान में होते हैं। चौथे गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक हमारे आध्यात्मिक जीवन की प्रगति एक साधारण व्यक्ति के लिए असाध्य नहीं लेकिन दुष्कर ज़रूर है। कारण, मानव की चेतना को असंयमी अर्थात् अविरति अवस्था से सर्वविरति अवस्था तक पहुंचना होता है। मानव मन की यह विकास यात्रा ग्यारह सीढ़ियों वाली नसैनी (प्रतिमा) पर चढ़ने के समान है (पृष्ठ 34)। इन सीढ़ियों से होते हुए हम साधु-साध्वी जीवन की ओर बढ़ते हैं। जब मानव का चेतना पक्ष मुक्त होकर प्रतिबद्धताओं से अलग होकर सत्याभिलाषी बनता है, तब उसे अवश्य ही धर्म तत्त्व की सही दृष्टि प्राप्त होती है। यह ऋतंभरा प्रज्ञा है। 'ऋत' अर्थात् सत्य को वहन करने वाली, 'प्र' अर्थात् प्रकृष्ट, उत्तम और 'ज्ञा' अर्थात् ज्ञानचेतना है। जैन इस अवस्था को 'जागृति' सम्यक् दृष्टि (Rational under-standing) कहते हैं।

स्मरणीय शब्द

चरित्र- आचरण, व्यवहार, जीवन शैली
दर्शन- अंतर्ज्ञान, विश्व दृष्टि
गुणस्थान- आध्यात्मिक प्रगति मार्ग का पड़ाव
ज्ञान- बोध
मिथ्या दृष्टि- भ्रम, मोह, असत्य
रत्नत्रय- तीन रत्न सिद्धांत त्रय
संसार- जन्म-मृत्यु चक्र
सम्यक् - तर्क संगत, सही, उचित सत्य

आध्यात्मिक प्रगति के चौदह पड़ाव (चौदह गुणस्थान)

	गुणस्थान	व्यवहार एवं मनोवैज्ञानिक विशेषताएं	स्तर
1.	**मिथ्यात्व**	निम्नतम अवस्था, अज्ञान, भ्रम, सम्यकत्व के प्रति नकारात्मक अभिवृत्ति	अज्ञान
2.	**सास्वादन**	सम्यकत्व के प्रति उदासीनता, आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि की अस्पष्ट धारणा	संभ्रम
3.	**मिश्र**	सम्यकत्व के प्रति जिज्ञासा के कुछ अस्थिर पल	मिश्रित
4.	**अविरति-सम्यकत्व**	सम्यकत्व से अवगत, सकारात्मक व्यवहार एवं विश्वास पूर्वक आत्मानुशासन की इच्छा **सम्यक् दृष्टि प्राप्ति** लेकिन आत्मसंयम नहीं	जागृति
5.	**देश विरति**	प्रारंभिक व्रत, ग्यारह पायदान की सीढी-प्रतिमा चढना शुरू, **सम्यक् दर्शन प्राप्ति**	अणुव्रत
6.	**प्रमत्त या सर्व विरति**	दीक्षा महाव्रत, संग्रह त्याग, वासना नियंत्रण का दृढ़संकल्प, पूर्ण नियंत्रण के अभाव में लापरवाही (प्रमत्त) के कारण व्रत भंग संभव	वैराग्य जीवन
7.	**अप्रमत्त विरति**	कठोर व्रत पालन से मन कषाय प्रमाद पर नियंत्रण (पूर्ण नियंत्रण नहीं)का संकल्प	आत्म नियंत्रण
8.	**अपूर्व करण**	पूर्ण आत्म नियंत्रण के समीप, कषाय प्रमाद पर लगभग नियंत्रण, चरित्र मोहनीय कर्मों का क्षय/उपशम शुरू	आत्म अनुशासन
9.	**अनिवृत्ति करण**	पूर्ण आत्म नियंत्रण, कषाय प्रमाद पर नियंत्रण, चरित्र मोहनीय कर्मों का प्राय: क्षय आरंभ	आत्म नियंत्रण
10.	**सूक्ष्य संपराय**	कषाय का (चार वासनाओं का) प्राय: नाश, जीवन मोह अल्प अंश में शेष, चरित्र मोहनीय कर्म का पूर्ण शमन	
11.	**उपशांत मोह**	दमित वासनाओं एवं मोहनीय (चरित्र) कर्म फिर से सिर उठाकर साधक को नीचे खींचकर ले जा सकते हैं (नवें या प्रथम स्थान पर भी) समचित्तता का अस्थिर अनुभव, **सम्यक् चरित्र प्राप्ति**	
12.	**क्षीण मोह**	प्रत्यावर्तन संभव नहीं, समस्त कषाय वासना नष्ट, शाश्वत आंतरिक आनंद प्राप्त, नया कर्म बंध नहीं	
13.	**सयोग केवलीन**	सब घातिया कर्मों का पूर्ण क्षय, ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय, **सर्वज्ञता प्राप्ति, केवलीन अर्हत स्थिति प्राप्ति** निर्दोष आत्मा, **सम्यक् ज्ञान प्राप्ति**, जीव फिर भी शरीर में बद्ध	अर्हत
14.	**अयोग केवलीन**	मोक्ष, शाश्वत आनंद, सिद्ध अवस्था प्राप्ति, विशुद्ध आत्मा शरीर योग समाप्ति, **वचन काया और मनोयोग का क्षय**	**मोक्ष**

'जागृति' अंतर्ज्ञान, अध्ययन, चिंतन-मनन से या जीवन की किसी एक मामूली आकस्मिक घटना के कारण भी हो सकती है। हम तब अपने दार्शनिक सवालों को समझने के लिए जिज्ञासु बनते हैं। जैसे कि 'मैं कौन हूं' 'जीवन क्या है'? 'क्या यह जगत् सत्य है?' 'क्या इसका कोई सृजनहार है?' जीवन का लक्ष्य क्या है? मैं सुखी या दुखी क्यों हूं? हमारी ऐसी जिज्ञासा और 'जागृति' में विश्वास, हमें मोक्ष मार्ग की ओर प्रेरित करता है।

'जागृति' इस अवस्था की पहचान है। हमें खुद अपनी पहचान होने लगती है। हम स्वीकारते हैं- 'मैं शरीर नहीं, बल्कि शरीर के अंदर स्थित आत्मा (जीव) हूं। आत्मा ही हमारी वास्तविक सत्ता है। वही हमारे अंतर में स्थित कई अन्य शाश्वत तत्त्वों से मिलकर परस्पर क्रिया करती है।' (हम इसका अध्ययन आगे करेंगे) हम समझने लगते हैं कि जीव और इस आंतरिक सत्ता के साथ क्रिया करने वाले अन्य द्रव्य शाश्वत, सर्वव्यापी और सार्वभौमिक हैं। वे विश्व संचालक नव तत्त्वों के अनुसार परस्पर क्रिया करते हैं (अध्याय 8 नवतत्त्व) । तब विश्व का रहस्य अकस्मात खुलने लगता है। हमारी समझ में आता है कि कुछ भी असम्यक् नहीं, कुछ भी रहस्य नहीं है। कोई रहस्यमयी दैवी शक्ति हमारे जीवन से नहीं खेल रही। हम और केवल हम अपने सुख-दुख के उत्तरदायी हैं। हमें स्वयं अपना भाग्य-विधाता बनना है। यह ज्ञान, यह विश्वास कि अपना भविष्य अच्छा बनाना 'अपनी ही क्षमता पर है' जागृति की सच्ची पहचान है।

हम अब अपनी जीव के प्रति, उसके वास्तविक स्वरूप के प्रति, उसके लक्ष्य-मोक्ष के प्रति सज्ञान होने लगते हैं। हमें ऐसे अन्य कारकों की सच्चाई की जानकारी होती है, जो जीव को प्रभावित करते हैं। उस पर प्रभाव डालते हैं। यह समझ हमारी दृष्टि को बदल देती है। जिससे पहले जहां शारीरिक सुखों पर ध्यान केन्द्रित होता था, वहीं अब जीव के सहज स्वाभाविक, पवित्र, शुद्ध गुणों पर केन्द्रित होता है। बाह्य भौतिक पदार्थों से ध्यान हटने से स्पष्ट है कि हमारी प्रवृत्ति में बदलाव आता है, अंतर आता है, जिसके कारण हमें ज्ञात होता है कि भौतिकवाद हमारे सुख का आधार नहीं है। भौतिक पदार्थों से विमुख होकर, मोहमुक्त होकर हम वासनाओं पर नियंत्रण शुरू करते हैं। हम मन की शांति अनुभव करते हैं। स्थिरता, धैर्य और असाधारण आंतरिक प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। शांति, स्थिरता का यह अनुभव एक और अद्भुत् प्रभाव डालता है, हमें समस्त जीवों के लिए (जो जन्म-मृत्यु के चक्र में फंसकर दुख भोगते हैं) अपार करुणा अनुभव होती है। हम किसी को भी किसी भी प्रकार पीड़ा नहीं देने का निश्चय करते हैं।

जागृति (अविरति) गुणस्थान में उक्त परिवर्तन आंतरिक रूप से धीरे-धीरे होते हैं। यह स्पष्ट समझ में आता है कि हम अपनी स्थिति पर पूर्ण नियंत्रण पा सकते हैं। अध्यात्म के सही रास्ते पर चलकर मोक्ष का 'सही मार्ग' खोजते हैं।

मोक्ष का सही मार्ग किसी को कैसे मालूम हो सकता है? कोई भी उत्तर लिखित या मौखिक, हमारा पूर्ण समाधान नहीं कर सकता। हमें स्वयं उस रास्ते पर चलकर अनुभव करना होगा। हमें बर्फ़ को स्पर्श करना होगा, शक्कर चखनी होगी, संगीत सुनना होगा, उनके गुणों को, विशिष्टताओं को जानने के लिए। किंतु अगर स्वयं इस मार्ग पर चल नही सकते तो जैसे अधिकारी व्यक्तियों द्वारा स्वानुभव के आधार पर कही बातों

को हम सामान्यत: मान लेते हैं। मीलों दूर रहते हुए भी हम समाचार सुनते हैं और उसे सच मानते हैं। हम चाहें तो घटना की सच्चाई या समाचारों की सच्चाई की जांच भी कर सकते हैं, परंतु अंतत: बिना किसी निजी अनुभव के, उस सत्य को हम स्वीकार करते हैं, क्योंकि वह ज्ञान और अनुभव प्रमाणित होता है। यही बात मोक्ष मार्ग के संबंध में भी है।

वर्षों तक ध्यान, प्रयोग, साधना के पश्चात तीर्थंकरों ने मोक्ष मार्ग खोज निकाला। 'केवलज्ञान' प्राप्त करने के बाद भी चौबीस तीर्थंकर हमारे बीच जीवित रहे ताकि वे बता सकें कि किस मार्ग पर चलकर मोक्ष तक पहुंचें और शाश्वत आनंद का अनुभव करें। उनके बाद हज़ारों ने उनके उदाहरण का अनुकरण किया, आध्यात्मिक प्रगति की और उस विषय में लिखा भी, केवलज्ञान प्राप्त किया। हज़ारों वर्ष पूर्व दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र में जैन साधुओं की जो उपलब्धियां रहीं उनकी तुलना बीसवीं सदी के विज्ञान के सिद्धांतों से की ही नहीं जा सकती।* मेरे विचार में उनकी सर्वज्ञता विवाद का विषय नहीं है, वह तो निर्विवाद है।

केवलज्ञानी तीर्थंकर मोक्ष प्राप्ति की कला और विज्ञान में निष्णात हैं। जैसा कि हम अन्य क्षेत्रों में करते हैं, यहां भी हम इन आध्यात्मिक विशेषज्ञों द्वारा बनाए गए मोक्ष मार्ग पर चलकर देखें कि क्या सचमुच वही शाश्वत आनंद मिलता है, जिसका विश्वास तीर्थंकरों ने दिलाया था। चौदहवें गुणस्थान तक पहुंचने में हो सकता है एक पूरी ज़िंदगी या उससे भी अधिक समय निकल जाए, मगर सच्ची लगन से उनके बताए मोक्ष मार्ग पर पांचवें और छठे गुणस्थान तक चलते हुए निश्चित ही कुछ सीमा तक शांति का अनुभव होगा। सच्चा जैन वह है जो मोक्ष मार्ग में विश्वास करता है, मोक्ष मार्ग का अनुसरण करता है, अपने मोक्ष के लिए प्रयत्न करता है और वह जो मोक्ष मार्ग में निष्ठा नहीं रखता, विश्वास नहीं करता, वह सच्चा जैन नहीं है, भले ही उसके माता-पिता जैन हों। व्यवहार की दृष्टि से अधिकांश जैन चाहे संपूर्णत: मोक्ष मार्ग के अनुयायी न हों, लेकिन जैन सम्यक् दर्शन में उनकी निष्ठा है। जैन आचरण संहिता के मूल सिद्धांतों का जो अपनी पूरी क्षमता से पालन करते हैं, वे सच्चे जैन हैं।

सम्यक् (तर्कबद्ध) दृष्टि

जागृति के पश्चात् सही मार्ग खोजने की चर्चा करते हुए हमने कहा था कि जैन मार्ग का अनुकरण करना सुरक्षित है, क्योंकि वह त्रिकालदर्शी 'केवलज्ञानी' द्वारा बताया गया मार्ग है। हमने यह भी सुझाया था कि चौथे गुणस्थान में जागृति की अवस्था आते ही सत्य को जानने की उमंग का नाम ऋतंभरा प्रज्ञा है। हमारा विश्वास दृढ़ होता है कि जीव और उसका मोक्ष ही सत्य है। हम यह स्वीकार करते हैं कि जीव और पांच अन्य मूलभूत द्रव्य, विश्व संचालक नौ तत्त्वों के अनुसार परस्पर क्रिया करते हैं। लेकिन मोक्ष मार्ग को सिर्फ इसलिए स्वीकार करना कि वह तीर्थंकरों द्वारा बताया गया मार्ग है-अंध निष्ठा कहलाएगी। सत्य के मार्ग पर हमारी निष्ठा अंधी नहीं होनी चाहिए। वह निष्ठा जिसका परिणाम आध्यात्मिक प्रगति में होता है, सकारात्मक निष्ठा है और जिसका परिणाम कट्टरता और हठधर्मिता हो, वह अंधी निष्ठा है। तीर्थंकरों ने हमें अंधविश्वास के प्रति सावधान, सचेत किया है और शिक्षा दी है कि हमें अपने आपको जानना चाहिए, यथार्थ को

* देखें अध्याय 14

तीर्थंकरों ने हमें अंधविश्वास के प्रति सावधान, सचेत किया है और शिक्षा दी है कि हमें अपने आपको जानना चाहिए, यथार्थ को समझना चाहिए, सत्य की ओर ले जाने वाले मार्ग का विश्लेषण, परीक्षण कर परखना चाहिए। हम सत्यासत्य का निर्णय करें और फिर अगर संतुष्ट हों, उसकी क्षमता से, प्रभावकारिता से सहमत हों, तभी हमें यथार्थ की सही समझ की नींव पर विश्वास, निष्ठा का निर्माण करना चाहिए।

समझना चाहिए, सत्य की ओर ले जाने वाले मार्ग का विश्लेषण, परीक्षण कर परखना चाहिए। हम सत्यासत्य का निर्णय करें और फिर अगर संतुष्ट हों, उसकी क्षमता से, प्रभावकारिता से सहमत हों, तभी हमें यथार्थ की सही समझ की नींव पर विश्वास, निष्ठा का निर्माण करना चाहिए। अगर हम जाग्रत होते हैं, अपने को अज्ञान और मोह से मुक्त करते हैं तो हम अपने भाग्य के स्वयं निर्माता हैं। यही सम्यक् दृष्टि है। यही सम्यक् दृष्टि हमारी मोक्ष यात्रा के मार्ग पर अग्रसर होने के लिए अनिवार्य है।

यात्रा

सम्यक् दृष्टि से जागृति के बाद, जैन 'रत्नत्रय' नाम से संबोधित तीन रत्नों पर आधारित त्रिस्तरीय पथ पर चलकर चौदह गुणस्थान की अध्यात्म यात्रा का हम आरंभ करते हैं। ये तीन रत्न इस प्रकार हैं-

सम्यक् चरित्र: प्रज्ञा पर आधारित विवेकपूर्ण जीवन शैली (rational conduct)
सम्यक् दर्शन: प्रज्ञा पर आधारित विश्व दर्शन (rational world vision)
सम्यक् ज्ञान: प्रज्ञा पर आधारित ज्ञान चेतना (rational knowledge)

अधिकांश जैन चौदह गुणस्थान की अध्यात्मिक यात्रा में अपने आपको चौथे गुणस्थान में रखते हैं। प्रत्येक क्रमिक अवस्था में कई बीच की सीढ़ियां होती हैं। मगर प्रगति 'रत्नत्रय' के तीनों मोर्चों से करनी ही होगी। प्रगति, हमारे आसपास की दुनिया के प्रति, हमारे दृष्टिकोण को पूरी तरह बदल देती है। हमें बाध्य करती है कि हम अपने अल्पकालिक ध्येयों की, अपने संबंधों की फिर से परीक्षा करें। प्रगति के कारण ही हममें दूसरों के लिए प्रेम, आदर, सराहना और करुणा का उदय होता है, सब चीज़ों के लिए एक नया समादर भाव हममें जागता है। आध्यात्मिक प्रगति पर्यावरण-परिवेश के साथ सामंजस्य की भावना उत्पन्न करती है। भौतिक सुखों की प्रशंसा या आलोचना तथा घृणा के प्रति हम उदासीन होते हैं। हमारे अंदर दूसरों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न होती है। जीवन शांतिपूर्ण बनता है और आत्मविश्वास से, आंतरिक आनंद से भर उठता है। यथार्थ ज्ञान के कारण जीवन सोद्देश्य बनता है। अपने आपमें परम शांति का अनुभव करते हुए व्यक्ति मोक्ष की यात्रा का आरंभ करता है। यात्रा पथ के अंतिम छोर पर है-स्वतंत्रता। ऐसी स्वतंत्रता जो जीव को अंततः जन्म-मृत्यु के चक्र से, यातनाओं से मुक्ति दिलाती है। जो मोक्ष मार्ग को जानकर, यात्रा का शुभारंभ करता है, चाहे जब, जहां, जिस घर में उसका जन्म हुआ हो, वह सच्चा जैन है। आध्यात्मिक यात्रा पर चल पड़ने के लिए केवल 'जागृति' की आवश्यकता है। शेष सारे विचार गौण हैं।

3

3. मोक्ष मार्ग की खोज

जैन होने के लिए जैन परिवार में जन्म लेना ज़रूरी नहीं है और न ही ज़रूरी है, जैन धर्म में प्रवेश के लिए जैन गुरु द्वारा धर्म की दीक्षा। यह तभी ज़रूरी है जब कोई जैन साधु/साध्वी बनना चाहता है। जो भी सम्यक् दृष्टि से जाग्रत है और सम्यक् मार्ग का अनुकरण करता है, वह जैन है। आध्यात्मिक प्रगति के दौरान चौदह अवस्थाओं में से चौथी अवस्था में प्राप्त सम्यक् दृष्टि का मतलब है, यह जानना कि सारा विश्व छ: मूलभूत शाश्वत द्रव्यों से बना है। वे द्रव्य हैं, जीव एवं अन्य पांच अजीव* (पुद्गल, आकाश, काल, धर्म, अधर्म)। इस अवस्था में हम यह भी जानने लगते हैं कि आत्मा की शाश्वत आनंद की स्थिति के लिए, उसका संसार-बंधन से, जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त होना आवश्यक है। तब हम मोक्ष का मार्ग खोजना शुरू करते हैं।

मोक्ष क्या है?

अधिकांश धार्मिक व्यवस्थाओं में जीवनोपरांत आत्मा की स्थिति पर विचार किया गया है। वे हमें शिक्षा देती हैं कि हमारा वर्तमान जीवन ऐसा हो कि मृत्यु के बाद हम अखंड आनंद प्राप्त कर सकें। कुछ लोगों के लिए अखंड आनंद का अर्थ है 'स्वर्ग में प्रवेश', तो कुछ लोगों के लिए आत्मा का परमात्मा में विलीन होना है। जैनों के लिए इसका अर्थ है- आत्मा का कर्मबंधन से मुक्त होना, ताकि वह पुन: अनंत चेतना, अखंड आनंद और अनंत ऊर्जा शक्ति को प्राप्त कर सके। विभिन्न धर्म शाश्वत सुख के लिए विभिन्न मार्ग बताते हैं, जो धर्म इस बात में विश्वास करते हैं कि ईश्वर ने विश्व की रचना की है और वही इसका शास्ता है, नियामक है, वे धर्म हमें शिक्षा देते हैं कि हमें ईश्वर की कृपा या करुणा अवश्य प्राप्त करनी चाहिए अथवा हम ऐसा आचरण करें कि ईश्वर को हम प्रिय लगें तब वह हमें स्वर्ग में प्रवेश देगा। इसके लिए ईश्वर को अपने जीवन का केन्द्र मानकर, सन्मार्ग से उसकी करुणा, कृपा प्राप्त करने के लिए कहा जाता है।

जैनों का विश्वास है कि विश्व अनंत है। वह उपर्युक्त छ: द्रव्यों से निर्मित है। विश्व स्वयं अपने सिद्धांतों से अपना संचालन करता है। अत: न तो कोई विश्व का रचयिता है, न शासन-संचालन करने वाला कोई ईश्वर है। इस तरह जैन-मोक्ष की धारणा ईश्वर की दया, करुणा से जुड़ी नहीं है। उनका विश्वास है कि ईश्वर हमें

---

* छठें अध्याय में विस्तार से देखें।

न तो सुखी बनाता है, न दुखी और न ही किसी को शाश्वत आनंद प्राप्त करने के लिए उसकी दया पर निर्भर रहने की ज़रूरत है। हमारी आत्मा किसी कारणवश अशुद्ध और दूषित होकर जन्म-मृत्यु के दुखदायी चक्र में फंसी है*। अत: जैन धर्म में अनंत सुख का मार्ग अशुद्ध-दूषित आत्मा की शुद्धि में है, ताकि मुक्त होकर वह अपनी शाश्वत आनंद की गुणवत्ता को प्राप्त कर सके। आत्मा के शाश्वत आनंद-परमसुख की स्थिति को जैन धर्म में मोक्ष मार्ग कहा गया है। हम स्वयं अपने भाग्य के लिए उत्तरदायी हैं और हमारे प्रयत्नों और कर्मों से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

पापमुक्ति, निर्वाण और मोक्ष

हम प्राय: मुक्ति, निर्वाण, मोक्ष, बंधन-मुक्ति, शाश्वत आनंद आदि शब्दों का कुछ ढिलाई से और परस्पर परिवर्तनीय अर्थ में प्रयोग करते रहते हैं परंतु वास्तव में ये शब्द विशिष्ट धर्मों के विशिष्ट अर्थ में हैं और अपने सूक्ष्म अर्थबोध में अंतर रखते हैं। उनके अपने अर्थ में अखंड आनंद प्राप्ति के मार्ग भी भिन्न हैं। शब्दकोश के अनुसार अनंत आनंद का सीधा सा अर्थ है, अंतहीन उच्च कोटि का शिखरीय आनंद, स्वर्गीय प्रसन्नता आदि। ये सभी एक परम आनंद के द्योतक माने जाते हैं।

मुक्ति (Salvation) - ईसाई लोग मानते हैं कि मनुष्य जाति के दोषों से, निर्बलता से और पापों से छुटकारा पाना ही परम आनंद है। वे मानते हैं कि अपनी कमज़ोरियों के कारण और कुछ सीमा तक दुनिया में अशुभ शक्तियों का बोलबाला होने के कारण ही मनुष्य अकसर दुखी होता है। फिर भी वे मानते हैं कि अंतत: ईश्वर का पूर्ण नियंत्रण है और इसीलिए ईश्वर एक दिन पृथ्वी पर मसीहा को भेजेगा, जो अशुभ शक्तियों पर विजय पाएगा तब सभी मृतक कब्रों से निकाले जाएंगे और उनका फ़ैसला किया जाएगा। अच्छे कर्म वाले ईसाईओं को पाप से मुक्ति देकर ईश्वर उन्हें सदा के लिए स्वर्ग में वास देगा और शेष के लिए नरक दण्ड। ईसाई सिद्धांत के अनुसार व्यक्ति को मानना होगा कि 'जीसस क्राइस्ट पूर्ण रूप से दैवी हैं, और पूर्ण रूप से मानव।' प्रत्येक को 'ट्रिनिटी' सिद्धांत पर विश्वास करना ही होगा, जिसमें (1) ईश्वर परम पिता, (2) जीसस क्राइस्ट-पुत्र और (3) पवित्र आत्मा, ये तीनों रूप एक साथ एक ही जीसस क्राइस्ट के हैं। परमानंद के लिए ज्यू लोगों की धारणा है- 'ईश्वर को उसके सच्चे रूप में जानना'। उनका विश्वास है कि ईश्वर को जानना प्रतिक्षण उचित अभ्यास कर्म करते रहने से या फिर ज्यूइश थियोलॉजी (Maimondes) के तेरह सिद्धांतों का कठोरता से पालन करने में या हृदय प्रेम के माध्यम से (Kabbalah and Hasidism) ईश्वर को जाना जा सकता है।

निर्वाण - निर्वाण शब्द संस्कृत भाषा का है। इसका शाब्दिक अर्थ है अंत, नाश, बुझना, बुझाना या अंत करना। इस शब्द का प्रयोग हिन्दू, बौद्ध और जैनिओं के द्वारा भी किया जाता है, किन्तु सूक्ष्म अर्थबोध में तीनों धर्मों में इसका प्रयोग विशिष्ट अर्थ में होता है। हिन्दुओं के लिए निर्वाण शब्द अज्ञान से मुक्ति और

* देखें अध्याय 9।

ईश्वर के अलावा अन्य के प्रति मोह समाप्ति है। इस अवस्था में (समाधि या स्थितप्रज्ञ अवस्था) ईश्वर के साथ तद्रूपता होती है। यह समाधि की अवस्था है जिसमें हम आनंद और शांति के साथ मानव जीवन पूर्ण रूप से जी सकते हैं। हिन्दू धर्म के अनुसार निर्वाण की स्थिति प्राप्त करने के तीन मार्ग हैं-

(1) धर्म मार्ग - (कर्म मार्ग) में अपना नैतिक कर्मपालन, गृहस्थ धर्म का पालन, व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में धर्म नियमों को सुनिश्चित करना, अपना कर्मपालन करते हुए फल की कामना न करना, इनसे ईश्वर के साथ तादात्म्य स्थापित होता है, ऐसी हिंदू धर्म ग्रंथों की शिक्षा है।*

(2) भक्ति मार्ग - में बिना किसी शर्त के, शुद्ध प्रेम और आदर से स्वयं को अपने आराध्य को समर्पित करना होता है। इष्टदेव (ईश्वर का अवतार) को पूर्ण समर्पण करने से आनंद की पराकाष्ठा का अनुभव होता है। भक्ति मार्ग रामानुजाचार्य (ई.सन् 1137) द्वारा उपनिषदों के भाष्य पर आधारित है।

(3) ज्ञान मार्ग - यह मार्ग शंकराचार्य (ई. सन् 850) द्वारा उपनिषदों के भाष्य पर आधारित है। इसमें ध्यान एवं चिंतन के माध्यम से सत्य के वास्तविक स्वरूप-ज्ञान को प्राप्त करने पर बल दिया गया है। हिन्दू धर्म के अनुसार वास्तविक सत्य एक ही है- 'ब्रह्म' जो अवर्णनीय है, सूक्ष्म है, निर्गुण है एवं दैवी है। शेष विश्व मिथ्या जगत, भ्रम है। ब्रह्म का ज्ञान आत्मा को मुक्त करता है। आत्मा परमआत्मा से तदाकार, तद्रूप होती है।

हिंदू मानते हैं कि उक्त तीनों मार्गों में से किसी भी एक मार्ग से निर्वाण पाया जा सकता है।

बौद्धों के लिए भी निर्वाण जीवन से परे एक स्थिति है। चूंकि वे आत्मा में विश्वास नहीं करते और न ही ईश्वर में। अत: उनके लिए निर्वाण ईश्वर के साथ आत्मा का तादात्म्य नहीं है। बौद्धों के लिए निर्वाण का अर्थ एक ऐसी अवर्णनीय स्थिति है जहां प्रज्ञा और असीम करुणा है। एक ऐसी आदर्श अवस्था जहां विश्रांत-समरसता, धैर्य और आनंद है। बौद्धों के लिए निर्वाण, व्यक्ति की सत्ता का समरूपता की अंतिम स्थिति में लोप है।

मोक्ष : जैन भी निर्वाण शब्द का प्रयोग करते हैं। निर्वाण से उनका आशय आत्मा की समस्त अशुद्धि को, कषाय को, मिटाना या अंत करना होता है। मुक्ति की परमोच्च स्थिति के लिए जैन धर्म में मोक्ष शब्द है परंतु यहां मोक्ष का अर्थ आत्मा का परमसत्ता में लोप नहीं है (जैसा कि हिन्दू मानते हैं) या ईश्वर से अपने कर्मों का फल पाना भी नहीं है (जैसा कि ईसाई मानते हैं) जैन सम्यक् दर्शन असीमित आत्माओं की शुद्ध, अशुद्ध स्थिति पर आधारित है। जैन मत के अनुसार, शुद्ध, मुक्त आत्मा शाश्वत, आनंदमयी होती है। पर अपवित्र आत्माएं शाश्वत आनंद का अनुभव नहीं कर पातीं। अत: आत्मा की शुद्धि एवं बंधनों से मुक्ति, यही मानव

* श्रीमद् भगवद्गीता 2.47

जीवन का अन्यतम लक्ष्य है। यह लक्ष्य हम कैसे पा सकते हैं? हिन्दुओं का विश्वास है कि धर्म, भक्ति और ज्ञान मार्ग में से किसी भी एक मार्ग का अवलंब लेकर वे अपने लक्ष्य-निर्वाण को पा सकते हैं। इन्हीं तीन मार्गों का जैन धर्म में एकमात्र पर्याय सम्यक् चरित्र, सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान है। मोक्ष प्राप्ति के लिए इन तीनों का सामंजस्य होना ज़रूरी है। हिन्दू धर्म में मोक्ष का अर्थ इस जीवन से परे जाकर ब्रह्म से आत्मा का मिलन है। ब्रह्म स्वयं समय-समय पर पृथ्वी पर जन्म ले सकता है। इसके विपरीत जैनों के लिए जन्म-मृत्यु के पीड़ादायक चक्र से आत्मा की पूर्ण मुक्ति ही मोक्ष है। मुक्त आत्मा का मूलभूत गुण शाश्वत आनंद है। स्पष्ट है कि मुक्त आत्मा का कोई पुनर्जन्म नहीं होता और न ही अवतार।

जैन मोक्ष मार्ग

मोक्ष के लिए हम किस मार्ग का अनुकरण करें? आध्यात्मिक प्रगति के चौदह गुणस्थानों में से चौथे गुणस्थान में (देखें, आध्यात्मिक प्रगति का कोष्ठक पृष्ठ 19)। हम आत्मा की मुक्ति की आवश्यकता का अनुभव मात्र करते हैं, जबकि आध्यात्मिक यात्रा का आरंभ होने को है और जीवन अब भी बिना संयम (विरति) के चल रहा है। इस गुणस्थान को इसीलिए 'अविरति' (असंयम) कहते हैं। अब लक्ष्य ज्ञात है, पथ निर्धारित है और यात्रा आरंभ होने को है, मगर प्रगति फिर भी संकल्प और आत्मानुशासन पर निर्भर करती है। अत: व्रत लेने से हमारा संकल्प दृढ़ होता है। आत्म अनुशासन बढ़ता है। साधारण जनों को (श्रावक को) आत्मसंयम की साधना के लिए प्रारंभिक व्रत एवं अनुशासन की शिक्षा दी जाती है। साधक आंशिक आत्मानुशासन (देश विरति) प्राप्त कर छठे गुणस्थान पर पहुंचता है। उक्त दो अवस्थाओं में से होते हुए आध्यात्मिक सीढ़ी (नसैनी/प्रतिमा) के ग्यारह सोपानों पर चढ़ना कठिन अवश्य है, लेकिन इससे भी कठिन यात्रा तो आगे आरंभ होती है, जब हम विरक्त, तपस्वी जीवन में प्रवेश करते हैं। प्रारंभिक व्रतों द्वारा आत्मसंयम प्राप्त करने से हमें श्रावक की एवं की या साधु/साध्वी की दैनिक जीवन शैली को समझने की दृष्टि मिलती है।

प्रारंभिक व्रत

जीवन छोटा है और लक्ष्य (मोक्ष) बहुत ऊंचाई पर है। अपने लक्ष्य तक पहुंचने के लिए हर व्यक्ति को प्रेरित एवं अनुशासित होना होगा। मोक्ष मार्ग पर यात्रा आरंभ करने के लिए जैन तीर्थंकरों ने, आचार्यों ने, प्रेरक साधनों के रूप में व्रत-ग्रहण की अनुशंसा की है। बिना व्रत लिए, यों ही साधारण तौर पर आचरण से प्रगति बहुत कम होगी। शुरुआत में साधक प्रारंभिक परिचयात्मक बारह व्रत लेते हैं। मोक्ष मार्ग की प्रगति को गंभीरता से लेने वाले साधु, साध्वियों के लिए अधिक कठोरता पूर्वक व्रत पालन करने के निर्देश हैं। प्रारंभिक व्रतों का मुख्य उद्देश्य है- अपने परिवार और समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का निर्वाह और रोज़ की दुनियादारी में, दैनिक जीवन में, आम आदमी पर वासना, इच्छा, लालसा का जो भावनात्मक दबाव पड़ता है, उसे कम करना। जैसे-जैसे हम आत्मसंयम और मन की स्थिरता प्राप्त करते हैं वैसे-वैसे अपनी और दूसरी अन्य दुर्बलताओं पर अधिक नियंत्रण पाने के लिए अधिक व्रत लिए जाते हैं। प्रारंभिक बारह व्रत

सामान्यत: तीन चरणों में लिए जाते हैं, जिनमें प्रत्येक चरण की व्रत-भावना क्रमश: तीव्र होती जाती है। ये व्रत इस प्रकार हैं-

पांच अणुव्रत	-	मूलव्रत
तीन गुणव्रत	-	पांच अणुव्रतों के पालन में दृढ़ता के लिए
चार शिक्षाव्रत	-	आध्यात्मिक साधना के लिए

पांच अणुव्रत :- (मूलव्रत)

आध्यात्मिक यात्रा पांच मूल व्रतों से आरंभ होती है।

ये पांच व्रत इस प्रकार हैं-

अहिंसा व्रत	- मन, वचन या कायासे किसी जीवकी हिंसा न करना
सत्य व्रत	- सत्य का पालन
अचौर्य व्रत	- चोरी न करना, अवैध अर्जन न करना
शील व्रत	- मन, विचार यथासंभव शुद्ध रखना, वासना पर संयम रखना
परिग्रह परिमाण व्रत	- अपनी आवश्यकता और संग्रह कम से कम रखना। ममत्व भाव कम करना

श्रावक प्राय: साधु/साध्वी के समक्ष व्रत-ग्रहण की घोषणा करते है। उदाहरण :

***(1) प्रथम अणुव्रत** - अहिंसा व्रत, श्रावक के लिए इस प्रकार लिया जाएगा-*

"मैं जब तक अपरिहार्य न हो, समस्त अथवा दो से अधिक इंद्रियोंवाले प्राणियों को जानबूझकर - मन, वाणी एवं शरीर से क्षति नहीं पहुंचाऊंगा और एक इंद्रियवाले (वनस्पति, सूक्ष्म जीव) जीवों की हत्या से बचूंगा।" [8]

वस्तुत: ऊपर लिखे व्रत की अपेक्षा व्रती साधु -संन्यासियों द्वारा लिया जाने वाला व्रत कई गुना अधिक कठोर, होता है। दीक्षा लेने वाले साधुओं के लिए व्रत होगा-

"मैं समस्त जीवधारियों की हत्या का धिक्कार करता हूं, चाहे सूक्ष्म हो या स्थूल, चाहे जंगम हो या स्थावर। न तो मैं स्वयं जीवधारियों की हत्या करूंगा न दूसरों को हत्या का कारण बनने दूंगा, न हत्या को अपनी सहमति दूंगा। जब तक मैं जीवित हूं, मैं मन, वचन, कर्म से स्वयं को इस पाप कर्म से मुक्त रखुंगा और इन पापों के लिए स्वयं पाप स्वीकारूंगा, स्वयं को दोष दूंगा और पश्चाताप करूंगा।" [9]

---

(8) रत्नकरंडक : श्रावकाचार- 3/53

(9) आचरंग सूत्र भाग 2 श्राव्य 15.1.4

कृपया ध्यान दें उक्त संकल्प ज्यूडिओ क्रिश्चियानिटी के 'अपने पड़ोसी को कभी किसी तरह आहत, दुखी न करो'- इस कथन से भी आगे, बहुत आगे है। यह समस्त जीवधारियों, चाहे मकड़ी हो या मच्छर, के लिए न मारने का संकल्प है। इसका अर्थ सब प्रकार से मांस का त्याग ही नहीं (जिसके लिए पशु हत्या होती है) बल्कि अंडे भी त्याज्य हैं (जो स्वजातीय जीवों को जन्म देते हैं) इसका अर्थ यह भी है कि ऐसे कंदमूल को भी नहीं खाना है, जिसकी फसल में स्वयं पौधे का नाश होता है (आलू, प्याज, लहसुन आदि)। इस पर भी ध्यान दें कि अहिंसा व्रत में केवल प्रत्यक्ष हत्या की ही बात नहीं, हत्या का विचार या इच्छा भी दोष है। यही अहिंसा शब्द का वास्तविक जैन अर्थ है। यद्यपि हिंसा के विचार या इच्छा मात्र से किसी की हत्या नहीं होती फिर भी विचार करने वालों की आत्मा तो दूषित होती है। उक्त व्रतों में इसी बात पर ज़ोर दिया गया है कि हमारा सच्चा उद्देश्य आंतरिक शांति पाना है। समस्त जीवों का आदर करना है और आत्मनियंत्रण करना है। ऐसा सिर्फ अपने मन और विचारों पर अनुशासन से ही संभव है। सच तो यह है कि अहिंसा की जैन परिभाषा प्रत्यक्ष जीव हिंसा और आहत करने से भी परे है। अहिंसा का अर्थ है, किसी भी प्रकार के कार्य से चाहे शारीरिक हो, शाब्दिक हो या मानसिक, जो हमारे मोक्ष के लिए अवरोध बने, वह हिंसा है। इस संदर्भ में उक्त सभी व्रत अहिंसा के मूलभूत आचरण का ही विस्तार हैं।

अहिंसा का अर्थ है, किसी भी प्रकार के कार्य से चाहे शारीरिक हो, शाब्दिक हो या मानसिक, जो हमारे मोक्ष के लिए अवरोध बने, वह हिंसा है।

(2) दूसरा व्रत है- सत्यव्रत - यानी कभी असत्य न बोलना या मिथ्यावाणी, कार्य, विचार का आश्रय न लेना। कृपया ध्यान दें यहां भी विचार या भावना पर बल है। इससे एक सामान्य श्रावक को, सामने उपस्थित किसी भी विवादास्पद विषय पर सद्भावना से निर्णय करने का बल मिलता है। उदारणार्थ जैसे किसी व्यक्ति या प्राणी की प्राणरक्षा के लिए बोला गया झूठ। दुर्भावना से बोले गए झूठ से जो परिणाम भुगतना होगा वैसा परिणाम प्राणरक्षा की सद्भावना से बोले गए झूठ से नहीं भोगना होगा।

(3) तीसरा व्रत - अचौर्य व्रत- इसका तात्पर्य है किसी भी अवैध तरीके (बेईमानी, चोरी, ठगी) से कोई वस्तु प्राप्त नहीं करनी चाहिए, न तो किसी की संपत्ति ग़बन करनी चाहिए और न ही किसी की खोई-भूली चीज़ हड़पनी चाहिए।

(4) चौथा व्रत-शीलव्रत - अर्थात् अपनी वासनाओं पर नियंत्रण और विवाहपूर्व या विवाह-बाह्य यौन से दूर रहना।

(5) पांचवां व्रत- परिग्रह परिमाण व्रत - इसका अर्थ है अपनी भौतिक वस्तुओं की इच्छाओं को सीमित रखना। संग्रह कम से कम रखना। उसके प्रति ममता, मोह न रखना। यहां भी भावना महत्त्वपूर्ण है। यह व्रत उदार, उपकारी, जन-हितैषी तथा संपत्ति की सहभागिता के लिए प्रोत्साहन देता है। इन व्रतों का पर्यावरण, परिवेश पर जो प्रभाव पड़ता है, वह ध्यान देने योग्य है। हम यदि निरंतर पेड़ों की कटाई, वनों की

कटाई, भूमि खनन और अपनी तथाकथित ज़रूरतें पूरी करने के लिए पर्यावरण के साथ ज़्यादती या छेड़छाड़ नहीं करेंगे तो हम अपने आसपास के पर्यावरण के साथ सामंजस्य के साथ रह सकेंगे।

तीन गुणव्रत (पोषक व्रत)

श्रावक के मन को बलवान और अनुशासित बनाने के लिए संकल्प को दृढ़ बनाने की दृष्टि से उक्त गुणव्रतों को बनाया गया है। ये गुणव्रत हैं- दिग्व्रत (दिशा संयम), देशावकाशिक व्रत (मोह-लालसा संयम) और अनर्थ दंड व्रत (हानिकारक कर्म संयम)

(6) दिग् व्रत- (दिशा संयम) स्वेच्छा से कार्यक्षेत्र का दायरा सीमित रखना। मूलत: यह व्रत यात्रा, प्रवास पर स्वयं आरोपित सीमा मर्यादा दर्शाता है। इसका उद्देश्य स्वैर-स्वच्छंद गतिविधियों को, इच्छाओं को रोकना है। नए-नए अपरिचित स्थानों में ऐसी स्थिति बनने की संभावना होती है जो दूषित गतिविधियों के लिए, अपवित्र कार्य के लिए बाध्य करें, जिससे मन की शांति, स्थिरता भंग हो। दिग् व्रत ऐसी स्थितियों से श्रावक की रक्षा करता है। ऐतिहासिक रूप से साधुओं द्वारा इस व्रत का कठोर पालन उनके संचरण को आसपास के स्थानों तक ही सीमित करता है। आसपास के अंतर्गत उनका गांव, ज़िला या राज्य शामिल है। इस व्रत के कारण जैन धर्म का प्रसार बहुत रुक गया था। साधु/साध्वी इस व्रत का पालन गंभीरता से करते हैं, किंतु अधिकांश श्रावक केवल भावना से ही इस व्रत का पालन करते हैं।

(7) देशावकाशिक व्रत (मोह-लालसा संयम)- यह व्रत हमें अपनी आदतों का गुलाम बनने से रोकता है। जैसे कि यह व्रत शिक्षा देता है, सप्ताह में एक दिन अन्न ग्रहण न करना। हमारी प्रिय खाद्य-वस्तु (चाकलेट, मिठाई) कुछ समय के लिए छोड़ना। तात्पर्य कुछ समय के लिए हम अपनी आदतों पर, अपनी मोह-लालसा पर नियंत्रण करें। स्पष्ट है कि यह व्रत अपनी कमज़ोरियों को खत्म करने और आत्मानुशासन के लिए है।

(8) अनर्थ दंड व्रत (हानिकारक गतिविधि संयम)- ऐसी जीविका, व्यवसाय से बचना चाहिए जो दूसरों के लिए हानिकारक हो। जैसे शस्त्र बनाना, हथियार बनाना, शस्त्रों का व्यापार, शस्त्रों की पूर्ति करना, हिंसा पर आधारित व्यवसाय जैसे कसाई का धंधा, मछली उद्योग आदि कामों से बिलकुल दूर रहना। पाठकों को यह जानकर शायद आश्चर्य होगा कि शायद ही कोई ऐसा जैन व्यक्ति होगा जो जूते बनाना, चर्म उद्योग या मुर्गीपालन, आलू-प्याज़ आदि सब्जियों की खेती जैसा कोई व्यवसाय करता होगा। यह व्रत आगे जाकर बड़बोलापन, डींगे हांकना, दूसरे का बुरा सोचना, ऐसी हरकतों से बचने की शिक्षा भी देता है।

व्रत-पालन का महत्त्व आत्म नियंत्रण के लिए है। अपने लक्ष्य- मोक्ष पर ध्यान केन्द्रित रखना है। अधिकांश जैन औपचारिक रूप से साधु/साध्वी की उपस्थिति में व्रत ग्रहण नहीं करते, मगर जीवन में उनका

पालन अवश्य करते हैं। अधिकतर जैन व्यवसाय से शिक्षक, डॉक्टर, इंजीनियर, वकील, व्यापारी होते हैं। संतुलित आहार जैसे दालें, सब्जियां, चावल, फल आदि भोजन मानसिक स्वास्थ्य के लिए निर्धारित जीवन शैली अपनाते हैं। यद्यपि व्रतों की योजना किसी नए साधक को वैराग्य के लिए तैयार करने के लिए है, लेकिन बहुत कम जैन लोग ही साधु/साध्वी के तापस जीवन की दीक्षा लेते हैं।

चार शिक्षा व्रत (आध्यात्मिक अभ्यास)

श्रावक/श्राविका, जिन्होंने प्रारंभिक व्रतों में से प्रथम आठ व्रतों को ग्रहण किया है, अब शेष चार व्रतों का अभ्यास चाहें तो कर सकते हैं। ये व्रत साधु जीवन के उग्र, कठोर आत्म नियंत्रण की तालीम हैं।

शिक्षा व्रत इस प्रकार हैं:-

(9) **सामयिक व्रत** - दैनिक ध्यान-धारणा, चित्त की स्थिरता प्राप्त करना।

(10) **पौषधोपवास व्रत** - एक सीमित अवधि के लिए साधु की जीवन-चर्या अपनाना।

(11) **भोगोपभोग परिमाण व्रत** - अनावश्यक पदार्थों का सेवन या उपयोग सीमित करना।

(12) **अतिथि संविभाग व्रत** - किसी भूखे या ज़रूरतमंद व्यक्ति को भोजन कराने के बाद स्वयं अन्न ग्रहण करना।

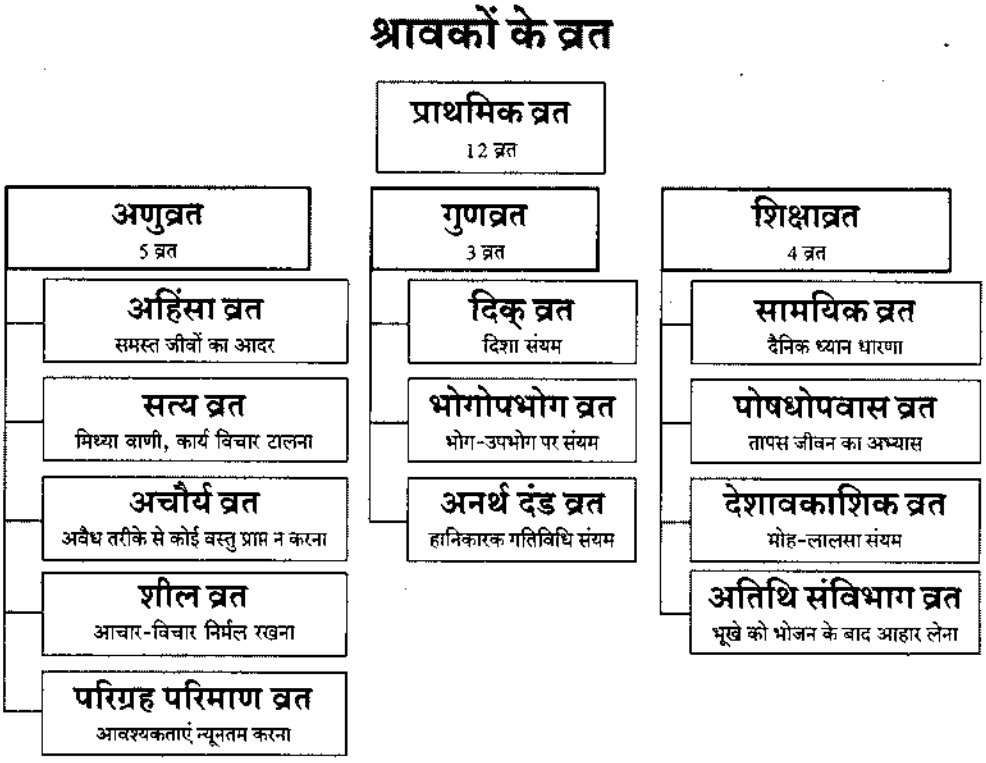

उक्त बारह प्रारंभिक व्रतों का पालन करने से श्रावक/श्राविका चतुर्थ गुणस्थान (अविरति) से पांचवें गुणस्थान (देशविरति) से होते हुए छठे गुणस्थान (सर्व-विरति) तक पहुंचते हैं। ऐसे आध्यात्मिक प्रगति के दरमियान ग्यारह सोपानों की नसैनी* (प्रतिमा) चढ़ते चढ़ते श्रावक/श्राविका आत्म संयम करने वाला, भावना और इंद्रियों पर विजय पाने वाला, मोह रहित तपस्वी विरागी बनता है। अगले चरण के लिए प्रस्तुत होकर वह तपस्वी जीवन में प्रवेश के लिए आचार्य से निवेदन कर सकता है। चौदहवें गुणस्थान स्थिति तक पहुंचने के उद्देश्य से मोक्ष-यात्रा के लिए प्रस्थान कर सकता है।

नए दीक्षा प्राप्त स्त्री, पुरुष तपस्वी जीवन में साधु/साध्वी के रूप में प्रवेश पाते हैं। जैन साधु दीक्षा पाने के बाद अविवाहित रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। वे या तो मंदिरों के उपाश्रय गृह में रहकर सादा, सरल जीवन यापन करते हैं या गांव-गांव निरंतर विहार करते हुए उनके अनुयायिओं द्वारा दी गई भेंट पर जीवित रहते हैं। सिवाय भोजन के अन्य कोई और भेंट स्वीकार नहीं करते। अपना अधिकांश समय ध्यान में, धर्मग्रंथों के अध्ययन, अनुशीलन में बिताते हैं या फिर अपने शिष्यों को मार्गदर्शन देते हैं। साधु/साध्वी अध्ययन, तपस्या, धर्म प्रसार जैसे विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति करते हुए संन्यासी संघ के विभिन्न पदों से होकर अंत में आचार्य प्रमुख बन सकते हैं।

अंतिम तीर्थंकर महावीर ने विशेष रूप से आचार्यों को अधिकृत किया है कि वे धर्मग्रंथों का विवेचन, व्याख्या कर सकते हैं। बिहार में आचार्या चंदनाजी ने आचार्या होने के नाते चतुर्विध-जैन संघ के लिए जैन धर्म साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण विभाग की व्याख्या की है। अपने लेखन के माध्यम से उन्होंने आह्वान किया है कि जैन सामाजिक चेतना के मुद्दों के लिए काम करें। आचार्याजी दो सौ बिस्तर वाले अस्पताल का स्वयं संचालन करती हैं, जहां रोगियों को नि:शुल्क चिकित्सा का लाभ मिलता है। वे कई स्कूल चलाती हैं। अभी कुछ समय पहले उन्होंने गुजरात में भूकंप पीड़ित गरीब बच्चों का स्कूल शुरू किया है और अब तमिलनाडू के सुनामी पीड़ितों की सेवा में कार्यरत हैं।

मोक्ष के लिए निरंतर साधना करते हुए साधक, सयोग केवलिन, गुणस्थान तक पहुंचता है। 'सयोग केवलिन' तेरहवां गुणस्थान है, जहां साधक के सारे घातिया कर्म नष्ट होते हैं। (प्रकरण 9) अब आत्मा

---

* ग्यारह सीढी वाली नसैनी (प्रतिमा) और आध्यात्मिक प्रगति के चौदह गुणस्थानों के पड़ावों में किसी प्रकार का भ्रम नहीं होना चाहिए। दोनों भिन्न हैं। चौथे गुणस्थान पर जागृति के बाद चौदह गुणस्थानों की ओर हमारी आध्यात्मिक प्रगति की यात्रा का आरंभ होता है। मगर चौथे गुणस्थान से छठे गुणस्थान के बीच हमें ग्यारह सोपान चढ़ना जरूरी है। (देखें अध्याय 4)

सदा के लिए संसार से- जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त होती है। वह शक्ति संपन्न होकर 'अर्हंत' कहलाती है। यहां से चौदहवें गुणस्थान तक मोक्ष तक आरोहण स्वयमेव होता है। जो अर्हंत अपने अघातिया कर्मों के कारण जीवित रह सकते हैं, वे तीर्थंकर बनते हैं। किंतु वे नए कर्म आकृष्ट नहीं करते। अत: फिर से नीचे के गुणस्थान पर जाने की कोई संभावना नहीं रहती। अघातिया कर्मों का भी जब क्षय हो जाता है तब निर्वाण के समय, जीवन के अंत में मृत्यु के समय इन अर्हंतो की आत्मा मोक्ष प्राप्त करती है और सिद्धलोक जाती है। तब न पुनर्जन्म है और न जीवन की यातनाएं।

मोक्ष मार्ग वस्तुत: बहुत लंबा और कठिन मार्ग है जिसमें व्रतों का अभ्यास एक बहुत छोटी शुरुआत। मोक्ष मार्ग की लंबी, कठिन राह पर श्रावक, नम्र, विनीत बनता है, ठीक उसी तरह जैसे अनंत विश्व में एक व्यक्ति का अस्तित्व उसे उसकी जगह बता देता है। बहुत कम जैनी औपचारिक रूप से मोक्ष मार्ग का अनुकरण करते हैं, लेकिन सरल, सादगीपूर्ण, शांतिमय जीवन व्यतीत करते हैं। वे जानते हैं कि मोक्ष इस जन्म में न भी मिले, किंतु भौतिक इच्छाओं और वासनाओं के दबाव से मुक्त जीवन तो उनका हो ही सकता है।

4. जैन मार्ग

आशा है अब तक के विवेचन से आप जैन धर्म की मूल भावना और जागृति से मोक्ष तक का मार्ग समझने लगे होंगे। जैसा कि मैंने पहले ही कहा है, व्यक्ति में जागृति की स्थिति चतुर्थ आध्यात्मिक गुणस्थान में होती है। यह वह स्थिति है, जब व्यक्ति यथार्थ के प्रति, आत्म-शुद्धि की ओर ले जाने वाले मार्ग के प्रति सचेत होता है। अब जबकि श्रावक/श्राविका आत्मा (जीव) की यथार्थ प्रकृति और उसके अंतिम लक्ष्य (मोक्ष) के प्रति जागरूक है, सचेत है, उसकी यात्रा का आरंभ, प्रारंभिक व्रत एवं दैनिक आध्यात्मिक अभ्यास से होता है।

किसी भी योजना के शुरुआती क़दम मुश्किल होते हैं। बारह व्रत इसीलिए विशेष रूप से कठिन हैं, क्योंकि वे एक धूर्त को अनुशासित और प्रशिक्षित करते हैं। वह धूर्त है- हमारा मन। हो सकता है, एक नए साधक को अपने मन पर मामूली-सा नियंत्रण पाने के लिए भी वर्षों तक अभ्यास करना पड़े, लेकिन वह स्वेच्छा से व्रत-ग्रहण करने के लिए कृत-संकल्प है यह अपने आप में उसकी जागृति की दृढ़ता का सूचक है। किस सीमा तक उसे सफलता मिलेगी यह तो उसके व्रत संकल्प पर निर्भर है, लेकिन कम से कम कुछ उपलब्धियां उसे ज़रूर प्राप्त होंगी- जैसे आत्मनियंत्रण, एकाग्रता और नित्यप्रति की जीवनचर्या के दबाव से कुछ राहत। मगर फिलहाल तो वह (श्राविका) चतुर्थ गुणस्थान पर है और ग्यारह सोपान वाली नसैनी (Ladder) चढ़कर उसे छठी अवस्था तक जाना है। छठे गुणस्थान तक पहुंचने के बाद अपने अंतिम लक्ष्य मोक्ष को पाने के लिए साध्वी-जीवन में प्रवेश की प्रेरणा उसे शायद मिले।

उसका लक्ष्य है मोक्ष- हिमालय की ऊंचाई को पाना। अभी तो केवल शुरुआत भर होने को है। उसका लक्ष्य स्पष्ट है, मार्ग समझ लिया है, शारीरिक एवं मानसिक रूप से कठिन, आध्यात्मिक, साहसपूर्ण यात्रा के लिए स्वयं को तैयार कर लिया है। जैसे-जैसे वह दैनिक व्रतों का अभ्यास करती है, वैसे-वैसे वह ग्यारह सोपान (प्रतिमा) वाली नसैनी की चढ़ाई शुरू करती है, ताकि वह छठे आध्यात्मिक गुणस्थान तक पहुंच सके।

नसैनी (सीढ़ी)

आइए, अब श्राविका को छठे गुणस्थान तक ले जाने वाली ग्यारह सोपानों की नसैनी पर विचार करें। ग्यारह सोपानों की रचना का उद्देश्य ही है श्राविका के आध्यात्मिक अभ्यास को अधिक नियंत्रित स्थिर चित्त बनाना। सबसे नीचे का सोपान है-

1. दर्शन प्रतिमा- यह यथार्थ के प्रति सम्यक् दृष्टि की जागृति का सोपान है। जागृति से पहले जीवन अज्ञान और मोह से परिपूर्ण था। जागृति से इतना अवश्य हुआ है कि वह आत्मा और उसके अंतिम लक्ष्य मोक्ष के प्रति सचेत हुई है। अब वह इससे अगले स्थान तक प्रस्थान के लिए तैयार है।

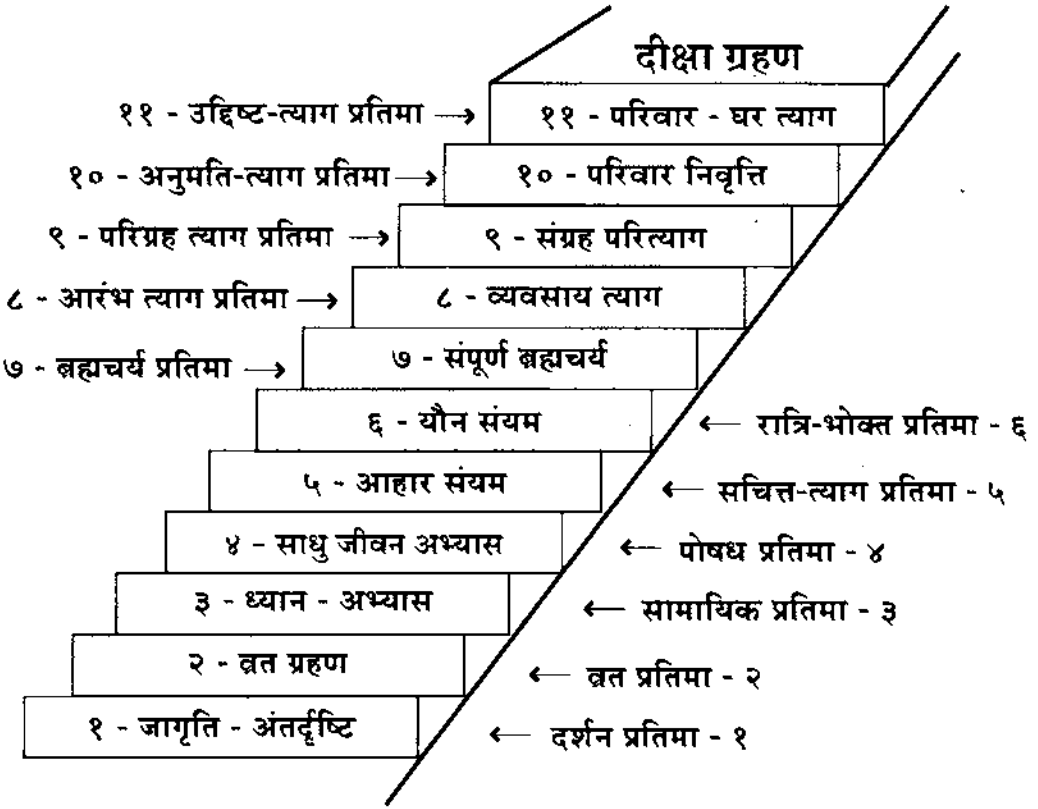

रेखाचित्र 4.1 : ग्यारह सोपान (प्रतिमा) की नसैनी, चौथे और छठे गुण स्थान के मध्य श्रावक की आध्यात्मिक प्रगति दर्शाने वाली नसैनी।

2. व्रत प्रतिमा- अब श्राविका ने आचरण संहिता के मूल तत्त्वों का अभ्यास करने के लिए, थोड़ा संयम और चित्त की स्थिरता प्राप्त करने के लिए व्रत लिए हैं। उसने चार शिक्षा-व्रतों के अभ्यास से आत्म-संयम का पालन किया (जिनका उल्लेख इससे पहले के अध्याय में किया जा चुका है।) अन्य सोपानों के दौरान शिक्षा व्रतों का पालन अधिकाधिक और अधिक कठोरता से करना है।

3. सामयिक प्रतिमा- नसैनी के दूसरे सोपान पर व्रत लेने के बाद, अब व्रत पालन करना है। इनमें से एक व्रत ध्यानधारणा है। सामयिक एक धार्मिक व्रत है, जिसमें गहन ध्यान और योग का मेल है। वह आत्म-संयम से मन:शांति पाने का साधन है। अपने यथार्थ स्वरूप को जानने का-अपने आत्मन् की खोज का आध्यात्मिक साधन है। सामयिक की दैनिक क्रिया से समस्त बाह्य उपादानों से साधक का चित्त क्रमश: दूर होता जाता है। जैन शास्त्र ग्रंथों में एक उच्च आध्यात्मिक अनुशासन के रूप में इस धार्मिक क्रिया की बारंबार अनुशंसा की गई है। तीसरे सोपान पर श्राविका दिन में तीन बार सामयिक करने का संकल्प लेती है, (जैसा कि जैन साधु/साध्वियों के लिए आवश्यक है) और प्रात:कालीन पूजा करती है। जैन पूजा में तीर्थंकरों की स्तुति में स्तोत्र, मंत्र, भजन, शास्त्रों से परिच्छेद पढ़कर सुनाना और अक्सर तीर्थंकरों की प्रतिमा को चंदन-केसर लेप से चर्चित करना शामिल है।*

4. पोषध प्रतिमा- तीसरे सोपान का अगला चरण है जिसमें माह के कुछ निश्चित दिन साधु/साध्वियों की भांति जीने का अभ्यास किया जाता है। उन दिनों उपवास करते हुए साधक समस्त सामाजिक व्यवहार या व्यवसाय एवं गृहस्थी के कामकाज का परित्याग करता है।

5. सचित्त त्याग प्रतिमा- नसैनी की यह पांचवीं सीढ़ी है। इस सोपान पर, श्राविका को आहार पर ध्यान केन्द्रित करना होता है। जैन मान्यता के अनुसार समस्त जीवों के प्रति आदर, दया के तहत केवल शाकाहार ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि आहार का उद्देश्य केवल जीवित रहने के लिए होना चाहिए। अल्पाहार भी न्यूनतम हिंसा और पौधों को नुक़सान पहुंचाए बिना होना ज़रूरी है। इस तरह का आहार भी श्राविका के लिए एक चुनौती है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, जैन आहार में आलू, गाजर, प्याज, मूली इत्यादि ज़मीन के अंदर पैदा होने वाले शाक-सब्जियों का निषेध है, क्योंकि उन्हें खाने के लिए पूरे पौधे को ही जड़ से उखाड़ना पड़ता है, जिससे पूरा पौधा ही नष्ट हो जाता है। जैन मानते हैं कि चूंकि जड़-मूल वाले शाक भूमि के अंदर पैदा होते हैं इसलिए भूमि के अंदर रहने वाले कई प्रकार के कीड़े-मकोड़े, जीव-जन्तुओं के आवास भी होते हैं। इसके अलावा जड़ें पौधे के विकास का भी स्रोत होते हैं। एक सच्चा जैन ऐसे फल, शाक और अनाज खाना पसंद करता है जिनके सेवन से पौधों या अन्य जीवों को कम से कम हानि पहुंचे या कम से कम हिंसा हो। इसके अलावा कुछ खाद्य और पेय पदार्थ ऐसे होते हैं जो हमारे शरीर में स्थित रासायनिक संगठनों को प्रभावित कर साधक को हानि पहुंचा सकते हैं, जिससे उनका आत्म-संयम भी गड़बड़ा सकता है। इसी कारण से जैनी मन-बुद्धि को दूषित करने वाली दवा या मादक पदार्थों का सेवन नहीं करते। यहां तक कि

* विस्तार के लिए अध्याय 6 देखें।

प्याज, लहसुन जैसा शाक, वृत्तियों के लिए उत्तेजक माना गया है। मन और भावनाओं पर नियंत्रण पाना एक कठिन और क्रमिक प्रक्रिया है। छठी और सातवीं सीढ़ी की योजना इस प्रकार है जिससे श्राविका अपने मूलभूत शारीरिक सुखों पर क्रमशः नियंत्रण पा सके।

6. रात्रिभोक्त प्रतिमा- इसमें दिन के समय यौन इच्छा पर नियंत्रण या आत्म-संयम किया जाता है।

7. ब्रह्मचर्य प्रतिमा- यौन गतिविधियों में पूर्ण आत्म-संयम, पूर्ण ब्रह्मचर्य।

8. आरंभ त्याग प्रतिमा- इस सोपान पर श्राविका को साध्वी जीवन में प्रवेश के लिए अपने आपको तैयार करना होता है। यह वस्तुतः बहुत संवेदनशील और कठिन क़दम है। अब उसे तय करना होगा कि क्या उसमें इतना सामर्थ्य है कि वह परिवार के बंधनों को पूरी तरह तोड़कर साध्वी बन सकें? उसे अपने आप से पूछना है, क्या उसके लिए अध्यात्म का आह्वान इतना दृढ़ है? एक बार साध्वी बन जाने पर उसका न कोई विगत होगा, न परिवार, न पास-पड़ोस, यहां तक कि उसका नाम भी उसका नहीं रहेगा।

आरंभ अर्थात् शुरुआत, त्याग का अर्थ है त्यागना, छोड़ना। आत्मत्याग का आरंभ अब होता है। अब तक तो उसका साध्वी जीवन का अनुभव कुछ दिनों तक ही सीमित होता था, तब कोई प्रतिज्ञा नहीं थी, कोई प्रतिबद्धता नहीं थी। मगर अब? अब की बात अलग है। यदि अध्यात्म की पुकार इतनी बलवती है, साध्वीजीवन की लगन इतनी तीव्र है, उत्कंठ है, तब तो वह अपने आपको अपनी नौकरी, व्यवसाय आदि समस्त बंधनों से मुक्त करना शुरू करती है। अब उसका जीवन अधिकतर धर्मग्रंथों और धार्मिक गतिविधियों को ही समर्पित है।

9. परिग्रह त्याग प्रतिमा- इस स्थिति में वह (श्राविका) समस्त भावनात्मक संबंधों से दूर है, अनासक्त है। चाहे परिवार हो या निजी वस्तुएं, किसी के प्रति उसके मन में न मोह है, न आसक्ति। यह वह समय है, जब उसे अपने परिवार को अपने गृहत्याग के लिए तैयार करना है। उसके सगे-संबंधी वैसे भी उसके गृहत्याग के निर्णय को जानते हैं, प्रतीक्षा में हैं उसके साध्वीजीवन में प्रवेश करने के निर्णय की। फिर भी औपचारिक रूप से उसके घर-परिवार छोड़ने की घोषणा का धक्का उन्हें सहन करना ही होगा। वस्तुतः जैनियों को इस बात का गर्व अनुभव होता है कि उनके परिवार का कोई सदस्य साधु/साध्वी बन गया है। अतः गृहत्याग की घोषणा को वे उसी रूप में लेते हैं, जिस रूप में कन्या के विवाह की घोषणा। वे खुश

भी होते हैं और दुखी भी। उनके लिए यह अवसर सुख-दुख का मिला-जुला अवसर होता है। इसका प्रमाण है, वह धूमधाम जब संबंधीजनों का मेला लगता है, वैवाहिकी समारोह की भांति, दीक्षासमारोह उत्सव मनाया जाता है।

साध्वीजीवन स्वीकार करने की घोषणा के बाद श्राविका अपनी सारी संपत्ति, वस्तुएं दान करती है। वैसे वह अब भी पारिवारिक मामलों में अपनी राय दे सकती है, लेकिन अपनी सारी संपत्ति बांट देने के बाद, घर छोड़ना तय कर लेने के बाद, अब वह स्वयं ही पारिवारिक मामलों में न निर्णय देती है, न हस्तक्षेप करती है। अब तो परिवार को भी उसके बिना जीने का अभ्यास करना होगा। संन्यासी जीवन में प्रवेश करने के बाद अब वह अगले सोपान पर चढ़ने के लिए प्रस्तुत है।

10. अनुमति त्याग प्रतिमा- इस सोपान पर अब वह घर-परिवार के बंधनों से मुक्त है। परिवार ने उसके गृहत्याग को पूरी तरह स्वीकारा है। इसका अर्थ है, अब परिवार से किसी भी प्रकार के भावनात्मक संबंधों से दूर तटस्थ रहना। अब वह पारिवारिक मामलों में सलाहकार की हैसियत से भी भाग नहीं लेती।

11. उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा- श्राविका के जीवनकाल में यह वह सोपान है, जहां वह अपना घर छोड़कर सारे पारिवारिक संबंधों को तोड़कर एक साध्वी आश्रम में प्रशिक्षार्थी साध्वी की तरह रहती है। अब शेष जीवन में केवल आध्यात्मिक गतिविधियां होंगी। ग्यारह प्रतिमा की नसैनी पर से होकर अब आध्यात्मिक अभियान के सबसे पहले पड़ाव पर श्राविका है। जो साधु/साध्वी बनना चाहते हैं, उनके लिए तो वास्तविक यात्रा शुरू होना बाक़ी है। अब तक उसका साधारण सदस्य की तरह भाग लेना उसी तरह है, जैसे किसी पर्वतारोही दल का एक शौकिया सदस्य सिर्फ शौक़ के लिए पर्वत पर चढ़े। अपने लक्ष्य के शिखर पर पहुंचने के लिए उसे साधु/साध्वीयों के पांच महाव्रत लेना आवश्यक है। इससे अध्यात्म की ओर, अधिक ऊंचाईयों तक जाना उसके लिए संभव होगा।

अधिकांश आचार्य (साधु/साध्वियों के प्रमुख) दीक्षा के इच्छुक साधकों को ग्यारह सोपान वाली प्रतिमा नसैनी की अधिकतम सीढ़ियां चढ़ने की सलाह देते हैं। वस्तुत: अच्छे आचार्य दीक्षा चाहने वाले साधकों से आग्रह करते हैं कि वे दीक्षा से पूर्व प्रतिमा की सभी सीढ़ियां चढ़ें। कुछ आचार्य तो बच्चों को भी दीक्षा देने के लिए आगे बढ़कर प्रोत्साहन देते हैं, जिन्हें ग्यारह सीढ़ियां चढ़ने से पहले ही दीक्षा दी जाती है। लेकीन उन्हें कठोर आत्मानुशासन का प्रशिक्षण दिया जाता है। उनके लिए समाज-संपर्क के पहले धर्मग्रन्थों का अनुशीलन आवश्यक है।

जैन साधु/साध्वियों के जीवन से काफी कठोर अपेक्षाएं होती हैं, फिर भी जीवन है तो रोमांचक। जन्म-जन्मांतरों का चिर अभीप्सित लक्ष्य मोक्ष और अंतत: असीम आनंद। लेकिन एक नए प्रशिक्षणार्थी को सावधान करना होगा कि मोक्ष की कामना करना लालसा से ग्रस्त होना है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, भावनात्मक आसक्ति मोक्ष में बाधक हो सकती है। अत: यह कहना विरोधात्मक होगा। मगर जैन साधु/साध्वियों को मोक्ष की लालसा त्यागनी होगी, क्योंकि लालसा अंतत: लोभ है, आसक्ति है चाहे वह मोक्ष की ही क्यों न हो।

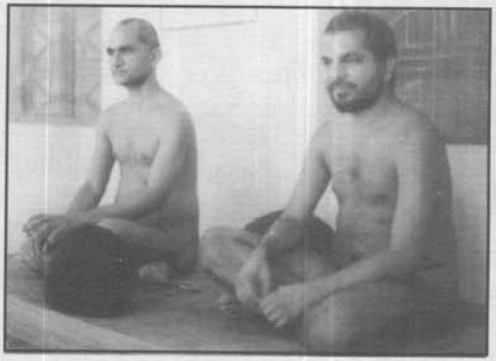

5. जैन जीवनशैली और समकालीन जीवन

हम निष्कर्ष रूप से कह सकते हैं कि पिछले दो अध्यायों में वर्णित जैन आचार (सम्यक् चरित्र) समस्त व्रत, ग्यारह सीढ़ियों की प्रतिमा (नसैनी), आध्यात्मिक प्रगति को दर्शाने वाले गुणस्थान, ये सब एक व्यक्ति को मोक्ष की कामना करने वाले साधु/साध्वी बनाने की दृष्टि से नियोजित हैं। मगर हममें से कितने लोग सचमुच साधु/साध्वी बनना चाहते हैं? या कितने लोग संन्यासी जीवन में प्रवेश करने की क्षमता रखते हैं ?

''खाओ, पीओ, मौज करो'' या फिर ज़िंदगी का यह फ़लसफ़ा ''कल की चिंता मत करो, कल किसने देखा?'' मिथ्या दृष्टि और विवेक शून्य जीवन का एक छोर है, और दूसरा छोर है सम्यक् विवेकपूर्ण जीवन,- तपस्वी जीवन, जिसकी एकाग्र दृष्टि केवल मोक्ष पर केन्द्रित है, जिसने जीवन में सर्वस्व परित्याग किया है। दोनों ही विचारधाराएं किसी भी आम आदमी को अतिरेक और अव्यावहारिक लग सकती हैं। जैन मार्ग एक ओर जहां कुछ लोगों को जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य (मोक्ष) की ओर ले जाता है, वहीं एक आम आदमी को अल्प अवधि में आज के समकालीन जीवन में स्वस्थ, नैतिक, संतुष्ट, जीवन का मार्गदर्शन भी करता है। जैन धर्म इक्कीसवीं सदी की भागमभाग, आपाधापी, तनाव भरी हिंसक जीवनशैली का शांतिपूर्ण विकल्प है।

जैन जीवन शैली आचार संहिता के सिद्धांतों और प्रत्यक्ष आचरण में अभ्यास का एक ऐसा मेल है, जिससे एक बेहतर ज़िंदगी जीने में सहायता मिलती है। जो आचार संहिता का सख्ती से पालन करता है, व्रत ग्रहण करता है, मोक्ष मार्ग का अनुसरण करता है, वह इस जीवन काल में अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। इस जन्म में न सही, अगले जन्म में मोक्ष प्राप्ति की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता। अधिकांश जैन मानते हैं कि वे अपने पूर्व जन्मों के कर्मफल के कारण आध्यात्मिक प्रगति के चतुर्थ गुणस्थान पर हैं और वहीं चतुर्थ या पंचम स्थान पर रहेंगे। एक साधारण व्यक्ति अपने पारिवारिक दायित्वों के कारण अक्सर प्रारंभिक परिचयात्मक व्रत (अध्याय 3) लेने में इसीलिए हिचकता है कि व्रतों के कारण वह अपने परिवार और बाल बच्चों के प्रति उदासीन होकर कहीं अपना कर्तव्य न भूल जाए, उन्हें वह देखभाल, स्नेह-प्यार न दे सके,

जिसके कि वे हक़दार हैं। इसलिए या तो परिवार के प्रति कर्तव्य बोध या फिर अपने आप में विश्वास की कमी के कारण दीक्षा या व्रत न लेते हुए भी सामान्यजन अपनी शक्ति, सामर्थ्य के अनुसार जैन सिद्धांतों का पालन करते हैं।

ऐसे अनिश्चित रवैये के कारण जैन धर्म में एक नई रोचक आचार नीति का विकास हुआ, जिसे प्रत्याख्यान (पच्चाखान) कहते हैं। इस आचार नीति में कोई भी व्यक्ति थोड़े समय के लिए व्रत ले सकता है। इस प्रकार समयबद्ध व्रत लेकर वह कुछ निश्चित काल के लिए कुछ विशिष्ट गतिविधियों को त्याग देता है। उदाहरणार्थ कोई व्यक्ति चाहे तो सार्वजनिक रूप से या व्यक्तिगत रूप से घोषित कर सकता है कि उसने व्रत लिया है कुछ निश्चित दिनों के लिए अन्न त्याग उपवास करने का या प्रतिदिन कुछ निश्चित समय के लिए ध्यान धारणा करने का। इस प्रकार कोई चाहे तो घर-परिवार और धार्मिक जीवन के बीच संतुलन साध सकता है।

प्रारंभिक व्रत पालन से या फिर प्रत्याख्यान रीति से आचरण करने वाला व्यक्ति निश्चित रूप से एक सुसंगठित, आत्मानुशासित जीवन चर्या अपनाकर शांतिपूर्ण, आनंदपूर्ण जीवन से पुरस्कृत हो सकता है। वैसे मोक्ष लाभ व्यक्ति की साधना, तपस्या का निश्चित ही श्रेष्ठ पुरस्कार है, इसमें संदेह नहीं, किंतु व्यक्ति के स्तर पर स्वस्थ, तनावमुक्त, शांतिपूर्ण जीवन की उपलब्धि किसी भी प्रकार कम नहीं है। सामाजिक स्तर पर जैन संस्कृति जैसी कला, साहित्य एवं पांडित्य संपन्न संस्कृति का विकास शांतिकाल में ही संभव है। अत: वैश्विक स्तर पर जैन जीवन शैली को अपनाने से ही युद्ध, हिंसा और दूषित पर्यावरण से त्रस्त समकालीन विश्व में निश्चय ही समरसता, सौमनस्य और सौहार्द्रपूर्ण वातावरण बनेगा।

जैसा कि हम देख चुके हैं जैन जीवन शैली मूलभूत से निम्नलिखित तीन आचार संहिताओं में निहित है-

(1) समस्त जीवों के प्रति समान आदर **(अहिंसा)**
(2) मत-भिन्नता के लिए समादर **(अनेकांतवाद)**
(3) अपनी आवश्यकताओं को न्यूनतम करना, अपनी संपत्ति, संग्रह कम से कम रखना और संग्रह के प्रति ममत्वभाव नहीं रखना **(अपरिग्रह)**

चूंकि उक्त तीनों मूल सिद्धांतों का आरंभ 'अ' वर्ण से होता है, हम क्यों न इन्हें जैन आचार संहिता का 'अ' कारत्रय कहें? इन्हीं के साथ अचौर्य, सत्य और काम संयम जैसे नैतिक सिद्धांत जोड़ें तो हमारे सामने जैन जीवन शैली का स्पष्ट चित्र होगा। जैन औपचारिक रूप से व्रत लें, न लें, उक्त आचरण शैली स्वस्थ शरीर एवं स्वस्थ मन के लिए उनके दैनिक जीवन का अभ्यास क्रम है।

स्वस्थ शरीर

जैन जीवन शैली में आत्म-संयम पर बल दिया जाता है, अतः जैन जीवनशैली स्वास्थ्यलक्षी (तन-मन का स्वास्थ्य) बनती है। उदा.

शाकाहार- जैन जीवनचर्या में शाकाहार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। समस्त जीवों के प्रति समादर दया भाव के कारण जैन जीवन शैली अहिंसक है। फलस्वरूप मांस, मुर्गी, अण्डा, मछली आदि सभी चीजें, जो जीव की हत्या कर या उसे पीड़ित कर प्राप्त की जाती हैं, जैन धर्म में निषिद्ध हैं। इसी संदर्भ में कुछ आधुनिक जैनों ने दूध और दूध से बनी खाद्य सामग्री को भी त्याग दिया है। क्योंकि दुग्ध व्यवसाय में पशुओं के साथ क्रूर व्यवहार किया जाता है। अब 'वेगन' शब्द का प्रयोग शाकाहारी के लिए किया जाता है, जो पशुओं से प्राप्त कोई भी पदार्थ न खाते हैं, न पीते हैं। दूध से बने पदार्थ और अण्डे भी इसमें शामिल हैं। जैनों के आहार में प्रोटीन की पूर्ति दालों और फलों से होती है। शाकाहार के लाभ तो बहुत पहले से ही विदित हैं।

अल्पकालिक उपवास

कई जैन खाने की लालसा को नियंत्रित करने के लिए माह में दो-चार दिन उपवास करते हैं। मानसिक नियंत्रण की दृष्टि से यह एक प्रभावकारी अभ्यास हो सकता है। उपवास से शरीर को भी लाभ होता है। उपवास से हमारे पाचन संस्थान की सफ़ाई का मौका मिलता है। इसके अलावा उपवास के कारण यकृत में संचित 'टॉक्सिन' दूषित तत्त्व रक्त प्रवाह से होते हुए शरीर से बाहर निकलता है।

हल्का आहार - (उनोदारिका) प्रत्येक भोजन के समय पेट पूरी तरह भरने से पहले खाना बंद कर देना चाहिए। दिन-रात्रि के भोजन के बीच में कुछ खाते रहना मना है, इससे एक तरफ अपनी जीभ पर नियंत्रण का अभ्यास होता है तो दूसरी तरफ शरीर का वज़न भी सही रहता है। शरीर चुस्त रहता है, आलस्य नहीं बढता जैसा कि भारी-गरिष्ठ भोजन के बाद हम अनुभव करते हैं।

उबला पानी

अधिकांश जैनी उबला हुआ पानी पीते हैं। उबाले जाने पर पानी में पाए जाने वाले घातक बैक्टीरिया (जीवाणु) तथा उष्णता-संवेदी रासायनिक तत्त्व भी नष्ट होते हैं। चूंकि जैन आचार संहिता के अनुसार किसी भी प्रकार से जीव को नष्ट करना हिंसा है, तब पानी उबालकर पानी में स्थित जीवाणु नष्ट कर पानी पीने की बात विरोधाभासी प्रतीत होती है। इसका एक समुचित स्पष्टीकरण यह है कि भारतवर्ष की गर्म जलवायु में अधिकांश घरों में कम से कम चौबीस घण्टे पीने का पानी भरकर रखना पड़ता है। अब अगर पानी न उबाला जाए तो बैक्टीरिया अत्यधिक संख्या में पैदा होंगे और अधिक हिंसा होगी, तब दूषित पानी पीकर बीमार पड़ने से तो बेहतर होगा बैक्टीरिया नष्ट करके पानी पीना।

सूर्यास्त पूर्व भोजन (चौविहार)

जैन लोग सामान्यत: सूर्यास्त के बाद भोजन नहीं करते। सूर्यास्त से पूर्व भोजन से पाचन अच्छा होता है। नींद अच्छी आती है तथा शरीर समतोल और स्वस्थ रहता है।

स्वस्थ मन

मनः स्वास्थ्य के प्रभाव से शरीर स्वास्थ्य बनाए रखना यह जैन तप साधना के कठिन अभ्यास एवं कर्मकाण्ड की आधारशिला है। हाल ही में डॉ. हर्बर्ट बेन्सन ने (हार्वर्ड विश्वविद्यालय मन/शरीर चिकित्सा संस्थान की रिपोर्ट)[10] अपने अध्ययन में स्पष्ट किया है कि साठ से नब्बे प्रतिशत बीमारियों पर डॉक्टरों के उपचार का असर इसलिए नहीं होता क्योंकि वे बीमारियां ज्यादातर तनाव और तनाव के शरीर, मन पर असर से संबंधित हैं। केवल ध्यान धारणा से उनके बारह से सत्रह प्रतिशत मरीजों का चयापचय घट गया। ध्यान धारणा के आरंभिक तीन से पांच मिनिटों के भीतर उनकी मस्तिष्क तरंगों में स्पष्ट परिवर्तन दिखाई दिया, रक्तचाप कम हुआ और श्वास-नि:श्वास की गति कम हुई, धड़कनें सामान्य हुईं।

ऐसा ही परिवर्तन उन व्यक्तियों में भी दिखाई देता है जो तनाव रहित गहरी नींद में होते है। प्राचीन तत्त्वज्ञानी साधुओं ने जैन दैनिक धार्मिक कर्मकाण्ड की योजना भी इसी प्रकार की थी। जैनों के दैनिक कर्मकाण्ड में स्वास्थ्य के चार मूलभूत तत्त्वों का समावेश है- शारीरिक, आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक। उपर्युक्त कर्म, व्यक्ति के शारीरिक स्वास्थ्य का ख्याल रखते हैं, जबकि निम्नलिखित कर्म आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य का। अनेक जैन घरों में आत्म संयम के माध्यम से मानसिक बनाए रखने के लिए ऐसे कर्मकाण्ड एवं प्रार्थनाएं प्रतिदिन की जाती हैं।

प्रार्थना एवं पूजा (देव, गुरु वंदना)

प्रतिदिन मंदिर जाना या अपने ही घर में, पूजा-गृह में, पूजा प्रार्थना करना जैन परिवारों में नित्य का कार्य है। कई जैन घरों में तीर्थंकरों के चित्र या छोटी प्रतिमाएं होती हैं या शांतिपूर्वक ध्यान करने के लिए एक अलग स्थान होता है। इससे और कुछ नहीं तो तीर्थंकरों की शांत मुद्रा, शांत भंगिमा से मन को अद्‌भुत शांति मिलती है। अध्यात्म की ओर बढ़ने के लिए प्रेरणा मिलती है।

क्षमा याचना*

ईसाई जन भोजन से पहले ईश्वर को धन्यवाद देते हैं कि उसने उन्हें आहार दिया। इसी तरह कई जैन परिवारों में क्षमा याचना के साथ भोजन आरंभ करते हैं। वह इसलिए कि भोजन बनाने की प्रक्रिया में जिन जीवों की

---

10. बेन्सन हर्बर्ट : टाइमलेस हीलिंग पॉवर एण्ड बायोलाजी ऑफ रिलीफ़ फायर साइड ओरिजिनलस् 1997

* **खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीव खमंतु मे। मित्ति में सव्व भूएसु, वैरम मज्झम न केणइ।**
- मैं समस्त जीवों से क्षमा चाहता हूं, समस्त जीव मुझे क्षमा करें (मेरे बुरे कर्म, पाप, अत्याचारों के लिए) सब मेरे मित्र हैं, मेरी किसी से शत्रुता नहीं है।

हिंसा हुई हो या धरती मां या प्रकृति पर अत्याचार हुआ हो, उनकी मर्यादा का उल्लंघन हुआ हो तो उसके लिए क्षमा याचना की जाती है। अत: भोजन बनाते समय हत्या या पीड़ा पहुंचाने के लिए समस्त जीवों से क्षमा याचना करते हैं। क्षमा याचना उन्हें स्मरण दिलाती है कि समस्त विश्व की रक्षा के प्रति उनका क्या कर्तव्य है। क्षमा याचना की नित्य क्रिया से विनय, नम्रता और पर्यावरण के लिए सजगता अनुभव होती है।

सामयिक

प्रतिदिन कम से कम एक निश्चित समय ध्यान धारणा जैन दिनचर्या का नित्यकर्म है। ध्यान का समय 48 मिनिट होना चाहिए। सूर्योदय के समय या संध्या के समय जैन परिवारों में घर के किसी एक शांत एकांत कोने में पद्मासन लगाकर ध्यान करते हैं ताकि ध्यान करते समय किसी प्रकार से कोई व्यवधान न हो।

'सामयिक' शब्द में 'सम' शब्दांश का अर्थ है संतुलित या चित्त की स्थिरता। किसी भी प्रकार के मोह, राग, द्वेष से मुक्त। 'आय' अर्थात् मोक्ष के मार्ग पर और 'इक' अर्थात् अभिलाषा। इस प्रकार सामयिक का अर्थ हुआ संतुलन और चित्त की स्थिरता द्वारा मोक्ष की अभिलाषा। यह ऐसी धार्मिक क्रिया है, जिसमें गहन ध्यान एवं योग एकीकृत है। यह एक साथ ही आत्म-संयम द्वारा मन की शांति पाने का साधन है। अपने आपको खोजने का मार्ग भी! सामयिक के दैनिक अभ्यास से बाह्य जगत की वस्तुओं के प्रति चेतना अनासक्त होती जाती है। जैन धर्म ग्रंथों में आध्यात्मिक अनुशासन के लिए बार-बार 'सामयिक' को उत्कृष्ट साधन बताया गया है।

स्मरणीय शब्द

चौविहार	-	सूर्यास्त पूर्व भोजन
क्षमा याचना	-	क्षमा मांगना
प्रतिक्रमण	-	आत्म-स्वीकृति
शाकाहार	-	निरामिष (मांसाहार अण्डे नहीं) आहार
सामयिक	-	ध्यान
उनोदारिका	-	अल्प आहार, थोड़ा खाना
उपवास	-	छत्तीस घंटे या उससे अधिक समय के लिए अन्न सेवन बंध

प्रतिक्रमण

प्रति+क्रमण अर्थात् प्रति शब्द का अर्थ है 'तरफ' क्रमण यानी 'जाना' या 'पुन: जाना'। इसलिए प्रतिक्रमण से तात्पर्य है प्रतिदिन अपने आप से, स्वयं से पूछताछ, जांच-पड़ताल। हमारी दिन-प्रतिदिन की गतिविधियों में की गई ग़लतियों से खुद को अवगत कराना। प्रतिक्रमण हमारे अपने दोषों, अपने अपराधों की आत्मस्वीकृति है। अपराध-हमारे जाने-अनजाने किए गए कर्मों का परिणाम है या फिर दूसरों के लिए बुरा सोचने या दूसरों की बुराई करने से उत्पन्न दोष भी हो सकते हैं। जैन धर्म में आत्म-स्वीकृति के लिए अन्य धर्मों की तरह धर्म-गुरु का होना जरूरी नहीं है। लेकिन प्रतिक्रमण का परिणाम (1) नियमों का उल्लंघन करने के लिए पश्चाताप (2) बुरे विचारों एवं कर्मों का त्याग (3) भविष्य के लिए फिर से गलती न दोहराने की शक्ति का संकल्प, इन तीन रूपों में होना चाहिए।

प्रतिक्रमण मन पर नियंत्रण का ऐसा अभ्यास है जिसमें हम अपनी कमज़ोरियों पर विजय पा सकते हैं। क्षमा, विनम्रता और मनोबल के लिए प्रेरणा ले सकते हैं। इसके साथ पहले बताई गई ध्यान धारणा सामयिक का भी अभ्यास किया जा सकता है। ये आचार जैन जीवन शैली का अंग हैं। सभी जैन दीक्षा के लिए, मोक्ष के लिए प्रयत्नशील हों, ऐसा नहीं है। फिर भी अधिकांश जैन उक्त जीवन चर्या का पालन करते हैं। जितना जिस परिमाण में वे आचरण करते हैं शांति, आंतरिक प्रसन्नता का उतने ही परिमाण में वे अनुभव भी करते हैं। धार्मिक कर्मकाण्ड के द्वारा आत्म-अनुशासन और सिद्धांतों का पालन करते हुए उनमें उदारता, दूसरों के लिए समादर की भावना विकसित होती है। उनकी प्रकृति कभी आक्रामक नहीं होगी। समग्र रूप से ऐसा आचरण समाज में शांति, परस्पर सद्भावना, सहयोग और मानवता का प्रसार करता है। खण्ड चार में इस विषय पर हम विस्तार से प्रकाश डालेंगे। जिस जैन सम्यक् दर्शन से शांतिपूर्ण, स्वास्थ्यदायी दैनिक अभ्यास का विकास हुआ और जो दर्शन जैन जीवन शैली का आधार बना, उसके विषय में हम अगले खण्ड में विचार करेंगे।

सम्यक् दर्शन
(तर्कबद्ध विश्वदृष्टि)

खंड 2 : पूर्वावलोकन

खंड एक में हमने देखा कि जैन जीवन शैली सरल, संयमी, समस्त प्राणियों के प्रति आदरपूर्ण और शांतिप्रिय है। यह जीवन शैली 'अ' कारत्रय सिद्धांत अर्थात् Triple 'A's से संचालित है और अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकांतवाद सिद्धांतों से समन्वित सम्यक् आचरण कही जाती है।

व्यक्ति की जीवन शैली वस्तुत: उसकी धर्म संबंधी निष्ठा (Beliefs) और उसके विश्व दर्शन और अपनी निष्ठा को स्वीकार करने के विश्वास में है। अत: इस खंड में हम जैन सम्यक् दर्शन, एवं उसके स्थापकों की दृष्टि और सम्यक् दर्शन के पीछे स्थित तर्क पर विचार करेंगे। आचरण तभी सम्यक् होता है जब वह सम्यक् दर्शन से समर्थित होगा। इस खंड में हम जैनों के सम्यक् दर्शन के सम्यक्त्व की समीक्षा करेंगे।

छठे अध्याय में हम जैन सम्यक् दर्शन का विश्लेषण करेंगे। यथार्थ के विषय में जैन मान्यता है कि विश्व अनंत और स्वयं संचालित है। यह मानने का कोई कारण नहीं है कि ईश्वर है या उसने सृष्टि की रचना की है और वह ऐसे रहस्यात्मक ढंग से विश्व का संचालन करता है जो समझाया न जा सके। अध्याय 7 में जैन यथार्थ एवं सम्यक् दर्शन की पुष्टि में तर्कपूर्ण कारण दिए गए हैं। अध्याय 8 में विश्व का संचालन करने वाले नौ तत्त्वों का परिचय है। इसी के साथ जैन कर्म सिद्धांत भी है, जिसकी व्याख्या नौवें अध्याय में की गई है।

6

6. यथार्थ

मैंने पहली बार जब विश्वकोश में जैन धर्म के बारे में पढ़ना शुरू किया, तब मेरा ध्यान सबसे अधिक एक टिप्पणी ने आकृष्ट किया। वह टिप्पणी अपरिपक्व, संदिग्ध टिप्पणी थी कि जैन नास्तिक होते हैं। ईश्वर में विश्वास नहीं करते।

मैंने सोचा, इसमें कहीं कोई ग़लती ज़रूर है। वैज्ञानिक ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते, पर यहां तो धर्म की बात है। ईश्वर के बिना कोई धर्म हो ही कैसे सकता है। विश्वकोश की उस टिप्पणी से मैंने अपना वर्षों पुराना धार्मिक अभ्यास मन ही मन दोहराया - हर बार जैन मंदिर में जाकर वहां मैं करता क्या था? किसकी प्रार्थना करता था? मैं अपने आपको नास्तिक निश्चित ही नहीं मानता था और मैं मानता था कि मंदिरों में स्थापित प्रतिमाएं ईश्वर का ही रूप हैं। फिर भी मैंने निश्चय किया कि जैन शास्त्रों में इस कथन का स्रोत खोज निकालूंगा।

जैन धर्म में सम्यक् दर्शन की अधिकांश रचना वैज्ञानिक प्रणाली, निरीक्षण, अंतर्दृष्टि अनुभव एवं विश्लेषणात्मक निष्कर्ष पर आधारित है।

आगे जाकर यह बात जल्दी ही स्पष्ट हो गई कि जैन धर्म यद्यपि एक धार्मिक व्यवस्था है, फिर भी उसका सम्यक् दर्शन अधिकांशत: निरीक्षण, अन्तर्दृष्टि, अनुभव और विश्लेषणात्मक निष्कर्ष, एक वैज्ञानिक परीक्षण शैली पर आधारित है। चूंकि आठ हजार पांच सौ वर्ष पुराने* इस धर्म के पास न तो विज्ञान के कोई साधन थे और न ही तकनीकी ज्ञान, मगर उनकी अंतर्दृष्टि और तर्कशक्ति निश्चित ही बहुत तीक्ष्ण रही होगी। वे लोग अखंड आनंद की खोज में थे। उनकी यह सोच कि आनंद की कुंजी स्वर्ग में नहीं बल्कि स्वयं हमारे मन-मस्तिष्क में ही है- उनके स्वयं के अनुभव और निरीक्षण के आधार पर थी। एक वैज्ञानिक की भांति वे इस बात को सुनिश्चित करना चाहते थे कि यदि हमारा मन ही समस्त सुख-दुखों का स्रोत है, तो अगर हम अपना मन अपने वश में कर सकें- मन को नियंत्रित कर सकें तो क्या होगा? तब क्या हम अपने दु:खों पर, अपने प्रारब्ध पर नियंत्रण कर सकेंगे? फिर उन्होंने मन पर पूर्ण नियंत्रण पाने के लिए कठोर आत्म-संयम का अभ्यास किया, आध्यात्मिक शुद्धि का अभ्यास किया। यह विश्वास किया जाता है कि अभ्यास से एक गहन आध्यात्मिकता का, यथार्थ की एक नई समझ का, अंतिम सत्य का उन्हें बोध हुआ।

---

* जैनों की जनश्रुति के अनुसार जैनिज़्म लाखों वर्ष पुराना धर्म है। यहां इस कथन के सत्यासत्य पर विचार करने का अवसर नहीं है, किंतु हाल ही में पुरातत्त्वीय प्रमाण, प्राचीन हिंदू शास्त्र, जैन जनश्रुति हमें संकेत देती है कि रिखवदेव (ऋषभ) का समय संभवत: 6500 ई.पू. या उससे भी पहले का हो सकत है। देखें अध्याय 18

जैनों का सत्य दर्शन

तो फिर जैनों के लिए यथार्थ का स्वरूप क्या है? सत्य के प्रति उनकी सोच क्या है? इन दार्शनिकों के लिए यह बात स्वीकारना बहुत मुश्किल थी कि समस्त ऐंद्रिय ज्ञान से परे, कल्पना से परे, तर्क की सीमा से परे, कोई एक गूढ़, रहस्यपूर्ण शक्ति है, जो सुख-दुख, युद्ध, हिंसा, विनाश, बाढ़, भूकंप, जीवन-मृत्यु का कारण है। सम्यक् चिन्तन से उन्हें ज्ञात हुआ कि उक्त सभी घटनाएं प्राकृतिक हैं, उनका स्पष्टीकरण दिया जा सकता है। कारण बताया जा सकता है। स्पष्टीकरण यह कि विश्व की संरचना के मूल कारणों की, घटकों की परस्पर क्रिया के कारण उक्त घटनाएं होती हैं। इन दार्शनिकों का तर्क था कि विश्व का संचालन करने वाली कोई एक अलौकिक सर्वोच्च सत्ता के अस्तित्व की धारणा अपने आप में निराधार है। इस धारणा में कई अंतर्विरोध हैं। उन्हें प्रमाणित नहीं किया जा सकता। विश्व व्यापार को समझने के लिए उसका कोई अर्थ नहीं, कोई संबंध नहीं। यह समझने के स्थान पर कि कोई एक काल्पनिक बाह्य शक्ति है, जिसने विश्व की रचना की है, उन्होंने विश्व को स्वयं-सिद्ध, स्वयं-संचालित माना। उनके विचार से विश्व सत्य है, अनंत है, उसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता है। सत्य की खोज में जैन दार्शनिकों ने निष्कर्ष निकाला कि विश्व की रचना में छः मूलभूत तत्त्व हैं (द्रव्य)* और कुछ भी नहीं। ये ही छः द्रव्य सदा रहे हैं, ये अनंत हैं, इन्हें न तो किसी ने उत्पन्न किया, न ही कोई इनका नाश कर सकता है, यही सत्य है। जैन दार्शनिकों के अनुसार छः द्रव्यों को दो समूह में संगठित किया जा सकता है।

(1) आत्मा या चेतन द्रव्य (जीव), (2) अचेतन द्रव्य (अजीव)

जैन सम्यक् दर्शन और आधुनिक विज्ञान के बिग बैंग सिद्धांत में काफ़ी समानता है। 'विश्व के मूलभूत छः द्रव्य परस्पर क्रिया करते हैं, अपना स्वरूप बदलते हैं।' बिग बैंग सिद्धांत तो केवल छः मूल तत्त्वों की क्रिया-प्रतिक्रिया के कारण होने वाले आकस्मिक परिवर्तन की ओर संकेत करने वाली घटना है। सच तो यह है कि, ईश्वर द्वारा शून्य से विश्व की रचना की धारणा, सर्वथा तर्क शून्य है जिसका वैज्ञानिकों के बिग बैंग सिद्धांत के साथ मेल बैठाना मुश्किल है। अगर आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए कहा जाए तो जैन सहजता से अपने स्व-संज्ञान (आत्म ज्ञान) के अनुभव के प्रति ध्यान आकृष्ट करेंगे- 'मैं कौन हूं?' उनका प्रश्न होगा। और उत्तर भी वे ही देंगे। क्या यह शरीर 'मैं' हूं? क्या यह शरीर तब भी संज्ञान-युक्त होगा, जब इसमें से 'मैं' निकल जाए और शेष रह जाएगा जड़ शरीर का ढेर ? तब क्या शरीर को संज्ञान रहेगा? इन प्रश्नों के उत्तर, अपने आप में, स्वयं सिद्ध पर्याप्त प्रमाण हैं कि सचेतन जीवों में आत्मा का अस्तित्व होता है।

---

* द्रव्य शब्द का अनुवाद सामान्यतः तत्त्व (Substance) पदार्थ (Object) वस्तु के रूप में किया जाता है। ये अंग्रेजी शब्द बताते हैं कि हम किसी स्पर्श करने योग्य वस्तु का वर्णन कर रहे हैं। इससे पाठक भ्रमित होता है क्योंकि जैनों के 'द्रव्य' शब्द में दोनों- स्पर्शनीय और अस्पर्शनीय तत्त्वों का जैसे काल, आकाश आदि का समावेश होता है।

चेतन तत्त्व (जीव)

जैन धर्म के अनुसार विश्वात्मा नाम की कोई आत्मा या जीव* नहीं है बल्कि विश्व में असंख्य विशिष्ट स्वतंत्र जीव हैं। प्रत्येक चेतन प्राणी जीव और अजीव (Matter) से मिलकर बना है। विशुद्ध जीव की स्वभावगत चार विशिष्टताएं होती हैं। 1.असीम दर्शन, 2. असीम ज्ञान, दोनों (1+2 मिलकर) असीम चेतना है,** 3. असीम ऊर्जा, 4. असीम आनंद। समस्त जीव अपनी संभाव्यता में, क्षमता में, आंतरिक विशेषता में एक समान होते हैं। प्रत्येक जीवित प्राणी एक भौतिक देह में (जड़ पदार्थों से बनी देह में) बंदी जीव है। जीव सूक्ष्म द्रव्यों (पुद्गल) से क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं, अत: दूषित-अशुद्ध हो जाते हैं◆ अनादि काल से प्रत्येक जीव इसी तरह दूषित अवस्था में रहा है, परंतु मनुष्य अपने प्रयत्नों से शुद्ध-निर्दोष हो सकता है। शुद्धि की प्रक्रिया से मनुष्य यथार्थ बोध और अंतत: शाश्वत आनंद प्राप्त कर सकता है। इसके लिए किसी बाहरी मध्यस्थता की आवश्यकता नहीं है।

विशुद्ध जीव की स्वभावगत चार विशिष्टताएं होती हैं। 1.असीम दर्शन, 2. असीम ज्ञान, दोनों (1+2 मिलकर) असीम चेतना है, 3. असीम ऊर्जा, 4. असीम आनंद। समस्त जीव अपनी संभाव्यता में, क्षमता में, आंतरिक विशेषता में एक समान होते हैं।**

प्रत्येक जीव नित्य है। किसी भी जीवित प्राणी में चेतना, ज्ञान-बोध, आनंद और ऊर्जा सीमित होती है, क्योंकि वह दूषित एवं बद्ध अवस्था में होती है। जीव अपनी पूर्ण संभाव्यता, क्षमता को पूरी तरह तभी जान पाता है जब वह स्वयं को पदार्थ से पूर्ण रूप से पृथक कर विशुद्ध हो जाता है। शुद्ध आत्मा फिर कभी दूषित नहीं होती। मगर तब तक उसे बार-बार जन्म लेना और मरना पड़ता है और यह ज़रूरी नहीं कि हर बार मनुष्य का जन्म ही मिले।

पुनर्जन्म इसी पृथ्वी पर हो यह भी ज़रूरी नहीं। अशुद्ध आत्मा अपने कर्म फल के कारण इनमें से किसी भी एक रूप (गति) में जन्म ले सकती है।

---

* आत्मा संबंधी पाश्चात्य या हिंदू धारणा 'जीव' की धारणा के समान नहीं है। जीव किसी दैवी शक्ति का अंश नहीं जो पुन: अपने पूर्ण अंशी के साथ मिल जाता है। प्रत्येक जीव की अनंत सत्ता है। अपनी विशेषता, गुण हैं जिनमें से एक गुण चेतना है। जीव असंख्य हैं, प्रत्येक की अपनी पहचान है, चाहे वह मुक्त हो या बद्ध! पाठकों की सुविधा के लिए हम आत्मा और जीव शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में करेंगे।

** 19 वीं सदी के जर्मन दार्शनिक हेगल ने इस धारणा से पश्चिम को अवगत कराया- 'आत्मा स्वयं की आत्म-चेतना से भिन्न कुछ नहीं। वह केवल अपने स्व-स्वरूप को पहचानती है और एक प्रकार की शक्ति है जो आत्म-सिद्धि कराती है ताकि जो संभाव्य है वह वास्तविक बन सके।' Hegel G. W. F., The Philosophy of History, trs. J. Sibree, Dover, New York 1956, pp 17-18

◆ अध्याय 9 देखें

1. देव, 2. मनुष्य, 3. वनस्पति, पशु, कीट-तिर्यंच, 4. नारकी[Σ]। स्वस्तिक चिह्न[••] जिसमें तीन बिंदुओं से युक्त चंद्रकला है, जो जीव गति दर्शाता है। स्वस्तिक के चार खाने चार गति के प्रतीक हैं। चंद्रकला शुद्ध मुक्त आत्मा का प्रतीक है। आत्मा प्रत्येक जन्म-चक्र के दौरान स्वयं को कुछ संलग्न पदार्थ कणों से मुक्त करती है और स्वयं नए पदार्थ कणों को आकृष्ट कर उनसे (पुद्गल कणों से) जुड़ भी जाती है। लेकीन जन्म-मृत्यु के अंतहीन चक्र में एकमात्र मनुष्य जन्म ही है जब हम संज्ञान, सोद्देश्य, सहेतुक तरीके से आत्मा की पूर्ण शुद्धि के लिए प्रयत्न कर सकते हैं और उसे मुक्त भी करा सकते हैं। इस मुक्तावस्था को मोक्ष, निर्वाण या मुक्ति शब्दों से व्यक्त किया जा सकता है।

अन्य देहधारी प्राणियों के विषय में क्या होता है? क्या वे अपनी आत्मा की मुक्ति के लिए प्रयत्न नहीं कर सकते? इन सवालों के जवाब के लिए हमें कर्म सिद्धांत को समझना होगा। फिलहाल तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि केवल मनुष्य (स्वर्ग के देव गति वाले भी नहीं) मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्य से प्रयत्न करने में सक्षम हैं। असंख्य जीवों की यह विस्तृत अवधारणा उनकी शुद्धि, जन्म-पुनर्जन्म का चक्र, तीर्थंकरों द्वारा बनाए गए मोक्षमार्ग की ओर उन्मुख होना यही जैन सम्यक् दर्शन का केन्द्रीय बिंदु है।

अचेतन तत्त्व (अजीव)

जैन दार्शनिकों ने समस्त अचेतन (अजीव) द्रव्यों को पांच प्रकारों में विभाजित किया है। प्रत्येक की अपनी विशिष्टता है। उनमें स्वभावगत समानता एक ही है-चेतना रहित होना, चेतना प्राप्त करने की अक्षमता। उक्त पांच अचेतन तत्त्व इस प्रकार हैं-

(1) पुद्गल अस्तिकाय (2) आकाश अस्तिकाय (3) धर्म अस्तिकाय
(4) अधर्म अस्तिकाय (5) काल

इस प्रकार जीव सहित छः मूल द्रव्य हैं, ये ही जैन धर्म के सम्यक् यथार्थ के संघटक द्रव्य हैं। ये सभी द्रव्य विद्यमान हैं, सत्य हैं, अनंत हैं और तर्क की कसौटी पर स्वीकार्य हैं। उनकी अपनी स्वभावगत (आंतरिक) विशेषताएं हैं और वे बोध-ज्ञान की दृष्टि से ग्राह्य हैं। इनमें से कोई भी द्रव्य नाशवान नहीं है और न ही उत्पाद्य। इनका विनाश और निर्माण दोनों संभव नहीं है। परस्पर क्रिया के कारण इन द्रव्यों के रूप में परिवर्तन हो सकता है, किंतु एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में रूपांतरित नहीं हो सकता।

Σ जैन विश्व दर्शन में स्वर्ग-नरक की एक समान धारणा है जिन्हें देवलोक और नरक कहा जाता है। वे स्थायी निवास नहीं हैं। आत्मा वहां जन्म लेती है पर उक्त स्थानों में जन्म लेने के लिए उत्तरदायी कर्म जब फलित होते हैं तब आत्मा उक्त निवास छोड़कर अन्य तीन गतियों में फिर से जन्म लेती है।

•• बीसवीं सदी में एडोल्फ हिटलर ने अपने मिथ्या अहंकार और दुष्ट शक्ति-प्रवृत्ति के प्रतीक रूप में स्वस्तिक का अशुद्ध रूप अपनाया था।

पुद्गल

आत्मा की भांति पुद्गल के भी असंख्य सूक्ष्म अंश, इकाईयां (units) होती हैं। पुद्गल के सबसे सूक्ष्म अविभाज्य अंश को 'अणु' कहते हैं। पुद्गल के कण संघात में होते हैं या स्वतंत्र, एकल अनिरंतर (Non-Continuous) होते हैं। वे लोकाकाश में रहते हैं। उनका आकार और रूप (Form) भी होता है। संयुक्त रूप से होने पर उनमें स्पर्श, गंध, स्वाद, वर्ण होते हैं, जिन्हें हम सरलतापूर्वक देख सकते हैं, स्पर्श कर सकते हैं, वे इन्हीं सूक्ष्म अणुओं का कुछ परिणाम हैं। पुद्गल अणुओं के विभिन्न संयोग, विभिन्न पदार्थों की रचना करते हैं। अणु शब्द प्राय: 'ॲटम' शब्द में भाषांतरित होता है मगर अणु के संबंध में जैन धारणा है कि अणु अत्यंत सूक्ष्म अविभाज्य, पुद्गल का परम सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण है। ॲटम से भिन्न सभी अणु एक समान होते हैं।

आकाश

आकाश वह सत्ता है, जो समस्त द्रव्यों को अवस्थिति प्रदान करती है, अर्थात् आकाश समस्त द्रव्यों का आवास है। आकाश असंख्य 'प्रदेशों' (प्रदेश-आकाश की इकाई) से भरा है। आकाश अस्तिकाय है- यानी बहुप्रदेशी है। किंतु जीव एवं पुद्गल की तरह प्रदेश स्वतंत्र नहीं। आकाश- प्रदेश सातत्यक (continuum) होते हैं और परस्पर अभिन्न होते हैं। आकाश को दो भागों में विभाजित किया जाता है। लोकाकाश और अलोकाकाश। सभी द्रव्य लोकाकाश तक ही सीमित रहते हैं। हालांकि अलोकाकाश अस्तित्व शून्य है, वहां किसी की अवस्थिति नहीं है सिवाय स्वयं की असंख्य प्रदेश इकाईयों के। लोकाकाश का विस्तार अलोकाकाश में सैद्धांतिक रूप से संभव है।

धर्म और अधर्म गति और स्थैर्य का माध्यम

गति एवं स्थैर्य माध्यम का कार्य जीव एवं पुद्गल तथा अन्य मूल तत्त्वों के स्वतंत्र अंश को या सामूहिक कुल अंश को गति (स्वरूप में परिवर्तन) और विश्राम (स्थैर्य) में सहायता देना है। आकाश की भांति, दोनों धर्म, अधर्म के माध्यम असंख्य इकाईयों से निर्मित हैं। वे सभी सातत्यक (continuum) हैं और समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं। द्रव्यों के स्वरुपों में परिवर्तन अथवा स्थिरता धर्म/अधर्म के कारण संभव है।

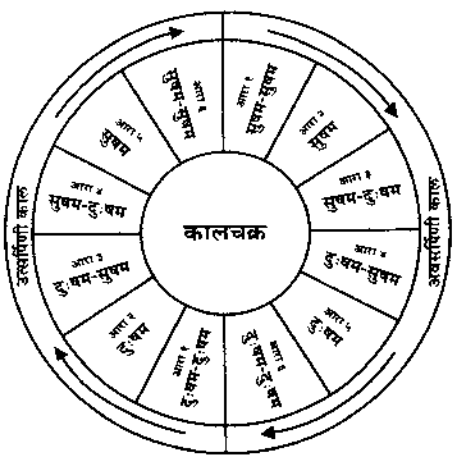

काल

काल अन्य सभी द्रव्यों में परिवर्तन का साधन है। काल वास्तव में असंख्य इकाईयों से बना है जो अनिरंतर (non-continuum) हैं। (आकाश और धर्म/अधर्म के माध्यम की तरह नहीं जिनका अस्तित्त्व सातत्यक होता है) काल की इकाईयां जैसे सैकंड, मिनिट, घण्टे और दिन आदि

केवल रूढ़िगत काल के व्यावहारिक रूप हैं, न कि वास्तविक। जैन काल धारणा पाश्चात्य धारणा से भिन्न है। काल की पाश्चात्य धारणा सरल, सीधी प्रगति के रूप में मानी जाती है। जैन धारणा काल की गति को चक्र (चक्राकार), रूप में मानती है।

इस धारणा के अनुसार काल का न तो आदि है, न अंत। सृजन एवं विनाश काल की अनंत प्राकृतिक प्रक्रिया है। काल का पूर्ण काल दो अर्द्ध चक्रों से बना है।* इसमें से आधा चक्र उत्सर्पिणी काल का और शेष आधा चक्र अवसर्पिणी काल का द्योतक है। उत्सर्पिणी अवधि में संपूर्ण विश्व की संपूर्ण वस्तुएं जैसे कि ज्ञान, सुख, मानव और प्राणी, प्रकृति, जीवन की अवधि आदि में क्रमश: सुधार होता है। जब उत्सर्पिणी की उच्च स्थिति प्राप्त होती है तब दूसरा अर्द्ध चक्र आरंभ होता है। तब स्थिति क्रमश: बिगड़ने लगती है जब तक कि पुन: उत्सर्पिणी अवधि का आरंभ नहीं होता।

प्रत्येक अवधि में छ: आरा होते हैं। सुख-समृद्धि, स्वास्थ्य, आयु-अवधि इत्यादि का स्तर एक आरा से दूसरे आरा में भिन्न होता है। उदाहरणार्थ, अवसर्पिणी काल का प्रथम आरा सबसे अधिक समृद्ध और स्वर्गोपम होता है, (सुखी-सुखी) सुख उत्तरोत्तर आरा के साथ घटता जाता है, जब तक कि हम छठे आरा तक नहीं पहुंच जाते जो कि सर्वाधिक दुखदायी है। (दुखी-दुखी)। उसके बाद पुन: उत्सर्पिणी अवधि शुरू हो जाती है। समृद्धि, दीर्घायु और सुख इन्हीं छ: आरा द्वारा उत्सर्पिणी अवधि में बढ़ते हैं तब तक, जब तक

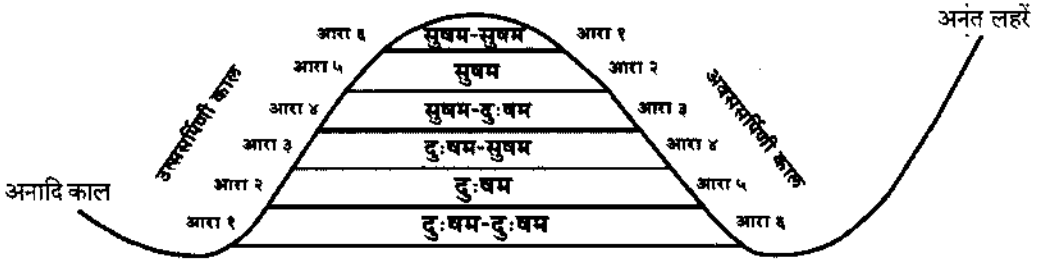

हम स्वर्गोपम समय में नहीं पहुंच जाते। यह चक्र इसी प्रकार नित्य चलता रहता है। चौथा आरा (दु:खी-सुखी) दोनों कालावधि में मानव सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के लिए सर्वोत्तम माना जाता है। इस काल में कई महान व्यक्तियों का, तीर्थंकरों का उदय होता है, जो मोक्ष लाभ प्राप्त कर संसार को मार्ग दिखाते हैं। चक्राकार काल की धारणा जैनियों के लिए महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सीधी, सरल रेखा में काल गणना करने पर

* प्राय: सभी ग्रंथों में काल पारंपरिक रुप से पूर्ण मंडलाकृति में चित्रित किया गया है - दो अर्द्धभागों सहित। एक अर्द्ध भाग दर्शाता है उत्सर्पिणी काल (Ascending period) और दूसरा भाग दर्शाता है अवसर्पिणी काल (Discending period)। लेखक के विचार में इसका अर्थ है, सब पलटकर उसी बिंदु पर लौट आता है अर्थात् विश्व में कहीं कोई सच्ची प्रगति नहीं है। काल का इससे अधिक सही चित्र लहरों के रूप में होगा। यदि काल का वर्णन लहर के रूप में हो जिसमें शिखर उत्सर्पिणी काल का और गर्त का (नीचे का) भाग अवसर्पिणी काल का अंत दर्शाता हो। लहर का रूप स्वयं अनंत का द्योतक है- न आदि - न अंत।

काल आदि और अंत सहित होगा, उसका निहितार्थ होगा कि हर वस्तु का उदय होता है और अंत होता है या अंत कर दिया जाता है। आरंभ में उसका निर्माण किया जाता है और फिर अंत जहां आदि - अंत है वहां निर्माण और विनाश भी है। लेकिन ऐसा चक्राकृति काल के संबंध में संभव नहीं, क्योंकि विश्व-रचना के छः मूल तत्त्वों में से काल एक है- अनंत और अविनाशी। हम, हमारी सभ्यता हमारा ग्रह पृथ्वी सभी छः मूल तत्त्वों के पर्याय हैं और परिवर्तित हो सकते हैं। जैन शास्त्र ग्रंथों में काल के कार्य इस प्रकार हैं-

निरंतर सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिवर्तन का अस्पष्ट आभास, दृश्यमान रूपांतरण, गतिविधि, पूर्वत्व एवं उत्तरत्व सभी काल के कार्य हैं।[11]

इस प्रकार काल के बिना परिवर्तन संभव नहीं और नही आत्मा की शुद्धि भी।

स्पष्ट विरोधाभास

जैन छः मूल द्रव्यों के स्थायित्व का दावा करते ज़रूर हैं, पर साथ ही यह भी मानते हैं कि उनका रूप परिवर्तित होता है। रूप परिवर्तन द्रव्यों की परस्पर क्रिया (Ineter action) के परिणामस्वरूप होता है, तो क्या परिवर्तन से मूल द्रव्य नष्ट नहीं होता? ''नहीं, ऐसा नहीं होता'' जैन दार्शनिकों का उत्तर होगा। असल में छहों द्रव्य स्थायी (नित्य) भी हैं, और अनित्य (परिवर्तनशील) भी ''यह दोगली बात कैसी?' आप शायद कहेंगे ''कैसे कोई एक साथ नित्य और अनित्य दोनों हो सकता है?''

यहां एक दार्शनिक की सहजबुद्धि दृष्टि दिखाई देती है। जैन दृष्टिकोण के अनुसार किसी पदार्थ की मूल पहचान दो बातों पर निर्भर है-

(1) पदार्थ की अंतर्वर्ति स्वाभाविक प्रकृति (गुण) से तथा (2) पदार्थ के रूप अथवा पर्याय से।

जहां गुण पदार्थों में अंतर दर्शाता है, वहीं रूप उसी पदार्थ के विविध रूपांतर दर्शाता है। गुण तथा रूप सदा एक-दूसरे के साथ होते हैं और कोई भी पदार्थ दोनों में से किसी के बिना नहीं होता।

हमारे मन में यह बात बैठा दी गई है कि हर पदार्थ का आरंभ होता है, कुछ काल के लिए अस्तित्व में रहकर वह नष्ट हो जाता है। जैन इसे सही नहीं मानते। उनकी मान्यता है कि प्रायः हम जो देखते हैं वह पदार्थ का विभिन्न रूपांतरण है। द्रव्यों के बीच जो क्रिया-प्रतिक्रिया होती है उससे हमें लगता है कि द्रव्य बदल गया है। जबकि सच तो यह है कि उसका रूप बदल गया है, लेकिन उसका मूल स्वभावगत गुण नहीं बदला। द्रव्य अपने अंतर्वर्ति गुण को खोए बिना नित्य, स्थायी बना रहता है। पदार्थ की सत्ता वही रहती है, जबकि पदार्थों

(11) उमास्वाति: तत्त्वार्थ सूत्र, द्वितीय सदी ग्रंथ, खंड 22

का रूप परिवर्तनशील है। अत: हम कहते हैं कि कोई नई वस्तु बनी, कुछ काल रहकर नष्ट हो गई। दूसरे शब्दों में अपनी अंतर्भूत विशिष्टता में मूलभूत छ: द्रव्य नित्य रहते हुए भी अनित्य होने का आभास दिलाते है।

इस संबंध में सोने के सिक्के का उदाहरण लें। सुनार सोने के सिक्के का रूपांतर हार बनाने के लिए करता है। तब सिक्का नहीं रहा, क्योंकि उससे हार बना। बाद में हार से अंगूठियां बनाईं तो हार का रूपांतर अंगूठी में हुआ। हालांकि अंगूठियां बनाने के लिए सिक्का और हार नष्ट हुए फिर भी मूल द्रव्य स्वर्ण तो रहा ही। भले ही वह विभिन्न रूप - आकृति (सिक्का-हार-अंगूठी) में परिवर्तित हुआ मगर स्वर्ण अपनी मूल विशेषता के साथ स्वर्ण ही रहा। यही उसकी नित्य प्रकृति है। तात्पर्य यह कि द्रव्य का, ध्रौव्य नष्ट नहीं होता। इसी प्रकार जैन यथार्थ के अनुसार मूल छ: द्रव्य नित्य और अनित्य दोनों ही हैं। यह हमारे बोध पर निर्भर करता है और इस पर भी कि हमारी बुद्धि पदार्थ के अंतर्वर्ती विशिष्ट गुण पर है या परिवर्तित पर्याय रूप पर।

जिन लोगों ने आत्मा की मुक्ति का लक्ष्य प्राप्त किया है, जो मुक्त हुए हैं, वे ही जैनों के पवित्र जीव हैं। यही नहीं अनंत ज्ञान (सर्वज्ञान) प्राप्त कर मोक्ष के मार्ग पर स्वयं चलकर औरों को मोक्ष मार्ग दिखाने वाले ऐसे महापुरुष उनके श्रेष्ठ आदर्श हैं। वे ही चौबीस तीर्थंकर हैं- शांतिमूर्ति मुक्तिदाता।

देवता, साधु और मंदिर

हमारे पूर्व कथन से कि जैन धर्म में सृष्टिकर्ता कोई ईश्वर नहीं है, यह प्रतीत होता है कि जैन नास्तिक हैं, अनीश्वरवादी हैं। लेकिन जैनों ने भारत में अनेक भव्य और सुंदर मंदिरों का निर्माण किया है। भारत ही नहीं, भारत से बाहर अन्य देशों यथा - ब्रिटेन, उत्तर अमेरिका में पूजा स्थल बनवा रहे हैं। इन मंदिरों में उन्होंने सैकड़ों प्रतिमाओं की स्थापना की है। मूर्तियां अधिकतर या तो ग्रेनाइट पत्थर की हैं, या संगमरमर की। लगभग सभी प्रतिमाएं एक समान हैं, या तो बैठी स्थिति में या फिर बिलकुल सीधी खड़ी हैं। हाथ और बाहु शरीर के दोनों तरफ बंधे हुए, गहरी ध्यान-मुद्रा में हैं। जैन इन मूर्तियों की पूजा करते हैं, प्रार्थना करते हैं। यदि जैन ईश्वर में विश्वास नहीं करते तो इतने सारे मंदिरों का निर्माण क्यों करते? ये मूर्तियां किइकी हैं? किइकी प्रार्थना करते हैं? किइकी पूजा करते हैं?

स्मरणीय शब्द

अधर्म	-	स्थिति का माध्यम
आकाश	-	अंतरिक्ष
अलोकाकाश	-	जहां द्रव्य की अवस्थिति नहीं है
अणु	-	अविभाज्य परम सूक्ष्म कण
धर्म	-	गति का माध्यम
द्रव्य	-	छ: यथार्थ तत्त्व
काल	-	अनंत समय
लोकाकाश	-	जहां द्रव्यों की अवस्थिति है
पुद्गल	-	अजीव में से एक द्रव्य
संसार	-	जन्म-मृत्यु का चक्र

जैनों के लिए ईश्वर विश्व का नियंत्रण करने वाली कोई अद्भुत अलौकिक सत्ता नहीं है। उनके लिए ईश्वर एक आदर्श है। चूंकि हर जैन श्रावक का लक्ष्य आत्मा की मुक्ति है। अत: जिन लोगों ने आत्मा की मुक्ति का लक्ष्य प्राप्त किया है, जो मुक्त हुए हैं, वे ही जैनों के पवित्र जीव हैं। यही नहीं अनंत ज्ञान (सर्वज्ञान) प्राप्त

जैन यथार्थ बोध

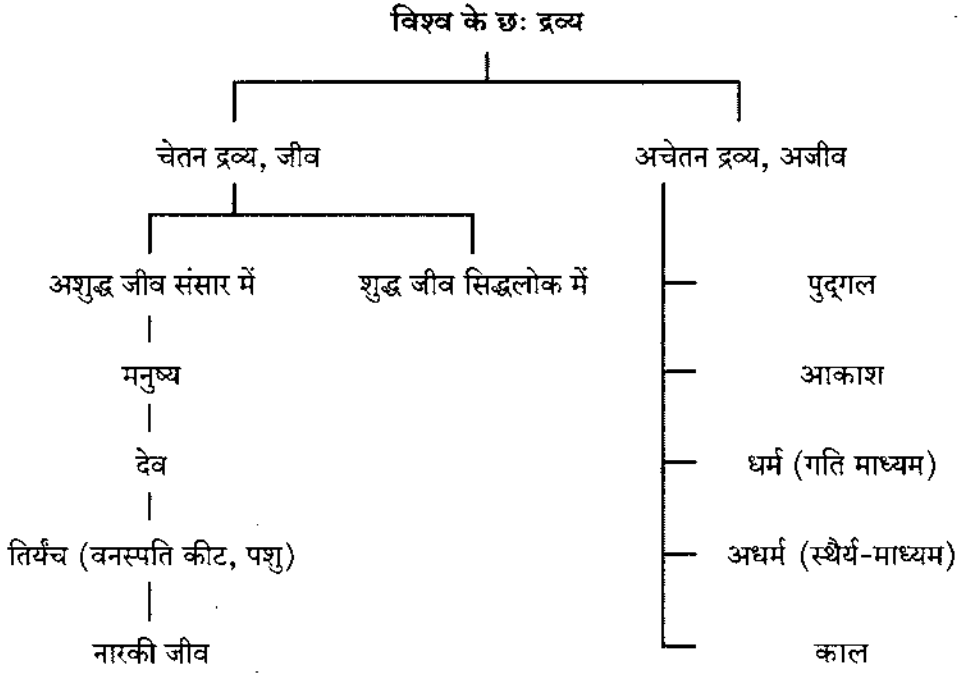

कर मोक्ष के मार्ग पर स्वयं चलकर औरों को मोक्ष मार्ग दिखाने वाले ऐसे महापुरुष उनके श्रेष्ठ आदर्श हैं। वे ही चौबीस तीर्थंकर हैं- शांतिमूर्ति मुक्तिदाता। इन्हीं के लिए जैनों ने मंदिर स्मारक बनवाए हैं। मंदिरों में स्थापित मूर्तियां इन्हीं तीर्थंकरों की हैं। जैनों की प्रार्थनाएं, उनकी अर्चना, इन्हीं गुरुओं के चरणों में समर्पित हैं, जिन्होंने अथाह संसार, सागर या जन्म-मृत्यु के उस पार परम आनंद की प्राप्ति के लिए एक सरल मार्ग बताया है।

उन्हीं की प्रार्थना, आराधना, ध्यान धारणा से जैन मोक्ष मार्ग पर आगे बढ़ने की प्रेरणा प्राप्त करते हैं। सहज शांति-मूर्ति, तीर्थंकरों के, मोक्ष दाताओं के अलावा और भला कौन ऐसी प्रेरणा दे सकता है। उनकी प्रार्थना के द्वारा जैन अपने बुरे कर्मों के लिए दया या छुटकारा नहीं मांगते, क्योंकि वे अच्छी तरह से जानते हैं कि वे और केवल वे ही, अपने कर्मों का फल चुका सकते हैं। क्षय कर सकते हैं। जैन प्रार्थना एक अवसर है, चिन्तन का, जब उपासक अपने महान गुरु के आदर्शों का दृष्टांत अपने सामने रखकर अपने आपको तदनुसार संवारने की शक्ति, सामर्थ्य चाहता है। वे तीर्थंकरों की या ईश्वर की दैवी मध्यस्थता नहीं मांगते। सच तो यह है कि तीर्थंकर पूर्णतया मुक्त आत्माएं हैं। वे किसी भी तरह से उपासक की समस्या सुलझाने में सहायता नहीं कर सकते और न ही हस्तक्षेप कर सकते हैं। हां, वे उन्हें प्रेरणा ज़रूर दे सकते हैं। हो सकता है कि पूजा-

अर्चना के समय, एक आम व्यक्ति की प्रार्थना, एक साधु या जैन विद्वान की प्रार्थना से भिन्न हो। अपनी परिस्थितियों से त्रस्त अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए चुनौतियों से भरे कठिन जीवन-संघर्ष से जूझ रहा कोई व्यक्ति किसी के चमत्कारपूर्ण बीच-बचाव की इच्छा करे, तो यह अस्वाभाविक भी नहीं है। मानव स्वभाव की इस कमज़ोरी को जान-समझकर ही जैनों ने बाद में अनेक देवी-देवताओं की भी प्रतिस्थापना अपने मंदिरो में की है। उनमें से अधिकांश देवी-देवता हिंदू धर्म से लिए गए हैं।

उनमें से कुछ देवता संरक्षक - सहायक माने जाते हैं। उदाहरणार्थ - इंद्र और इंद्रायणी की नित्य पूजा ही नहीं होती बल्कि जैन उत्सव-समारोहों में खेले जाने वाले नाटकों में तीर्थंकरों के स्वर्गीय सेवकों के रूप में इन्द्र-इंद्राणी की भूमिका भी की जाती है। जैन पुराणों में संरक्षक देवताओं (शासन देवताओं) का उल्लेख है। ये देवता मोक्ष साधना के मार्ग पर चलने वाले भावी तीर्थंकरों के सहायक, रक्षक और सेवक माने जाते हैं। कुछ मुख्य देवता इस प्रकार हैं- चक्रेश्वरी, पद्मावती, धरणेन्द्र और गणेश (गणेश को पार्श्व-यक्ष भी कहा जाता है)। जैन मंदिरों में प्राय: मुख्य स्थान छोड़कर अन्य स्थलों में उनकी मूर्तियां होती हैं। जैन मंदिरों में जाने वाले सर्वसाधारण लोग भी यह बात अच्छी तरह जानते हैं कि उनके कर्म दोषों के लिए, दु:खों के लिए, वे स्वयं ज़िम्मेदार हैं। चाहे तीर्थंकर हों या अन्य शासन देवता, उनसे किसी प्रकार की मध्यस्थता या दु:खों से राहत की अपेक्षा नहीं की जा सकती। फिर भी इन देवी-देवताओं की पूजा से कुछ आशा ज़रूर करते हैं।

स्मरणीय शब्द

अनित्य	-	परिवर्तनशील संक्रमणशील गमनागमन करने वाले
गुण	-	विशेषता, विशिष्टता
नय	-	विचार, वक्ता का अभिप्राय या वस्तु का एकांशग्राही ज्ञान
पर्याय	-	रूप
प्रमाण	-	संपूर्ण वस्तु का ज्ञान
सप्तभंगी	-	वस्तु के स्वरूप की व्याख्या सात कोणों से करना
स्याद्	-	एक विशेष अर्थ में या विचार दृष्टि से
स्याद्वाद	-	विषय प्रतिपादन की निर्दोष कथन शैली

एक मूर्ति पूजक जैन व्यक्ति के लिए निकट के किसी जैन मंदिर में जाना उसका नित्यकर्म है। मंदिर में न कोई पुजारी होता है, न कोई प्रवचन। जैन मंदिर जाना, मूर्ति के समक्ष शांत भाव से ध्यान करना, प्रार्थना करना, अपने कर्मबंध से मुक्ति के लिए स्वयं को सचेत - सावधान करना, अंतिम लक्ष्य, मोक्ष का ध्यान रखना, तीर्थंकरों के साहस और संकल्प से प्रेरणा ग्रहण करना उनके बताए मोक्ष मार्ग पर निरंतर चलने का प्रण करना यही नित्यकर्म है। तीर्थंकरों की पूजा में प्राय: स्तुति गान, धर्मग्रन्थों से पठन-पाठन या फिर केसर - चंदन से प्रतिमा का लेपन किया जाता है।

सर्वाधिक पवित्र जैन प्रार्थना 'णमोकार मंत्र' का जाप जैन उपासकों द्वारा बारंबार किया जाता है। मंत्र में उपासक केवल किसी एक विशिष्ट व्यक्ति को या तीर्थंकर को ही नहीं, बल्कि समस्त आध्यात्मिक मार्गदर्शकों को अपनी श्रद्धा समर्पित करते हैं। प्रार्थना उसे याद दिलाती है उन महान आत्माओं की जो आत्मा की पूर्ण शुद्धि में उसे पूरा प्रोत्साहन देती हैं, उसे प्रेरित करती हैं। उक्त मंत्र अर्थ सहित यहां प्रस्तुत है।

णमो अरहन्ताणं

(मैं प्रणाम करता हूं और उन आत्माओं से प्रेरणा चाहता हूं जिन्होंने अपने आप पर पूर्ण विजय प्राप्त की, केवलज्ञान प्राप्त कर हमें मोक्ष का मार्ग दिखाया।)

णमो सिद्धाणं

(मैं प्रणाम करता हूं और समस्त पूर्ण शुद्ध, पूर्ण मुक्त आत्माओं से प्रेरणा चाहता हूं।)

णमो आयरियाणं

(मैं प्रणाम करता हूं और धार्मिक श्रेणी प्रमुखों से प्रेरणा चाहता हूं।)

णमो उवज्झायाणं

(मैं प्रणाम करता हूं और धर्म शास्त्र के उपाध्यायों से, गुरुओं से प्रेरणा चाहता हूं।)

णमो लोए सव्व साहूणं

(मैं प्रणाम करता हूं और विश्व के समस्त साधु एवं साध्वियों से प्रेरणा चाहता हूं।)

एसो पंच नमोक्कारो
सव्व पाव पण्णासणो
मंगलानम् च सव्वेसिम्
पढमम हवइ मंगलम्

(इन पांच प्रकार की महान आत्माओं को प्रणाम जो मेरे पापकर्मों को नष्ट करने में सहायक होंगी। ये प्रणाम मंत्र सर्व मंगलों में मंगलदायी और सबको आनंद और शांतिदायी हैं।)

मंदिरों द्वारा एक और महत्त्वपूर्ण कार्य सिद्ध होता है, वह कार्य है सामाजिक अनुबंध और जैन समाज की विशिष्ट पहचान का। जैन दर्शन और जैन आचरण संहिता तो यह संकेत करते हैं कि धर्म व्यक्ति का व्यक्तिगत मामला है। यह सच है, जैन धर्म की यह शिक्षा है कि हर व्यक्ति अपने कर्म के लिए स्वयं ज़िम्मेदार है और

आत्मानुशासन एवं तपस्या से ही कर्म परिणाम नष्ट किए जा सकते हैं। निश्चित ही धर्म का यह व्यक्तिगत - निजी पक्ष है। फिर भी धर्म प्राय: संस्थागत संगठन के रूप में किसी समाज की आध्यात्मिक और सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। जैन मंदिरों की उत्तरोत्तर लगातार बढ़ती संख्या से समझा जा सकता है कि मंदिर एक सर्वथा व्यक्तिगत धर्म की सामूहिक अनिवार्य मांग है।

मंदिर वह स्थान है, जहां समाज के लोग एकत्र होते हैं। मंदिरों में प्राय: सामूहिक पूजन के अवसर पर कोई प्रवचन नहीं होता, कोई साधु अथवा साध्वी पूजा संपन्न नहीं कराता। सामूहिक पूजन में भक्ति संगीत और नृत्य तक होता है। सामूहिक पूजा प्रसंग अधिकतर एक सामाजिक समारोह है, जिस पर आध्यात्मिक रंग कुछ गहरा होता है। ऐसे अवसरों का लाभ ज्यादातर चंदा एकत्र करने में होता है जिससे मंदिरों का रखरखाव या अन्य कोई सामाजिक उद्देश्य पूरा किया जा सके। उत्तर अमेरिका और यू.के. में कुछ ही वर्षों पहले जैन देशांतर करके बसे हैं, मंदिरों समाज-भवनों का निर्माण किया है। यदि कुछ व्यक्तियों ने आगे बढ़कर नेतृत्त्व न किया होता तो देशांतरण करने वाले जैन शायद सामाजिक एवं आध्यात्मिक रूप से कटकर अलग-थलग पड़ जाते।

स्मरणीय शब्द

अरहन्त - केवली जो मोक्ष मार्ग दिखाते हैं
आयरिया - साधु/साध्वी श्रेणी प्रमुख आचार्य
भट्टारक - एक प्रशासक-पुरोहित (साधु नहीं)
घी बोली - मंदिर के लिए धन-संग्रह की विशेष प्रथा
णमो - सादर प्रणाम
पूजा - आराधना अर्चना
पुजारी - मंदिरों में मूर्तियों की सेवा, देखभाल और पूजा में सहायता करने वाला
साहू - साधु/साध्वी /तपस्वी
उवज्झाय - शास्त्र सिखाने वाले तपस्वी, उपाध्याय

श्री चित्रभानु (पूर्व साधु) और दिवंगत सुशील कुमार (सुधारक जैन साधु ऐसे पंथ के थे, जो मंदिर में पूजा आदि में विश्वास नहीं करते थे) जैसे दृष्टा मनीषियों ने 1970 में उत्तर अमेरिका की यात्रा की और जैन समाज को एकत्रित होकर सामाजिक संगठन बनाने के लिए, जैन मंदिर निर्माण करने के लिए प्रेरित किया। उन्हीं के प्रयत्नों से कॅनाडा और अमेरिका के प्रमुख शहरों में कई जैन मंदिर और साठ से भी अधिक जैन संस्थाएं हैं। हर दो साल में दस हज़ार से भी अधिक जैनों के एक प्रमुख संगठन के तत्त्वावधान में सम्मेलन आयोजित होता है। वह संस्था है- जैना। (JAINA-Federation of Jain Associations of North America)

कई लोगों का अनुमान है कि मंदिर, मूर्ति और पूजन, जैनों ने हिंदुओं से ग्रहण किया है। किंतु तीर्थंकर की प्रतिमा होने का लिखित प्रमाण ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में खरवेला के शिलालेख में मिलता है। हां, इतना ज़रूर है कि आरती, प्रतिमा का स्नान, शृंगार, पुष्प चढ़ाना, फल चढ़ाना, भजन गाना आदि धार्मिक कर्मकाण्ड दोनों धर्मों में समान हैं। इनमें से अधिकांश कर्मकाण्डों के विषय में जानकारी आठवीं सदी के जैन साधु जिनसेन से ज्ञात होती है। उस समय बहुसंख्यक हिंदू समाज से अल्पसंख्यक जैन समाज को खतरा था। इसलिए दोनों के बीच संभावित विरोध को कम करने की दृष्टि से जिनसेन ने हिंदुओं के कुछ रीति-रिवाज, पूजा-पाठ से संबंधित कर्मकाण्डों को अपनाया था। यद्यपि पूजा-पाठ से संबंधित कर्मकाण्ड का वास्तविक उद्देश्य मोक्ष का लक्ष्य बनाए रखना ही है किंतु भ्रांति के कारण आम

लोगों के लिए कर्मकाण्ड का मतलब मोक्ष की प्राप्ति की योग्यता पाना रह गया है। इसीलिए प्राय: कई लोग मानते हैं कि फल-फूल चढ़ाने से, आरती आदि कर्मकाण्ड करने से या घी बोली से मोक्ष मार्ग पर आध्यात्मिक यात्रा में गति तीव्र होगी।*

समाज के संगठन में मंदिरों, कर्मकाण्डों की तथा साधु-संन्यासियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। साधु-साध्वियां मंदिरों में हररोज़ प्रवचन नहीं करते, कोई पुरोहिताई-पंडिताई नहीं करते, लेकिन समाज में कर्म संबंधी सोच-समझ को बढ़ाते हैं। यह उनकी सेवा है। उनके अपरिग्रह व्रत के कारण वे किसी एक स्थान पर अधिक दिन नहीं रह सकते। केवल चातुर्मास में (वर्षा ऋतु के चार महीने), वर्षा के कारण प्रवास कठिन होता है। अत: वर्षा काल छोड़कर शेष समय साधु, साध्वी, निरंतर प्रवास करते रहते हैं। नंगे पैर, पैदल गांव-गांव, नगर-नगर में घूमते रहते हैं। कुछ काल आश्रय मिल जाता है तो मंदिरों से लगे उपाश्रय गृहों में, कमरों में ठहर जाते हैं। इस कुछ देर के ठहरने के दौरान सामान्य लोग उनकी धर्मचर्चा सुनते हैं। जैन धर्म एवं दर्शनशास्त्र के तत्त्वों को जानने-समझने की कोशिश करते हैं। किसी जैन साधु/साध्वी का आगमन जैन समाज में बहुत बड़ा सुअवसर माना जाता है। सर्वसामान्य जन साधु-साध्वियों का बहुत आदर, सम्मान करते हैं। यदि कोई साधु-साध्वी अतिथि के रूप में उनके घर पधारे और भोजन की याचना करे तो यह उनके लिए सम्मान और गौरव की बात होती है। साधारण लोग निरंतर भ्रमण करने वाले तपस्वी, साधु/साध्वियों पर आध्यात्मिक मार्ग दर्शन के लिए निर्भर होते हैं और साधु-साध्वी जनसाधारण पर सहारे के लिए निर्भर होते हैं। दोनों की पारस्परिक निर्भरता के कारण जैन धर्म हज़ारों वर्षों से केवल जीवित ही नहीं, बल्कि तीर्थंकरों की मूल शिक्षा के प्रति निष्ठावान भी है।

तीर्थंकर

जैन धर्म के अध्यात्म गुरु हैं - तीर्थंकर। माना जाता है कि कठोर तपस्या, साधना के द्वारा वे तेरहवें गुणस्थान-सयोग केवली की स्थिति तक पहुंच चुके हैं, सर्वज्ञान प्राप्त कर चुके हैं और मोक्ष पाने से पहले मोक्ष-मार्ग की शिक्षा दे चुके हैं। जैन मंदिरों में उनकी मूर्तियां एक समान दिखती हैं, केवल सप्तम तीर्थंकर सुपार्श्व और तेईसवें तीर्थंकर पार्श्व अपवाद हैं। दोनों के सिर पर नागफनों का चंदोवा है। सुपार्श्व के शीश पर पांच या नौ नागफनों का चंदोवा दर्शाया गया है। (सात फन कभी नहीं) पार्श्व के शीश पर सात फन वाले नाग का चंदोवा है। प्रत्येक मूर्ति के आसन पर नीचे की ओर उनकी एक विशिष्ट पहचान का चिह्न अंकित है। चौबीस तीर्थंकर एवं उनके पहचान चिह्न उनके जन्म-क्रमानुसार दिए गए हैं।

---

* उदा. दक्षिण भारत में, जैन मंदिरों का प्रबंधन प्रशासकों-पुरोहितों के एक विशेष दल द्वारा-जिन्हें भट्टारक कहते हैं, किया जाता है। जन साधारण पर उनका जबर्दस्त रौब, दबदबा होता है और वे मंदिरों के लिए धन संग्रह करने के लिए उन पर दबाव डाल सकते हैं। उत्तर भारत में मंदिर प्रबंधन पुजारी - पुरोहितों द्वारा नहीं, प्रबंधन समिति द्वारा होता है। जनता पर कोई अधिकार या सत्ता नहीं होने से प्रबंध समितियों ने एक विशेष तकनीक खोजी है- 'घी बोली' तकनीक, इसमें मंदिर में कर्मकाण्ड करने की अनुमति के रूप में बोली लगाते हैं। जिसकी बोली सबसे ऊंची होगी वही पूजा आदि कर्मकाण्ड करने का अधिकारी होगा। बोली लगाने वाले भी खुश और प्रबंधक भी खुश क्योंकि बदले में मंदिर को धनराशि मिली, भक्तगण इसलिए खुश कि उन्होंने पूजन द्वारा मोक्ष की कुछ योग्यता अर्जित की।

तीर्थंकरों के पहचान चिह्न		
1.	रिखवदेव/ऋषभदेव/आदिनाथ	वृषभ
2.	अजित नाथ	हाथी
3.	संभवनाथ	अश्व
4.	अभिनंदन स्वामी	वानर/कपि
5.	सुमतिनाथ	तीतर पक्षी/क्रौंच पक्षी
6.	पद्मप्रभु	पद्म कमल
7.	सुपार्श्वनाथ	स्वस्तिक
8.	चंद्रप्रभु	चंद्रमा
9.	सुविधिनाथ/पुष्पदंत	मकर/मछली
10.	शीतलनाथ	चतुष्कोणी प्रतीक (श्रीवत्स)/कल्पवृक्ष
11.	श्रेयांस नाथ	गण्डक (गैंडा)
12.	वासुपूज्य स्वामी	महिष (भैंसा)
13.	विमलनाथ	वराह
14.	अनंतनाथ	बाज/श्येन, गरुड पक्षी
15.	धर्मनाथ	बिजली/वज्र
16.	शांतिनाथ	मृग
17.	कुंथूनाथ	अज (बकरा)
18.	अरनाथ	नंदावर्त/मीन
19.	मल्लीनाथ	जलकुंभ
20.	मुनि सुव्रत स्वामी	कच्छप
21.	नमिनाथ	नीलकमल
22.	अरिष्टनेमि स्वामी/नेमिनाथ	शंख
23.	पार्श्वनाथ	नाग/सर्प
24.	महावीर स्वामी	सिंह

7

7. जैन विश्व दर्शन की जड़ें

ईश्वर सृष्टिकर्ता है, विश्व का रचयिता है। इस धारणा को जैन मिथ्या और तर्करहित मानते हैं और इसलिए विश्व को ईश्वर निर्मित मानने से इनकार करते हैं। उनके विचार में विश्व छः मूलभूत द्रव्यों के कारण यथार्थ, अनंत और तर्क सम्मत है। वे छः द्रव्य हैं जीव (आत्मा), पुद्गल, आकाश, काल, धर्म और अधर्म। वस्तुतः कोई भी इसे अनुभव कर सकता है और तर्क की कसौटी पर इसकी सत्यता को परख सकता है। उक्त छः द्रव्य ही समस्त विश्व का संचालन करते हैं। इस अध्याय में हम जानेंगे कि किस प्रकार जैन दार्शनिकों ने यह दृष्टि विकसित की।

जीव

जैन दार्शनिकों ने अपने सिद्धांत 'विश्व के यथार्थ तत्त्व' के साथ-साथ कुछ तर्कयुक्त सिद्धांतों को खोजा है, जिससे कुछ मूलभूत प्रश्नों के उत्तर मिले। जैसे 'मैं कौन हूं?' 'मेरे जीवन का उद्देश्य और लक्ष्य क्या है?' 'मेरा जीवन सुखी अथवा दुखी कैसे बनता है?'

जैन दर्शन का पहला सिद्धांत है कि समस्त चेतन प्राणी विभिन्न अनुपात में मानव, प्राणी, वनस्पति, किटाणु या जंतु पुद्गल और जीव के मेल से बने हैं। इस कथन का तर्क सरल है और निम्न समीकरण के रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

जीवित प्राणी = शरीर + चेतना

(पुद्गल) + (जीव)

मृत्यु के समय हमारी चेतना शरीर से बाहर निकल जाती है। केवल शरीर रह जाता है। चूंकि पुद्गल से बना शरीर चेतना रहित है, हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि वह चेतन तत्त्व (जीव, आत्मा) ही है जो देह छोड़ चुकी है और पीछे रह गया है- पुद्गल से बना जड़ शरीर!

वह जीव ही है जो पुद्गल रचित शरीर को जीवित रखता है। उसमें चेतना का संचार करता है। आजीवन

सुख या दुख अनुभवता है। यदि हम इस निष्कर्ष को मानें तो क्या यह भी मान सकते हैं कि मृत्यु के समय समस्त पुद्गल पीछे छूट जाते हैं और विशुद्ध जीव निकल जाता है। यदि हां, तो क्या मृत्यु आत्मा की मुक्ति है? 'नहीं ऐसा नहीं है।' जैन आत्म तत्त्वज्ञानी कहेगा, 'पीछे जो रह गया है वह केवल अचेतन पदार्थ है, जो निकल गया वह अशुद्ध जीव है। सूक्ष्म पुद्गल से जकड़ा जीव। (सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थ जिन्हें कार्मिक कण कहते हैं वे जीव को जकड़े रखते हैं) पुद्गल से चेतन आत्मा की देह बनती है। अत्यंत सूक्ष्म (Sub-atomic) पुद्गल कण जो कार्मिक कण कहलाते हैं वे जीव को बंधन में बांधते हैं। कार्मिक कणों के साथ बंध, जीव को अशुद्ध बनाता है, जीव के स्वभावगत मूल गुणों को छुपाता है और वही बंध जीव के जन्म-मृत्यु चक्र में फंसे रहने के लिए ज़िम्मेदार है।

जीवन में खुशियां थोड़े समय के लिए मिल सकती हैं, लेकिन जन्म से लेकर मृत्यु तक पूरा जीवन दुखों-कष्टों से भरा, सीमाओं में बंधा परिमित जीवन होता है। जैन दार्शनिकों का तर्क है कि शरीर के बंधन में बंधा जीव पीड़ा, दुख का अनुभव करता है और यह क्रम, पीड़ा-दुख से भरा जीवन जीने का क्रम, निरंतर लगातार जन्म-जन्मांतरों तक चलता रहता है। एक मुक्त आत्मा ही, जो कर्मों के भार से नहीं दबी है, इस तरह पीड़ा-दुख और बंधन का अनुभव नहीं करेगी। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो एक स्वतंत्र-मुक्त जीव, जैन दार्शनिकों के अनुसार नित्य, अखंड, चेतना संपन्न, ऊर्जा संपन्न एवं असीम आनंद से परिपूर्ण होता है। जैन मान्यता है कि उक्त गुण मुक्त आत्मा की स्वाभाविक विशेषताओं में से है।

कर्म सिद्धांत

कर्मबद्ध जीव अपने पूर्व जन्मकृत कर्मों के बंध के साथ फिर से जन्म लेता है, फिर से कर्मों के फल का आनंद लेता है, या दुख भोगता है, कर्मफल विगत जन्मों का हो या वर्तमान का, भुगतना तो पड़ता ही है। बंध अवस्था में जीव इस प्रकार अंतहीन जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमता रहता है। तब तक, जब तक कि कार्मिक बंधनों से वह अपने आपको मुक्त कर मोक्ष प्राप्त नहीं करता। सभी चेतन प्राणी स्त्री हों या पुरुष, पशु हों या वनस्पति सभी कार्मिक कणों से बंधे विभिन्न रूपों में-पर्यायों में, शरीर में बंद, बंधे जीव हैं। उनका सांसारिक जीवन विभिन्न रूप, आकार ग्रहण कर सकता है। कर्म-बंध किस प्रकार का है, किस श्रेणी का है, इस पर रूप निर्भर करता है। लेकिन सभी आत्माएं अपनी क्षमता में, संभाव्यता में मूलत: समान हैं। सभी आत्माएं अशुद्ध हैं, सभी संसार चक्र में, जन्म-मृत्यु चक्र में फंसी हैं। आत्मा के स्वाभाविक गुण असीम आनंद, ज्ञान, ऊर्जा अस्पष्ट हैं, दुर्बोध हैं। किंतु सभी आत्माएं बंधन से मुक्ति पाने की कामना में विभिन्न स्तरों पर हैं। जीव का ज्ञानावरणीय कार्मिक कणों के साथ जितना घनिष्ठ संबंध होगा उतना ही कम यथार्थ को समझने की उनकी क्षमता होगी। चूंकि सभी चेतन प्राणी जीव एवं पदार्थ के संयोग से बने हैं और चूंकि केवल जीव ही यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम हैं, अत: स्वाभाविक है उन चेतन प्राणियों में बोध और ज्ञान अधिक

कार्मिक सूक्ष्म कणों के साथ बंध, जीव को अशुद्ध बनाता है उसके स्वाभाविक गुणों को छुपाता है और जीव के जन्म-मृत्यु के चक्र में बंधने के लिए ज़िम्मेदार है।

होगा, जिनका ज्ञानावरणीय कार्मिक कणों का भार हलका या कम होगा। जो प्राणी कार्मिक कणों के भार से त्रस्त हैं उन्हें बोध, ज्ञान कम होगा। जैन दार्शनिकों ने इससे आगे जाकर जीव किस प्रकार सूक्ष्म कार्मिक कणों से जुड़कर बंधता है और बंधन से कैसे मुक्त हो सकता है इसकी जांच-पड़ताल की। आठवें अध्याय में इसकी चर्चा की गई है। एक चेतन प्राणी कितने विभिन्न कर्मबंध से प्रभावित होता है इस पर नवम अध्याय में चर्चा की गई है।

मोक्ष

जब भी कोई जीव, कभी किसी प्रकार से अपने समस्त कर्मों का प्रक्षालन कर यदि अपने को शुद्ध निर्मल बनाने में सफल होता है, तो वह मुक्त, संज्ञान और बंधरहित जीव होगा। वह स्थिति चेतन होगी, जो पूर्व अध्यायों में वर्णित प्रक्रिया और अभ्यास द्वारा प्राप्त होती है। जैनों के अनुसार यही मोक्ष है। मुक्त आत्मा ही नित्य अखंड आनंद की स्थिति में होती है। प्रत्येक जीव इसी मुक्तावस्था की अभिलाषा रखता है।

जीव और जीव का दूषित होना इस जैन दर्शन से उनकी आचार संहिता के तीन महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों का - अहिंसा, अनेकांतवाद और अपरिग्रह सिद्धांतों का - निर्माण कैसे हुआ, अब हम इसका विवेचन कर सकते हैं। तीनों सिद्धांतों की व्युत्पत्ति सीधे आत्मा की अशुद्धि की धारणा से हुई है।

अहिंसा

जैन सिद्धांतों में सबसे प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है अहिंसा सिद्धांत! इसके दो कारण हैं।

(1) यह धारणा कि समस्त चेतन रूप (Life forms) वास्तव में मुक्ति के लिए तड़प रही आत्माएं हैं। (2) कार्मिक कणों के कारण जीव बद्ध दशा (कर्मबंध) में हैं। जैन धारणा है कि समस्त प्राणी मात्र की, केवल मनुष्य की ही नहीं, आत्मा होती है। और वे विभिन्न स्तर पर दूषित होती हैं। विशुद्ध आत्मा जैनों का आदर्श है। विशुद्ध मुक्त दशा को जिन्होंने प्राप्त किया है उनके लिए तो जैनों के मन में बहुत आदर-सम्मान है ही किंतु जैन तो यहां तक मानते हैं कि अशुद्ध आत्मा का भी आदर होना चाहिए, क्योंकि उसमें भी किसी न किसी दिन मुक्त होने की संभावना है। इस दृष्टि से मनुष्य, प्राणी, वनस्पति सब हमारे लिए आदर के पात्र हैं। इस तर्क के आधार पर जैनों ने समस्त प्राणी मात्र के लिए, पर्यावरण के लिए सम्मानजनक व्यवहार की जीवन शैली का आविष्कार किया है।

यदि कोई व्यक्ति मानता है कि उसकी आत्मा और अन्य व्यक्ति की आत्मा समान है, तो वह अन्य व्यक्ति से, सिर्फ इसलिए कि वह अन्य जाति, प्रजाति, धर्म, राष्ट्रीयता या लिंग का व्यक्ति है, घृणा नहीं करेगा। अन्य प्राणी के साथ धर्मान्धता, कट्टरता का व्यवहार नहीं करेगा। अन्य प्राणी को दुख पहुंचाने का अर्थ है उसके अंतर में स्थित पवित्र जीव को (आत्मा) को दुख पहुंचाना। ऐसा कृत्य (पर-पीड़न) हमारी ही आत्मा पर

कार्मिक बंध को दृढ़ करता है, उसे और अधिक दूषित करता है। यदि हम मानते हैं कि सभी आत्माओं में एक समान गुण हैं, विशेषताएं हैं, तो हम कैसे लापरवाही से किसी पौधे या अन्य किसी प्राणी के जीवन को नष्ट कर सकते हैं? किसी अन्य प्राणी को पीड़ा पहुंचाने का साहस हम कर ही कैसे सकते हैं? किसी का बुरा हम सोच भी कैसे सकते हैं? अहिंसक बनने के अलावा और कोई चारा ही नहीं। जैनों का यह व्यापक दृष्टिकोण हमें अन्य जीवों की कम से कम हत्या करने, उन्हें कम से कम पीड़ा पहुंचाने के लिए प्रेरीत करता है। इस भावना के कारण जैन कट्टर शाकाहारी, सौम्य, शांत प्रकृति के और पर्यावरण संरक्षण के परिचारक हैं। जैन निश्चित रूप से यह भी जानते हैं कि पूरी तरह अहिंसक होना कठिन है। वह हवा जिसमें हम सांस लेते हैं, वह अन्न जो हम खाते हैं, हमारा केवल चलना-फिरना, हिलना, सभी कर्मों से कीट, जीवाणु, कीड़े-मकोड़ों की हत्या होती ही है। लेकीन एक मनुष्य के नाते इतना तो हम कर ही सकते हैं कि हम आत्म-परीक्षण, उद्देश्य, सूचनाओं, जानकारी के आधार पर बुद्धिपूर्वक चुनाव करें, निर्णय लें, कि अन्य प्राणियों को कम से कम तकलीफ़ पहुंचाएं। यहां 'बुद्धिपूर्वक चुनाव' और 'उद्देश्य' (इच्छा, लक्ष्य) इन दो शब्दों पर अधिक बल है। आगे जाकर जब हम कर्म सिद्धांत का अध्ययन करेंगे तब देखेंगे कि हमारे उद्देश्य, हमारी इच्छा, वासना पर कर्म का कितना प्रभाव पड़ता है। जैनों का विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति यदि समस्त जीवधारियों के प्रति आदर भाव रखे तो यह दुनिया बेहतर होगी, अधिक शांति-संपन्न होगी, अधिक करुणामयी और जीवन धारण करने योग्य होगी।

एक मनुष्य के नाते इतना तो हम कर ही सकते हैं कि हम आत्म-परीक्षण, उद्देश्य, सूचनाओं, जानकारी के आधार पर बुद्धिपूर्वक चुनाव करें, निर्णय लें, कि अन्य प्राणियों को कम से कम तकलीफ़ पहुंचाएं।

अनेकांतवाद (बहुमुखी सत्य का सिद्धांत)

आत्मा के अनेक गुणों में से एक गुण है अनंत ज्ञान। इस गुण के कारण आत्मा पूर्ण सत्य को जानती है, किंतु कार्मिक कणों द्वारा आत्मा का गुण अनंत ज्ञान प्रच्छन्न-ढंका रहता है। उस पर कार्मिक कणों का आवरण सा बन जाता है। सभी जीवित प्राणियों की आत्मा बंदी होती है और पुद्गलों से मलिन भी। चूंकि पुद्गल संवेदना ग्रहण करने में, अनुभव करने में बाधक है इसलिए चेतन प्राणी (केवली के सिवाय) पूर्ण सत्य के सब पहलुओं को वास्तविक रूप से समझने में असमर्थ होते हैं।

चेतन प्राणी पूर्ण सत्य को नहीं देख पाते इस तथ्य में से एक अति विशिष्ट जैन सिद्धांत का आविष्कार हुआ- अनेकांतवाद। आज तो यह सिद्धांत 'आधुनिकोत्तर चिंतन' के रूप में स्वीकृत हो चुका है। ज्ञानी लोग कहते हैं कि जब पूर्ण सत्य के ग्रहण की बात होती है तब हमारे सामने दो मूल कठिनाईयां होती हैं।

एक तो हम सत्य को अपनी इंद्रियों से देख, सुन, समझ रहे होते हैं जिसके कारण हमारा बोध समझना पूरी तरह निष्पक्ष, निरपेक्ष, तटस्थ नहीं होता। हम अपने पक्ष से, अपनी समझ और अपने ढंग से देखते, सुनते हैं। हमारा बोध, बिना शर्त नहीं होता। तटस्थ निरपेक्ष भाव से हम वस्तु-सत्य को ग्रहण नहीं करते। प्रत्येक व्यक्ति

अपने नज़रिये से सत्य को भिन्न रूप में देखता है। जैन कथा साहित्य में प्रसिद्ध बोध-कथा 'हाथी और सात अंधे' इसी तथ्य का उदाहरण है।

एक हाथी और सात अंधे

एक बार की बात है। सात अंधों को, जन्म से ही अंधे जो कभी नहीं देख सकते थे, हाथी के पास ले जाया गया। उसमें से एक ने हाथी के कान पर हाथ रखा, दूसरे ने पैरों पर, तीसरे ने हाथी की पूंछ पकड़ी आदि। जब उनसे हाथी का वर्णन करने को कहा गया तो एक ने कहा- 'हाथी तो बड़े पंखे की तरह सपाट है।' दूसरे ने कहा- 'नहीं, मैंने छूकर देखा है। निश्चित रूप से वह ज़मीन से लेकर जहां तक मैं पहुंच सका, वह एक गोल, मोटे खंभे की तरह है।' तीसरा आदमी झल्लाकर बोला- तुम दोनों ही ग़लत हो। मैं बताता हूं। वह एक रस्सी की तरह है। उस पर बहुत से बाल हैं और वह हमेशा हिलती-डुलती रहती है। मैंने उसे पकड़ना चाहा मगर हर बार वह मेरे हाथ से छूट गई।'

इस तरह हर एक ने दावा किया कि सिर्फ वही सच कह रहा है।

अंत में हाथी के मालिक ने कहा- 'आपने जो वर्णन किया, वह अपनी आपकी-अपनी समझ से सही था, मगर आप ग़लत हैं। इसलिए कि आपने हाथी का सिर्फ़ एक हिस्सा ही छूकर देखा था। अगर आपने सभी इंद्रियों को सब तरफ से छू-छू कर देखा होता तो आप समझ सकते थे कि अपने-अपने दृष्टिकोण से आप सही हैं मगर सच तो यह है कि वास्तविक हाथी तो बिलकुल ही भिन्न है।

दूसरी कठिनाई सत्य की, यथार्थ की, अपनी निज की प्रवृत्ति है। सत्य की पहचान उसकी स्वाभाविक विशेषताओं (गुण) से और उसके मूल स्वरूप के दूसरे रूपांतर (पर्याय) से होती है। द्रव्य के अनेक गुण होते हैं और द्रव्य कई विभिन्न परिवर्तनीय स्थितियों में होता है। इसलिए एक सामान्य व्यक्ति के लिए बहुत मुश्किल है कि प्रस्तुत सत्य को उसकी पूरी समग्रता में जान सके। हम अगर कुछ देख, समझ पा रहे हैं, तो वह सत्य का एक अंश मात्र, सिर्फ एक पहलू, एक स्वरूप भर होता है, न कि संपूर्ण सत्य।

जैसा कि हम पहले ही पढ़ चुके हैं (अध्याय 6) जैन दार्शनिकों ने विश्व के मूलभूत छः द्रव्यों का जो वर्णन किया था वह ऊपरी तौर पर विरोधाभास पूर्ण है। जैसे छः द्रव्य नित्य भी हैं और अनित्य भी। उदाहरणार्थ आत्मा अपनी सहज, स्वाभाविक विशिष्टताओं के कारण जैसे कि अखंड आनंद, चेतना, ऊर्जा आदि की दृष्टि से नित्य है, लेकिन अन्य द्रव्यों (पदार्थ काल आदि) के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया के कारण उसे हम सदा परिवर्तनशील (पर्याय) रूप में देखते हैं। हमारे अपने नज़रिये से आत्मा अनित्य (परिवर्तन रहित) लगती है, क्योंकि कभी हम अनुभव करते हैं, देखते हैं - उसका दुर्बल, दुखी, अज्ञानी, रूप (पर्याय) और कभी उसका सशक्त, प्रसन्न तीव्र बुद्धि रूप! यथार्थ का कुछ अंश ही पर्याय में विभिन्न रूप में देखते हैं। सत्य को उसकी

समग्रता (पूर्ण सत्य) में नहीं देखते। इसी कारण से जैन मानते हैं कि किसी व्यक्ति का दावा करना कि वह संपूर्ण सत्य को जानता है- गलत है। सत्य के अनेक पहलुओं को स्थापित करने वाला, दर्शन शास्त्र का सामान्य बुद्धि का यह तर्क कि सत्य के अनेक पहलू हैं और सत्य को उसकी संपूर्णता में समझने की हमारी प्रवृत्तिगत अक्षमता-अनेकांतवाद का सिद्धांत है।

स्यात्वाद का सिद्धांत (भिन्न दृष्टिकोण का स्वीकार)

यह जानते हुए कि सत्य बहुकोणीय है, लोग उसे अपनी नज़र से देखते हैं। एक बात स्पष्ट है कि लोगों की समझ, उनकी अपनी समझ से सही भी है और समग्र, संपूर्ण सत्य के परिप्रेक्ष्य में ग़लत भी। प्राय: लोग सत्य की बहुमुखी प्रकृति को नहीं समझते। इसलिए 'मैं' ही सत्य हूं और दूसरा पक्ष ग़लत, यह मानने की ग़लती कर बैठते हैं। इससे हमारे झगड़े, मतभेद शुरू हो जाते हैं। जैन दार्शनिकों ने इसीलिए सत्य के विभिन्न पहलुओं को व्यक्त करने के लिए एक पद्धति विकसित की- 'स्यात्वाद'। स्यात्वाद शब्द दो शब्दों को मिलाकर बना है- वाद अर्थात् कथन और स्यात् (स्याद्) अर्थात् 'एक अर्थ में' या 'एक दृष्टिकोण से'। अनेकांतवाद जहां सत्य बहुमुखी होने की स्वीकृति है, वहीं स्याद्वाद एक व्यावहारिक तकनीक है, जो संपूर्ण सत्य के परस्पर विरोधी पहलुओं को सुसंबद्ध रीति से इस प्रकार संबद्ध करती है कि टुकड़े-टुकड़े सत्य साथ मिलकर एक संपूर्ण सत्य की सत्ता बने। उदाहरणार्थ यदि हम कहें कि यह वस्तु नित्य है तो ऐसा कहकर हम उसकी अनित्यता को नकारते हैं। अत: हमारा कथन अपूर्ण है, ग़लत है और केवल आंशिक रूप में सत्य है। स्यात्वाद हमें अधिक अचूक रूप से सही बनाता है।

अनेकांतवाद जहां सत्य बहुमुखी होने की स्वीकृति है, वहीं स्याद्वाद एक व्यावहारिक तकनीक है, जो संपूर्ण सत्य के परस्पर विरोधी पहलुओं को सुसंबद्ध रीति से इस प्रकार संबद्ध करती है कि टुकड़े-टुकड़े सत्य साथ मिलकर एक संपूर्ण सत्य की सत्ता बने।

हमारा उक्त कथन अधिक अचूक और सही होगा। यदि उसमें यह उपवाक्य जोड़कर कहा जाए 'एक विशिष्ट दृष्टिकोण से' या फिर 'किसी हद तक'। यह कहना 'आत्मा नित्य है' शायद अपूर्ण कथन होगा, क्योंकि उसमें केवल एकतरफा दृष्टिकोण है। उसके (आत्मा) अनित्य होने की संभावना को नकारा गया है। तब स्यात्वाद की सहायता से वाक्य बन सकता है- 'आत्मा की सहज, स्वभाविक विशेषताओं को देखते हुए आत्मा नित्य है और आत्मा के पर्याय रूप के दृष्टिकोण से वह अनित्य भी है'। ऐसा कहना अधिक उपयुक्त होगा। क्योंकि ऐसा कहकर उसके अनित्य पर्याय (जैसे मलिन, दुर्बल या दुखी आत्मा) को नकारा नहीं गया है।

यहां महत्त्वपूर्ण स्मरणीय बात यह है कि स्यात्वाद संदेह या शंका या अनिश्चय का सिद्धांत नहीं है, बल्कि इसके विपरीत स्यात्वाद द्वारा अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने की सजगता और बुद्धिमता प्रगट होती है। सत्य बहुमुखी है और उसे हम उसकी सत्यता में संपूर्णता में पकड़ नहीं पाते यह जानकर जैन दार्शनिक अचूक

कथन को लेकर कुछ अधिक ही आग्रही (Obsessed) रहते हैं। कथन सही भी हो सकता है और ग़लत भी। एक सीधा सरल वाक्य लें उदाहरणार्थ- 'मैं तुम्हारा गुरु हूं।' एक छात्र की दृष्टि से यह कथन सही है, लेकिन अन्य दृष्टि से ग़लत है। उन लोगों की दृष्टि से ग़लत है जिनके लिए वह पुत्र है, पिता है या भाई है। कथन के बिलकुल सही, अचूक होने की दिशा में जैन एक क़दम और आगे बढ़े हैं।

स्यात्वाद उक्त कथन को अधिक सही अचूक बनाने के लिए एक रूपरेखा प्रदान करता है। बिलकुल सही कथन के लिए जैन दार्शनिकों ने स्यात्वाद से आगे चलकर सप्तभंगी नाम की एक व्यवस्था विकसित की है, जिसमें काल, स्थान, दर्शक का रुख, व्यवहार, वस्तु की सापेक्ष प्रकृति, आदि कारक कथन को अचूक बनाने के लिए प्रभावकारी हैं। उनकी राय में बिलकुल अचूक कथन के लिए हमें विषय-वस्तु का विस्तृत, पूर्ण और सभी संबंधित पक्षों का संपूर्ण ज्ञान होना चाहिए। इस प्रकार के कथन को 'प्रमाण कथन' अथवा 'निश्चय नय' कहा जाता है। लेकिन इतनी गहराई तक अचूक होने का आग्रह दार्शनिकों के लिए है जो यथार्थ के सूक्ष्म बिंदुओं पर शास्त्रार्थ, वाद-विवाद करते हैं। हममें से अधिकांश के लिए तो व्यावहारिक कथन अथवा व्यवहार नय, पर्याप्त है। जैन धर्म के लिए ऐसे कथन आंशिक सत्य हैं, और ऐसे आंशिक सत्य की पूर्णता के लिए हमें चाहिए कि हम विविध दृष्टिकोण से सत्य को पहचानने की कोशिश करें। अनुकूल उत्तर दें या प्रतिवाद करें और फिर उन्हें दूसरों तक पहुंचाएं। अनेकांतवाद, स्यात्वाद, सप्तभंगी, प्रमाण, नय आदि का पूरा ज्ञान विशेष रूप से उन लोगों के लिए है जो विवादास्पद प्रस्ताव, विषय, समझौते, बातचीत में या फिर अंतर-धर्म संवादों में (Inter-faith dialogue) कार्यरत होते हैं।

इन विषयों की तात्त्विक चर्चा नाथमल टाटिया लिखित 'जैन दर्शनशास्त्र का अध्ययन[12] ग्रंथ में मिलती है।

जैन धर्म अनेक मत-संप्रदायों को, बहुकोणीय सिद्धांतों को समझने की, सराहना करने की शिक्षा देता है। और यह भी सिखाता है कि हमारे अपने मत-विचारों से भिन्न अन्य और भी विचार हो सकते हैं, जिनका हमें आदर करना सीखना चाहिए। एक मनुष्य के नाते यथार्थ को उसकी पूर्णता में समझने की क्षमता हम में नहीं होती, क्योंकि यथार्थ बहुकोणीय-बहुमुखी होता है। अनेकांतवाद के इस सिद्धांत से हमें हमसे भिन्न मतों, पंथों, संप्रदायों में विश्वास करने वालों के लिए समादर की भावना उत्पन्न होती है और प्रतिपक्षी के विचारों, मतों को अस्विकार करने की हठधर्मिता भी कम होती है। अनेकांतवाद का सिद्धांत अंतत: एक व्यावहारिक सिद्धांत है, क्योंकि वह हमें विभिन्न मत, मतांतरों, दृष्टिकोणों के प्रति सम्मान भाव की शिक्षा देता है, जिससे विवाद टालने की प्रेरणा मिलती है। संसार में अधिकतर

अनेकांतवाद का सिद्धांत अंतत: एक व्यावहारिक सिद्धांत है, क्योंकि वह हमें विभिन्न मत, मतांतरों, दृष्टिकोणों के प्रति सम्मान भाव की शिक्षा देता है, जिससे विवाद टालने की प्रेरणा मिलती है।

12. नाथमल टाटिया, *'Studies in Jain Philosophy'* पी.वी. रिसर्च इंस्टीट्यूट हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, भारत 1951

विवाद विशेषत: धार्मिक संघर्ष इसलिए होते हैं, क्योंकि हममें समझ की, सराहना की, हमसे भिन्न दूसरे दृष्टिकोणों, विचारों के प्रति आदर की भावना की कमी होती है। मैं आशा करता हूं कि समकालीन चिंतक, विचारक, इस बात से ज़रूर सहमत होंगे कि व्यापक स्तर पर अनेकांतवाद सिद्धांत का अभ्यास व्यवहार में लाने से धर्म-परायणता के नाम पर हुए युद्धों को टाला जा सकता था। (और आज भी टाला जा सकता है) अनेकांतवाद का सिद्धांत और उसके व्यावहारिक पक्ष स्यात्वाद के द्वारा परस्पर मत वैषम्य को, विरोधों को मिटाकर वैचारिक समझौता करने के कारण जैनों की जीवनशैली अनाक्रामक और शांतिपूर्ण रही है। अनेकांतवाद सिद्धांत के फलस्वरूप भारत के अनेक धार्मिक संघर्षों के उतार-चढ़ावों से गुजर कर भी जैन धर्म आज जीवित है।

अपरिग्रह (न्यूनतम आवश्यकताओं एवं असंग्रह का सिद्धांत)

अपरिग्रह व्यक्तिगत आवश्यकताओं को कम से कम रखने का सिद्धांत 'अ' कारत्रय सिद्धांतों में (अहिंसा, अनेकांतवाद, अपरिग्रह) जैनों की आचरण संहिता का तीसरा सिद्धांत है। अन्य दो सिद्धांतों अहिंसा और अनेकांतवाद की भांति ही अपरिग्रह का सिद्धांत और उस पर व्यावहारिक रूप से अमल करना, जैनों की आत्मा और उसकी मलिनता संबंधी धारणा का निष्कर्ष है।

जैनों ने एक जटिल, किंतु तर्क-संगत सिद्धांत का विकास किया जिससे कार्मिक पुद्गल के कण किस प्रकार आत्मा से जुड़कर बंध बनाते हैं या उससे अलग होते हैं यह समझा जा सकता है। आत्मा के साथ कार्मिक कणों के जुड़ने में हमारी भावुकता, हमारी भावनाओं की विशिष्ट भूमिका है। किसी वस्तु से हमारी भावनाएं जितनी दृढ़तापूर्वक जुड़ी होंगी उतना ही दृढ़ बंधन आत्मा की ओर भावनाओं के कारण आकृष्ट कार्मिक कणों का होगा। फिर तो स्पष्ट है कि जितना अधिक हमारे पास वस्तु संग्रह होगा, उतना ही हमारा उससे लगाव, लालच होगा और उतनी ही हमारी आत्मा की मलिनता होगी। यदि हमारा उद्देश्य आत्मा की शुद्धि द्वारा मोक्ष पाना है, तो हमें निरंतर ऐसी वस्तुओं से अनासक्त होना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में, अपने संग्रह का त्याग करना, अपनी आवश्यकताओं को कम से कम करना जिससे लालच और आसक्ति का हमारे जीवन पर, हमारे मन पर शासन न हो, यह हमारे जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। हमारी ज़रूरतें बहुत थोड़ी हों, कम संग्रह हो, यही अपरिग्रह है, यही हमारी जीवन शैली भी है। अपनी वस्तुएं त्यागना सरल नहीं है। इसीलिए (अध्याय 4) जैन मार्ग मोक्ष के लिए शनै: शनै: तनावमुक्त आध्यात्मिक प्रगति के लिए और अनासक्ति के लिए 'प्रतिमा-नसैनी' की अनुशंसा करता है।

आत्मा के साथ कार्मिक कणों के जुड़ने में हमारी भावुकता, हमारी भावनाओं की विशिष्ट भूमिका है। किसी वस्तु से हमारी भावनाएं जितनी दृढ़तापूर्वक जुड़ी होंगी उतना ही दृढ़ बंधन आत्मा की और भावनाओं से आकृष्ट कार्मिक कणों का होगा।

यहां आधुनिक जीवन शैली के संदर्भ में अपरिग्रह सिद्धांत के महत्त्व की चर्चा करना उपयोगी होगा। प्राय:

सुख शब्द से तात्पर्य शरीर को मिलने वाली सुविधाएं-आराम है। अधिक पैसा, और बड़ा मकान, लंबी-चौड़ी आरामदेह कार और आधुनिक फैशनेबल परिधान, आज उपभोक्तावादी युग में ये वस्तुएं ही रोज़ हमारे सामने होती हैं। इसमें संदेह नहीं, इन्हीं वस्तुओं से हमें शारीरिक सुविधाएं मिलती हैं और हमारे मन में (मिथ्या) सुरक्षा और सुख की भावना उत्पन्न होती है। कोई चाहे तो बहस कर सकता है कि इन सुविधाओं को पाने की इच्छा मनुष्य की प्रतिभा को, उसकी आर्थिक, सामाजिक, वैज्ञानिक प्रगति को रेल के इंजिन की तरह निरंतर खींचकर आगे ले जाती है। फिर भी ऐसी सुविधाओं पर आधारित सुख-

- बाहरी वस्तुओं पर निर्भर होता है, जिन्हें खोने के विचार मात्र से हम दुखी हो जाते हैं।

- क्षणिक - अल्पकालीन होता है। हम जिन सुख-सुविधा की वस्तुओं को पाने के लिए तरसते हैं उनके मिलने पर हम जल्दी ही उनसे ऊब भी जाते हैं और पहले से अधिक बेहतर और बड़ी सुविधाओं की चाहत करते हैं।

- विनाशक - होता है। एक व्यक्ति अथवा एक समाज जो साधन-सुविधा-संपन्न जीवन का आदी है, वह प्राय: उन वस्तुओं को पाने के लिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हिंसात्मक, विध्वंसात्मक तरीक़े अपनाता है। उदाहरणार्थ विगत कई युद्ध, भूमि, संपत्ति और धन की खातिर लड़े गए और हमारी निरंतर बढ़ती भोग-लिप्सा के कारण हमारे सारे प्राकृतिक स्रोत रिक्त हो गए हैं, और हमारे पर्यावरण दूषित हुआ है।

- अन्यायपूर्ण - धन संग्रह में मनुष्य का शोषण होता है। देश के अंदर और राष्ट्रों द्वारा एक-दूसरे का आर्थिक शोषण इसका जीता-जागता प्रमाण है।

- अधिक दुखदायी होता है, क्योंकि लालसा की कोई सीमा नहीं होती।

इसके विपरीत अपरिग्रह का सिद्धांत ऐसी मानसिकता उत्पन्न करता है जिससे हमारे पास जो है, जितना है उससे हम सचमुच संतुष्ट रहते हैं। धन या संग्रह के खो जाने या मिलने की संभावना से दुखी या सुखी नहीं होते। क्षणिक लाभ या हानि की आशंका से हम उदासीन होते हैं। अपरिग्रह से प्राप्त सुख कभी नष्ट नहीं होता। कभी किसी प्रकार का दबाव नहीं डालता, न्यायपूर्ण होता है और चिरकाल तक सुख-शांति देता है। यही वह सुख है, जिसकी हम सबको तलाश है। यही वह आनंद है जिसका विश्वास जैन मोक्ष मार्ग हमें दिलाता है।

दुविधा

एक साधारण गृहस्थ या आम आदमी के लिए अपरिग्रह का सिद्धांत दुविधा बन जाता है। अपरिग्रह का मतलब तब तक तो सही है जब तक भौतिक वस्तुओं के लिए आसक्ति और लालच की बात होती है। मगर

प्रेम, स्नेह और करुणा में तो काफी दृढ़ और अर्थपूर्ण भावनाएं हैं। क्या हम अन्य मनुष्यों, प्राणियों के प्रति उदासीन रहने के लिए बने हैं? विवाह और परिवार तो केवल आसक्ति ही हैं- क्या जैनियों को इन दायित्वों से बचना चाहिए? ऐसे प्रश्न किसी के भी मन में उठ सकते हैं जो जैन धर्म को समझने का प्रयत्न कर रहा हो। यह सचमुच दुविधापूर्ण स्थिति है। जैन साहित्य में इस मुद्दे पर बहुत ही कम चर्चा मिलती है इसलिए मैं यहां सिर्फ अपना व्यक्तिगत दृष्टिकोण रख रहा हूं।

मोक्ष आदर्श लक्ष्य है और साधु जीवन आदर्श मार्ग। वे जो उस मार्ग का अनुकरण नहीं कर सकते वे अपनी पूरी क्षमता और विवेक के साथ 'अ' कारत्रय का पालन करते हुए अपना कर्तव्य निर्वाह कर सकते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है जैनियों का लक्ष्य मोक्ष है। जिसके लिए मूलभूत आवश्यकता है, लक्ष्य के प्रति प्रतिबद्धता और अपने आप पर संपूर्ण विजय। अपने आप पर पूरी विजय का अर्थ है, वासनाओं-लालसा या घृणा जैसी वासनाओं पर पूरी विजय। आरंभिक अध्यायों में वासनाओं पर विजय पाने के लिए एक क्रमिक अभ्यास का विवरण दिया गया था। वर्षों की कठिन तपस्या के अभ्यास से ही वह संभव है। तपस्या-साधना में सब वस्तुओं का परित्याग आवश्यक है और अंततः आसपास के समस्त बंधनों को परिवार और मित्रों के बंधनों को, काटना होगा और अंत में भिक्षुक का जीवन अंगीकार करना होगा, जहां कोई आसक्ति मन में नहीं रहती। सांसारिक भौतिक वस्तुओं के लिए उदासीनता कार्मिक कणों के बंध को खोलती है। आत्मा को शुद्ध करती है। जैन इस संबंध में स्पष्ट हैं, तो हम जैसे साधारण लोगों के लिए क्या कहा जाए जो अपनी मित्र-मंडली, अपने घर-परिवार में खुश हैं।

चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर ने श्रावक की इस दुविधा को समझा और एक तर्कसंगत समाधान प्रस्तुत किया। उन्होंने जैन समाज को चार संघों में बांटा।

(1) साधु, (2) साध्वी, (3) श्रावक (आम आदमी), (4) श्राविका (आम महिला)। साधु/साध्वियों के लिए अंतिम लक्ष्य, मोक्ष है। उन्हें आचार संहिता को स्वीकार करना ही होगा, इसमें किसी समझौते की गुंजाइश नहीं। साधु जीवन में प्रवेश के समय जो महाव्रत लिए गए थे उनका कठोर पालन अनिवार्य है। श्रावक/श्राविकाओं के लिए अविलंब अंतिम लक्ष्य के लिए प्रयत्न करना ज़रूरी नहीं है। उनसे अपेक्षा है कि आत्मा की शुद्धि के लिए वे यथासंभव प्रयत्न करें, लेकिन इसके साथ-साथ उनके समाज, परिवार, समाज के दुखी जीवों के प्रति दायित्त्व भी हैं। वे अपने दायित्वों का निर्वाह भी करें।

दायित्त्व-निर्वाह शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। इसमें (परिवार) स्नेह, प्रेम, करुणा का यथोचित निर्वाह शामिल है और परिवार, समाज के लिए, उनकी सुख-सुविधा के लिए धन जोड़ना भी शामिल है। ऐसी स्थिति में आम आदमी को जैन धर्म का संदेश इस प्रकार हो सकता है, मोक्ष का लक्ष्य एक आदर्श लक्ष्य है और साधु जीवन एक आदर्श मार्ग। जो उस मार्ग का अनुकरण नहीं कर सकते वे अहिंसा, अनेकांतवाद और अपरिग्रह इस 'अ' कारत्रय की साधना यथा संभव अपनी पूरी सामर्थ्य से, विवेक ज्ञान से करते हुए विश्व के

प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करें। दूसरे शब्दों में, जैन धर्म जहां अकिंचन, असंपृक्त जीवन मार्ग की अनुशंसा करता है, वहीं वह व्यक्ति के मनुष्योचित स्नेह-संबंधों को निभाने के निर्णय का भी आदर करता है। केवल आदर ही नहीं करता बल्कि उसे मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के मार्ग का एक विशिष्ट स्वाभाविक पड़ाव भी मानता है। इसमें एक मार्गदर्शक सिद्धांत श्रावक/श्राविका के लिए यह भी है कि धन-संपत्ति का सत्य मार्ग से संचय करते हुए भी उससे सर्वथा अनासक्त-निर्लिप्त रहना है। उन्हें हमेशा याद रखना है कि उनकी धन-संपत्ति केवल दायित्त्व निर्वाह के लिए है।

प्रस्तुत कहानी 'नयधम्मकहो' से ली गई है। भगवान महावीर ने इसका प्रयोग क्षणिक सुखों की अपेक्षा असीम आनंद की प्राप्ति का महत्त्व बताने के लिए किया था।

कुएं में गिरे आदमी की कहानी

एक आदमी दूसरे देशों में धन कमाने के उद्देश्य से घने जंगल से होकर जा रहा था। एकाएक एक जंगली हाथी गुस्से में सूंड उठाए उसकी ओर लपका। आदमी ने तेज़ भागना चाहा, मगर एक दुष्ट दैत्य ने उसका रास्ता रोक लिया। फिर तो पूर्व दिशा में एक बड़े बरगद के पेड़ पर चढ़ने के अलावा उसके पास और कोई रास्ता न था। वह दौड़ा, बरगद के पास पहुंचा मगर तय नहीं कर पाया कि उसके पास विशाल पेड़ पर चढ़ने की इच्छा और शक्ति है या नहीं। उस विशाल बरगद के नीचे, ठीक नीचे एक गहरा कुआं था। घास और जंगली लताबेल से घिरा। 'यह कुआं मुझे बचा लेगा' आदमी ने सोचा और कुएं में कूद पड़ा।

वह घास के बीच में से होकर नीचे जा रहा था। उसने नीचे गुस्से से फुंफकारते हुए भयानक सांपों को देखा। इसके अलावा नीचे गहरे में लाल आंखों वाला बड़ा भारी अजगर भी दिखाई दिया। डर के मारे उसने ऊपर से नीचे की ओर लटकती लताओं के गुच्छे को पकड़ लिया। उसने सोचा, जब तक लताओं का गुच्छा पकड़े रहूंगा मेरी जान तभी तक है और उसने ऊपर देखा।

ऊपर उसने दो बड़े चूहे देखे। एक काला, दूसरा सफेद। वे अपने तेज़ दांतों से लताओं के घने जाल को काटे जा रहे थे। उनसे भी ऊपर वह जंगली हाथी बरगद के पेड़ को बार-बार टक्कर मार रहा था जिसमें ठीक उसके सिर के ऊपर पेड़ की डाल से लगा मधुमक्खियों का छत्ता था, डाल के हिलने से मधुमक्खियां बिफर गईं। गुस्से से भरी मधुमक्खियां उसकी ओर झपटीं। उन्होंने उसके पूरे बदन को काट लिया। उसी समय जब वह ऊपर की ओर देख रहा था और बरगद पर न चढ़ने के लिए अपने को कोस रहा था, तब उसी समय शहद की एक बूंद उसके चेहरे पर गिरी और गिरकर उसके होठों तक पहुंची। वह एक क्षण, मिठासभरा क्षण था। उसने फिर ऊपर देखा। अपने सारे ख़तरों को भूल गया और बाट देखने लगा, शहद की बूंदें गिरें तो कैसा रहेगा। शहद के लिए अधीर होकर यथार्थ से बिलकुल बेखबर, अनजान हो गया। अजगर, सांप, चूहे, हाथी और मधुमक्खियां सब भूल गया।

सातवीं सदी के जैन आचार्य हरिभद्र ने इस कथा की व्याख्या निम्नानुसार की थी। तालिका में बाईं ओर कहानी के पात्र हैं और दाहिनी ओर कहानी की व्याख्या है। इस कहानी का संदेश स्पष्ट समझने के लिए कहानी की व्याख्या-अर्थ सहित फिर से पढ़े।

मनुष्य	आत्मा
जंगल में भटकना	चार गतियों में भटकना, पुनर्जन्म
जंगली हाथी	मृत्यु
दैत्य	वृद्धावस्था
बरगद का पेड़	निर्वाण का मार्ग, भय (हाथी या मृत्यु का) पर मोक्ष मार्ग से विजय
वृक्ष पर चढ़ने की दुर्बलता	ऐंद्रिय एवं क्षुद्र सुखों की लालसा
कुआं	मानव जीवन
सांप	कषाय (वासना) जो मानव निर्णय को प्रतिबाधित करते हैं
अजगर	नरक, यहां गिरने पर आत्मा को यंत्रणादायी वेदना होती है।
जंगली घास लताओं का गुच्छा	मनुष्य की पूर्व निर्धारित आयु
चूहे	रात-दिन, कालावधी
मधुमक्खियां	जीवन के रोग
शहद की बूंदें	नश्वर सुख, जिनकी लालसा मनुष्य के दुखों का कारण है।

इस अध्याय में मैंने मुख्य जैन सिद्धांतों की स्थूल रूपरेखा खींचने का प्रयत्न किया है, जिन पर जैन धर्म की मान्यताएं आधारित हैं। अगले अध्याय में हम विश्व के संचालक तत्त्वों की चर्चा करेंगे, जो जैन मान्यता के अनुसार विश्व का संचालन करते हैं।

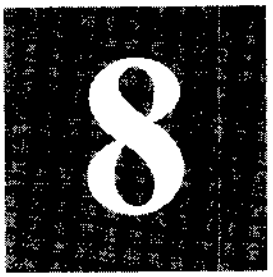

8. विश्व संचालन के नव तत्त्व

यथार्थ के संबंध में अपनी बोध दृष्टि की रूपरेखा प्रस्तुत करने के बाद जैन दार्शनिक स्पष्ट करना चाहते हैं कि समस्त विश्व किस प्रकार संचालित होता है। हम यहां पहले से चर्चित धारणाओं की समीक्षा कर जानना चाहेंगे कि छः मूलभूत द्रव्य परस्पर क्रिया के द्वारा विश्व की रचना कैसे करते हैं। वे नौ तत्त्व जो विश्व का संचालन करते हैं, इस प्रकार हैं :-

(1) आत्मा का अस्तित्व	(जीव)
(2) अनात्म	(अजीव)
(3) कार्मिक पुद्गलों का आना	(आस्रव)
(4) जीव का बंधन	(बंध)
(5) पवित्र कार्मिक बंध	(पुण्य)
(6) अपवित्र कार्मिक बंध	(पाप)
(7) कर्मों का आना रोकना	(संवर)
(8) कर्मों के आंशिक नाश की प्रक्रिया	(निर्जरा)
(9) कर्मों का पूर्ण नाश	(मोक्ष)

उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र (1.4) में उक्त क्रमांक 5-6 (पुण्यकर्म एवं पाप कर्म-बंध) को बंध सिद्धांत के अंतर्गत समाहित किया गया है। तदनुसार केवल सात संचालक सिद्धांत शेष रहते हैं। फिर भी पाप और पुण्य कर्म को अलग सिद्धांत मानना अधिक प्रचलित है। शायद इसलिए कि अलग करने से उन कर्मों की व्याख्या करना सरल हो जाता है। हम दोनों कर्मों पर पृथक रूप से विचार करेंगे।

आत्मा का अस्तित्व (जीव)

जैन धर्म में आत्मा को अनेक संख्य (Pluarality of souls) एवं शुद्ध-अशुद्ध दोनों रूपों में माना जाता है। यह भी माना गया है कि आत्माएं असंख्य एवं एकल हैं। प्रत्येक चेतन प्राणी में आत्मा होती है। अशुद्धि आत्मा को जन्म-मृत्यु के दुखदायी चक्र में फंसाती है। अशुद्धि की मात्रा के अनुसार भ्रष्ट, अशुद्ध आत्मा-

देव, मनुष्य, तिर्यंच (वनस्पति, प्राणी) एवं नारकी (गति में) रूप में शरीर प्राप्त करती है। शरीर के बंध से छुटकारा पाना सभी आत्माओं का लक्ष्य है। शुद्ध आत्मा जो कार्मिक बंधनों से मुक्त हो जाती है वह जन्म-मृत्यु के चक्र से भी मुक्त हो जाती है।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा बंधन से मुक्त हो सकती है, बशर्ते वह अपने आपको समस्त अशुद्धियों के दोष से शुद्ध कर ले, पवित्र कर ले। मनुष्य, स्त्री* हो या पुरुष आत्मशुद्धि के द्वारा मोक्ष मार्ग पर चलकर पुनर्जन्म-मरण से छुटकारा पा सकता है। स्वयं तीर्थंकरों ने मोक्ष प्राप्त किया था। उन्होंने तो हमें मार्ग भी बताया। कई लोग उस रास्ते पर चलकर मोक्ष प्राप्त कर चुके हैं और आज भी कर रहे हैं।[13]

अनात्म का अस्तित्व

पुद्गल अजीवों में से एक है। उसका अत्यंत सूक्ष्म (Sub Atomic Particle) परमाणु, आत्मा की अशुद्धि के लिए ज़िम्मेदार है। उन्हें कार्मिक कण कहते हैं। वे लोकाकाश में सर्वत्र व्याप्त हैं मगर ये सूक्ष्म कण स्वयं आत्मा को दूषित नहीं करते। स्वयं आत्मा के साथ वे दखलंदाज़ी नहीं करेंगे तब तक जब तक कि आत्मा स्वयं उन्हें आकृष्ट न करे। सभी परमाणविक कार्मिक कण एक समान हैं मगर आत्मा को दूषित करने वाले इनके प्रभाव में अंतर है। यह अंतर निर्भर करता है आत्मा के द्वारा उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करने की प्रकृति और पद्धति पर। हम इस विषय में अगले अध्याय में विस्तार से जानेंगे।

स्मरणीय शब्द

आस्रव : कार्मिक कणों का आना
बंध : आत्मा एवं कार्मिक कणों का बंधन
पाप : अशुभ कर्म बंध
पुण्य : शुभ कर्म बंध
नव तत्त्व : विश्व संचालक नौ तत्त्व
निर्जरा : कार्मिक कणों का आत्मासे झर जाना
संवर : कार्मिक कणों का प्रवाह रोकना

कार्मिक कणों के आने का तत्त्व : आस्रव

विश्व में असंख्य दूषित आत्माएं हैं। पुद्गल के असंख्य सूक्ष्म परमाणुविक कार्मिक कण समस्त लोकाकाश में सदा सर्वत्र तैरते रहते हैं। ऐसी स्थिति में केवल कुछ पदार्थ कण आत्मा की ओर आकृष्ट होकर उसे दूषित कैसे करते हैं? जैनों का सिद्धांत है कि (आत्मा की ओर) आकर्षण और कार्मिक कणों का आना प्रत्येक गतिविधि (कर्म) का परिणाम है। अच्छी, बुरी कोई भी गतिविधि

* हालांकि अधिकांश जैन मानते हैं कि स्त्री-पुरुष दोनों अपने जीवनकाल में मोक्ष पा सकते हैं फिर भी एक जैन समुदाय ऐसा भी है जो स्त्री को मोक्ष प्राप्ति के लिए अक्षम मानता है। इसलिए नहीं कि स्त्री की आत्मा पुरुष की आत्मा से भिन्न होती है या हीन है, परंतु इसलिए कि अपरिग्रह व्रत के पूर्ण पालन में स्त्री की अपनी एक सीमा होती है। इसके पीछे तर्क यह है कि पूर्ण अपरिग्रह अर्थात् वस्त्रों का त्याग भी मोक्ष की साधना के लिए अनिवार्य है। चूंकि समाज में स्त्रियां साध्वी भी बनें तब भी निर्वस्त्र नहीं घूम सकती। अत: उन्हें पूरी तरह अनासक्त नहीं माना जाएगा। अत: स्त्रियां मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकतीं।

13. समन सुत्तम् 529 उत्तराध्यान सूत्र 9.35 अनंतगद्दासो सुत्तम्, पूरी पुस्तक ऐसे साधुओं की मोक्ष प्राप्ति की कथाओं से परिपूर्ण है जिन्होंने अपने कर्मों का नाश किया।

सोद्देश्य हो (सहेतुक) या निरुद्देश्य (अहेतुक) हो, शारीरिक, मानसिक या वाचिक हो, कंपन (Aura) उत्पन्न करती है, जिससे कार्मिक कणों का प्रवाह आत्मा की ओर बढ़ता है। प्रवाह से क्या होता है? पुद्गलों का प्रवाह आत्मा को दूषित करे यह आवश्यक नहीं। वास्तव में प्रवाह का परिणाम कुछ कारणों पर निर्भर करता है, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं-

(1) मिथ्यात्व - दूषित विश्व दृष्टि
(2) प्रमाद - लापरवाही
(3) अविरति - आत्म अनुशासन की कमी
(4) कषाय - वासना (क्रोध, मान, माया, लोभ)
(5) योग - गतिविधि का प्रकार (मनयोग, वचनयोग, कायायोग)
(6) अव्रत - व्रतों का पालन न करना

उदाहरणार्थ प्रत्येक गतिविधि प्रवाह उत्पन्न करती है। कार्मिक कण तो तब भी आकृष्ट होंगे जब गतिविधि कषाय (वासना) रहित हो, मगर आत्मा के साथ वे दुर्बल बंध तैयार करेंगे और फिर पृथक होंगे या स्वयं झर जाएंगे। गतिविधि में निहित कषाय ही दृढ़ जोड़ का काम करता है और पहले से ही दूषित आत्मा एवं कार्मिक कणों के बीच कठोर बंध का कारण भी वही होता है।

बंध का तत्त्व

एक शुद्ध रूपरहित आत्मा दूषित करने वाले कार्मिक कणों को आकर्षित नहीं करती और कर भी नहीं सकती। एक बार मुक्त हो जाने के बाद आत्मा पुनः दूषित नहीं होती। उसका पुनर्जन्म भी नहीं होता। अशुद्ध आत्मा, उसमें निहित अशुद्ध पुद्गल कणों के कारण दुर्बल होती है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, दुर्बलता ही आत्मा के शरीर में बंध-बांधने का कारण होती है। वही गतिविधियों की, कार्मिक कणों के आने की और आत्मा के अधिक बद्ध होने का कारण होती है। वासना से प्रेरित कषाय प्रेरित गतिविधियां केवल बंध का कारण ही नहीं होतीं, बल्कि वे यह भी निश्चित करती हैं कि बंध का रूप क्या होगा। बंध के चार कारक हैं :

स्मरणीय शब्द
अविरति : असंयम
देव : स्वर्गलोक के निवासी
कषाय : वासना
मनुष्य : पृथ्वी वासी मानव
मिथ्यात्व : भ्रमपूर्ण दृष्टिकोण
नारकी : नरक का प्राणी
प्रमाद : लापरवाही, असावधानी
तिर्यंच : पशु, वनस्पति, कीट आदि

(1) **प्रदेश बंध** - कार्मिक परमाणुओं के कितने समुह (प्रदेश) का जीव के साथ बंध है।
(2) **अनुभाग बंध** - बंध की दृढ़ता या दुर्बलता अर्थात् उसकी सघनता और तीव्रता।
(3) **अवधि बंध** - बंध के लिए अवधि पूर्व निश्चित। (बंध कितने काल तक होगा)।
(4) **प्रकृति बंध** - बंध की प्रकृति अर्थात् आत्मा पर बंध का प्रभाव। जैसे कि ज्ञानावरणीय, वेदनीय, इ.

कषाय जितना शक्तिशाली होगा बंध के कार्मिक कणों की संख्या भी उतनी ही अधिक होगी। बंध भी उतना ही दृढ़ होगा। बंध का घनत्त्व और उसकी अवधि भी उतनी ही अधिक होगी। उदाहरणार्थ एक गतिविधि का परीक्षण करें। जैसे कि किसी प्राणी की हत्या। हत्या तीन विभिन्न स्थितियों में की गई।

पहले उदाहरण में हत्या बिना उद्देश्य की गई। दुर्घटना में मृत्यु हुई, जिसमें स्वयं हत्यारा भी अनजान है। दूसरी घटना, हत्यारे के पास हत्या के सिवा और कोई चारा नहीं था (आत्मरक्षा या अन्न आदि) मगर कम से कम लोगों की जान लेने की कोशिश और कम से कम दुख देने की भावना हो। हत्यारा स्वयं दुख, पश्चाताप की भावना में है। तीसरी घटना में हत्या जानबूझकर लालच, क्रोध, बदले की भावना से की गई और क्रूरतापूर्वक की गई, जिसमें पीड़ा कितनी होगी इसका कोई ख़्याल नहीं। यद्यपि गतिविधि एक है- हत्या! मगर उसमें निहित वासना में, कषाय में अंतर है। अंतर, वासना की तीव्रता में, घनता (Intensity) में है। तीनों के लिए कार्मिक बंध होगा मगर अंतिम तीसरी घटना में बंध दृढ़ होगा। तीसरे हत्यारे के लिए अधिक समय तक के लिए और अधिक तीव्र परिणाम कारक बंध होगा।

पाप और पुण्य कर्मों के बंध का तत्त्व

गतिविधि के लिए संस्कृत भाषा में 'कर्म' शब्द है। चूंकि गतिविधि निश्चित रूप से बंध का कारण होती है, अच्छे या बुरे परिणाम देती है, अत: अच्छी गतिविधि पवित्र कर्म और बुरी गतिविधि अपवित्र कर्म कही जा सकती है। अपवित्र बंध जहां आत्मा को मोक्ष के लक्ष्य से दूर ले जाता है वहां पवित्र बंध मोक्ष लक्ष्य के निकट ले जाता है और ऐसी स्थिति में ले जाता है जहां आत्मा को अपने बंध काटकर मुक्त होने के अधिक अवसर मिलेंगे। इस तरह मोक्ष की ओर प्रगति की दृष्टि से अपने जीवनकाल में पुण्यकर्म, अच्छे काम करना हितकर है, जैसे दीनों की सहायता, दान-पुण्य करना, अज्ञान को शिक्षा देना, ये कर्म, सिर्फ़ हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने से और असंख्य कार्मिक कणों को बटोरते रहने से कहीं अच्छे हैं। किसी भी गतिविधि (कर्म) के अभाव में कर्म-बंध को, कर्म के भार को निकाल फेंकने के अवसर कम होंगे और मोक्ष का लक्ष्य कभी भी प्राप्त नहीं होगा। जैन दार्शनिकों ने गहन अध्ययन के बाद कार्मिक-बंध के विभिन्न परिणामों का विश्लेषण और वर्गीकरण किया है। उन्होंने कर्म को आठ वर्गों में विभाजित किया है। इसकी चर्चा हम बाद में करेंगे।

संवर (कार्मिक कणों के प्रवाह को रोकना)

जीने के लिए कर्म करते रहना अनिवार्य है। यदि प्रत्येक कर्म/गतिविधि कार्मिक कणों का प्रवाह और उनके द्वारा बंध का कारण है तो क्या कार्मिक कणों को आने से रोकने का कोई उपाय है? जैन दार्शनिकों की शिक्षा को हम याद करें कि बंध-प्रक्रिया में सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका कषाय (वासना) की है। जैन मार्ग (खंड एक) की योजना ही इसी उद्देश्य से की गई है कि कषाय पर विजय पाते रहें। आत्म-अनुशासन से बंध-कारकों पर नियंत्रण पा सकते हैं, जिससे कार्मिक कणों का प्रवाह मंद होता हुआ और अंतत: पूर्ण रूप से रुक जाता है, बंद हो जाता है।

निर्जरा (कर्मों से आंशिक रूप में पृथक्करण का तत्त्व)

आत्मानुशासन द्वारा कार्मिक कणों का प्रवाह रोका जा सकता है और बंध की प्रक्रिया भी रोकी जा सकती है, लेकिन पहले से ही बंध में बंधी आत्मा की शुद्धि किस प्रकार हो सकती है? सौभाग्यवश यह भी संभव है। हम पढ़ चुके हैं कि बंध की अवधि, बंधन के समय ही तय हो चुकी होती है। सभी बंध चाहे कमज़ोर हों या दृढ़, कर्मफल मिल जाने के बाद स्वयं झर जाते हैं। यही स्वाभाविक पृथक्करण का सिद्धांत है। यह प्रक्रिया एक जीवनकाल में भी पूरी हो सकती है या फिर इसके लिए कई जन्म भी लेने पड़ सकते हैं।

वस्तुत: प्रत्येक चेतन प्राणी के साथ यह प्रक्रिया (बंध के स्वाभाविक पृथक्करण और नए कर्मबंधों का बंधन) निरंतर चलती रहती है।

विश्व के संचालक नौ सिद्धान्त

	सिद्धांन्त	संचालन
1.	जीव का अस्तित्व	प्रत्येक आत्मा सदा प्रदूषित अवस्था में होती है। दूषित आत्माएं संसार चक्र में (जन्म-मृत्यु, चक्र में) फंसती हैं। मनुष्य अपनी आत्मा को शुद्ध कर सकते हैं।
2.	अजीव का अस्तित्व	पुद्गल पदार्थ कण आत्मा को दूषित करते हैं। काल और आकाश (पदार्थ) तत्त्वों के पर्याय परिवर्तन में सहायक होते हैं।
3.	आस्रव	दूषित आत्मा का कंपन (Vibrations) कार्मिक कणों को अपनी ओर खींचता है।
4.	बंध	कषाय (Passions) प्रेरित गतिविधियां आत्मा एवं कार्मिक कणों के बीच बंध निर्माण करती हैं।
5.	पुण्य	शुभ, पवित्र कर्मों के परिणामस्वरूप बंध शुभ परिणामकारक होते हैं।
6.	पाप	अपवित्र, अशुभ कर्मों के परिणामस्वरूप बंध बुरा परिणाम देते हैं।
7.	संवर	तप एवं आत्मसंयम से कषाय पर नियंत्रण अथवा कषायों का निर्मूलन करना संभव है, इस प्रकार नए बंध की रचना नहीं होती।
8.	निर्जरा	कर्मफल देने के बाद कार्मिक कण स्वयं नष्ट होते हैं।
9.	मोक्ष	आध्यात्मिक प्रगति के उच्च स्तर पर 'आस्रव' शून्य हो जाते हैं और 'निर्जरा' के कारण कार्मिक कणों का पूरी तरह लोप, निर्मूलन होता है।

यदि स्वाभाविक रूप से संपन्न पृथक्करण (Dissociation) ही कार्मिक कणों को मिटाने का एकमात्र उपाय होता तो आत्मा शायद कभी भी पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाती। सौभाग्यवश मानवी प्रयत्नों और साधना के कारण कार्मिक कण आत्मा से पृथक किए जा सकते हैं। फल देने से पूर्व भी यह संभव है। प्रयत्न कौन से? मोक्ष के लिए जैन मार्ग में बताए गए चौदह गुणस्थानों के द्वारा आध्यात्मिक प्रगति के प्रयत्नों से!

मोक्ष

जैन मार्ग की योजना न केवल आत्म-संयम द्वारा कार्मिक कणों के प्रवाह को रोकने के लिए है, बल्कि बाह्य और अंतर तपश्चर्या द्वारा बंधे कर्मों को हटाया भी जा सकता है। ध्यान, प्रायश्चित, संग्रह परित्याग के दैनिक अभ्यास से लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

हम जैसे-जैसे मोक्ष मार्ग पर बढ़ते जाते हैं, कार्मिक कणों का आस्त्रव धीरे-धीरे कम होता जाता है। पृथक्करण की प्रक्रिया गति पकड़ती है-तेज़ होती है और इस प्रकार कार्मिक प्रवाह के क्षीण होते जाने से और साथ ही साथ पृथक्करण की प्रक्रिया में तेज़ी आने से अंततः कार्मिक कणों का प्रभाव शून्य हो जाता है। आत्मा अब सब बंधनों से मुक्त है- यही मोक्ष है। मोक्ष का अर्थ है जन्म-मरण के चक्र से स्थायी मुक्ति!

चारों प्रकार के घाती कर्मों का (अध्याय 9) क्षय होने पर साधक 13 वें गुणस्थान में पहुंचता है। बहुतांश साधकों के अघाती कर्मों का भी क्षय यहां तुरंत ही हो जाता है, और देहांत होकर उनकी आत्मा सिद्धलोक चली जाती है। कुछ थोड़े साधक, जिनके पूर्वभव के अघाती कर्मों में तीर्थंकर पुण्य कर्म होता है, तेहरवें गुणस्थान पर पहुंचने पर अपने पुण्य कर्मों के प्रभाव से जीवंत रहकर सर्व जीवात्मा तक अपना मुक्तिमार्ग का संदेश पहुंचाने का काम करते हैं। मुक्तिमार्ग का संदेश देनेवाले इन साधकों को 'अर्हंत' या तीर्थंकर कहा जाता है। कालांतर से अर्हंत के सारे अघाती कर्मों का भी क्षय होता है और चौदहवें गुणस्थान में पहुंचते ही निर्वाण होने पर तीर्थंकरों की आत्माएं भी सिद्धलोक चली जाती हैं।

मुक्त आत्मा अब पुद्गल (Matter) के दूषित प्रभावों से सर्वथा मुक्त है। मुक्त आत्मा पुनः अपने मूल चरित्र को प्राप्त करती है - अनंत बोध, अनंत ज्ञान, अनंत ऊर्जा और अनंत आनंद। अनंत सर्वज्ञान, सर्वत्र विद्यमानता और अनंत ऊर्जा जैन आदर्श है। उनके लिए यही ईश्वरत्व है। प्रत्येक जैन का यही प्राप्य है, यही आदर्श लक्ष्य है। जो इस लक्ष्य को प्राप्त करते हैं, वही उनके नायक हैं। वही मार्गदर्शक हैं। वही उनकी समस्त भावना के, आराधना के एकमात्र पात्र हैं।

9. कर्म

प्राचीन जैन दार्शनिक अपने सिद्धांत का प्रतिपादन करने के लिए अनुभव, प्रयोग, निरीक्षण, तर्क, विवेक और विश्लेषण का सहारा लेते थे। आज यही पद्धति वैज्ञानिक पद्धति कही जाती है। प्रसिद्ध फ्रान्सीसी वैज्ञानिक रेने डेकार्ट्स को (17 वीं सदी) इस पद्धति के विकास का श्रेय दिया जाता है। उन्होंने भावी वैज्ञानिकों को परामर्श दिया था- 'जो स्वयं प्रमाणित नहीं है, उस पर संदेह करो। हर समस्या को उसके सरलतम घटक पर लाकर परीक्षण करके परखो।'

जैन दार्शनिकों ने सदियों पहले इस पद्धति को अपनाया था। उन्होंने न केवल शंका-संदेह से सृष्टिकर्ता ईश्वर के अस्तित्व को नकारा था, बल्कि इसी पद्धति से धरती पर पीड़ा, दुख की उलझी समस्या को तर्कपूर्ण विश्लेषण द्वारा सरलतम घटक पर लाकर विश्लेषित किया था। उनकी खोज उन्हें जीव और जीव का दूषित होने की परिकल्पना तक ले गई और विश्लेषण के रास्ते पर चलकर उन्होंने जीव के दूषित होने और मुक्त होने की प्रक्रिया को जाना। जब तक जीव के दूषित होने के सही कारणों का पता नहीं चलता तब तक जीव की शुद्धि का सही मार्ग कैसे बनाया जा सकता था ?

जैसा कि आगे स्पष्ट होगा जैन दार्शनिकों ने जीव के शुद्ध होने, या न होने की जटिल समस्या को छोटे-छोटे प्रश्नों में विश्लेषित किया, जैसे जीव क्या है? उसके गुण क्या हैं? जीव अशुद्ध होता है तो क्या होता है? वह दूषित क्यों होता है? दूषित करने वाले कारकों की प्रकृति कैसी होती है? क्या दूषित होने की प्रक्रिया रोकी जा सकती है? क्या वह उलट दी जा सकती है? क्या जीव का पूर्ण शुद्धिकरण संभव है? यदि हां, तो कैसे?

अपने नित्य प्रति के अनुभवों से उन्होंने निष्कर्ष निकाला, प्राणी के अंदर स्थित जीव ही सीखता है, देखता है और जानता है। इसके आगे वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि प्राणी-जीव (जो सब कुछ देख, सुन, समझ सकता है) तथा पुद्गल (Matter) (जो कुछ भी देख, सुन, नहीं सकता, जो बोध शून्य है) की शक्तिशाली क्रिया-प्रतिक्रिया की उपज है। अगर जीव विशुद्ध चेतना है, (अध्याय 7 में हम पढ़ चुके हैं) और हम मानव, संपूर्ण सत्य को जानने में असमर्थ हैं तो क्या यह निष्कर्ष हम नहीं निकालें कि जीव की ज्ञान, बोध की पूर्ण क्षमता में पुद्गल (Matter) बाधक है? और यदि है तो, पुद्गल किस तरह जीव के सहज स्वाभाविक गुणों को ढांकने में, अवरुद्ध करने में सफल होता है? पुद्गल की विशिष्ट प्रकृति ही इसका उत्तर है। पुद्गल की रचना अत्यंत

सूक्ष्म आणविक कणों से हुई है। ये सूक्ष्म कण किसी प्रकार जीव से संलग्न होते हैं।* मृत्यु के समय जीव सूक्ष्म कार्मिक (पुद्गल) कणों सहित निकल जाता है और जड़ पदार्थ या शरीर पीछे छूट जाता है। कुछ इसी तरह के तर्कसंगत निष्कर्ष उनकी खोज में से निकले।

बड़ी समस्या को हल करने की एक वैज्ञानिक तकनीक है - बड़ी समस्या को सरल छोटे-छोटे खण्डों में विभाजित कर उन्हें सुलझाना। जैन दार्शनिकों ने भी वैज्ञानिकों की इसी घटाने की विधि (Technique of Reduction) से गहन विश्लेषण किया। जैसे अति सूक्ष्म कण क्या हैं? उनके द्वारा जीव के बंध के क्या कारण हैं? पदार्थ-पुद्गल की वास्तविक विशेषताएं सर्वत्र एक समान हैं। अत: अणु स्तर पर बंधकारक पुद्गल भी समान ही होंगे। यदि ऐसा है तो फिर एक ही समान पुद्गल के सूक्ष्म कणों के जीवों से बंधन का परिणाम भिन्न क्यों होता है? जैसे प्राणियों के रूपाकार विभिन्न क्यों होते हैं? विभिन्न प्राणियों के बंध के परिणाम भिन्न क्यों होते हैं? क्यों और कैसे हमें पीड़ा, वेदना को सहन करना पड़ता है?

वर्षों के अध्ययन, मनन, चर्चा, वाद-विवाद के बाद ही जैन दार्शनिक विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुंचे होंगे कि कहीं न कहीं जीव ही किसी प्रकार अपने बंध के लिए उत्तरदायी है। समस्त मानवीय दुख, वेदना, पीड़ा एक सरल सिद्धांत का परिणाम है- कार्य-कारण सिद्धांत! कारण के बिना कार्य नहीं होता। इसलिए दुख, वेदना, पीड़ा सब बद्ध जीव (Trapped Soul) के किए गए कर्मों का परिणाम होना चाहिए। दूसरे शब्दों में जीव स्वयं किसी न किसी प्रकार अपने सुख-दुख, वेदना के लिए ज़िम्मेदार है। ऐसा सोचना शायद कठोर लग सकता है और शायद स्वीकार्य भी न हो। उदाहरणार्थ इसका मतलब यह होगा कि एक व्यक्ति कैंसर जैसी गंभीर बीमारी से पीड़ित है तो क्या यह उसके ही इस जन्म के या विगत जन्मों के कर्म का फल है? ऐसी घोर विपत्ति के लिए उसके बुरे कर्म या नकारात्मक कर्म उत्तरदायी हैं। बात भले ही, कितनी ही कठोर क्यों न लगे, मगर प्रकृति का नियम तो यही है - कार्य-कारण सिद्धांत, इसके सिवाय और कोई तर्कयुक्त स्पष्टीकरण संभव नहीं है। यदि कर्म बंधकारक है तो विभिन्न कर्मों का फल विभिन्न ही होगा - चाहे सुख हो या दुख या प्रेम। अगर समस्त बंध-कारक सूक्ष्म कण समान हैं तो यह मानना उचित होगा कि बंध की प्रक्रिया में, तंत्र में ही अंतर है।

जीव स्वयं अपने कर्मों के कारण कर्मबंध के लिए और अपने दु:खों के लिए जिम्मेदार है।

---

* पुद्गल अत्यंत सूक्ष्म कण होते हैं जो किसी प्रकार जीव से संलग्न हो जाते हैं, यह वर्णन केवल दृश्य की कल्पना के लिए ही वर्णित समझें क्योंकि वास्तव में जीव निराकार है। कार्मिक कण वास्तव में नीराकार जीव से संलग्न नहीं हो सकते। प्राचीन ग्रंथों में यह कई तरह से, उदाहरणों से समझाया गया है। कुछ वर्णन यहां दिए जा रहे हैं। (1) पुद्गल जीव को मलिन बनाता है जैसे शुद्ध जल को धूल के कण मैला बनाते हैं। (2) जीव की तेजस्विता को (असीम सर्वज्ञता, ऊर्जा, असीम आनंद आदि को) कार्मिक-कण उसी तरह धूमिल करते हैं, जिस प्रकार मेघ सूर्य को या धूल के कण हीरे की आभा को। हम आगे भी संलग्नता (Attachment) की उपमा देते रहेंगे। कृपया स्मरण रखें, यह धारणा अपने आपमें भाववाचक अर्थात् भावगम्य है।

जन्म-मृत्यु चक्र (संसार)

जीव का पुद्गल कणों से बंध अनादिकाल से है। अर्थात् जीव सदा मलिन-अशुद्ध रहा है (ईसाई मान्यता की तरह कि मनुष्य जन्म से ही पापी है)। जीव इसी तरह अनिश्चित काल तक मलिन रह सकता है, जब तक प्रयत्नपूर्वक मनुष्य कर्मबंध काटकर उससे मुक्त नहीं होता। एक दूषित जीव विभिन्न पर्यायों में, रूपाकारों में जन्म लेकर संसार-चक्र ही में फंसा रहता है। स्वयं जीवन ही इच्छाओं, वासनाओं (कषाय) से भरा है। वासनाओं के प्रभाव से और वासना प्रेरित गतिविधियों के प्रभाव से (शारीरिक कंपन, ध्वनि कंपन एवं मानसिक कंपन) जीव, कार्मिक-कणों को आकृष्ट करता है और कार्मिक कणों के बंध का कारण बनता है। चूंकि 'बंध' कर्मफल है अत: बंधकारी कणों को 'कार्मिक कण' कहा जाता है।

बंध जितना अधिक दृढ़ होगा, जीव उतना ही अधिक संसार में जन्म-मृत्यु के चक्र में फंसता जाएगा। बद्ध जीवों का पुनर्जन्म केवल हमारे लोक तक ही सीमित नहीं, विश्व में कहीं भी आत्मा का पुनर्जन्म हो सकता है। बद्ध (Trapped) जीवों की प्रमुख चार गतियां इस प्रकार हैं :

(1) मनुष्य - ऐसा जीवन जिसमें प्रयत्नपूर्वक, उद्देश्य सहित कर्मबंध को काट फेंकने के और मोक्ष की ओर बढ़ने के अवसर मिलते हैं।

(2) देवगति - (देव) जिन जीवों को गत जन्मों के कर्मों के फलस्वरूप एक बेहतर, कष्ट रहित और सुखी जीवन उपलब्ध है।

(3) नारकी - ऐसा जीवन जिसमें जीव दृढ़तापूर्वक पीड़ादायी कर्मों से बंधे हैं और जिन्हें अपने दुष्ट कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है।

(4) पशु एवं वनस्पति (तिर्यंच गति) - ऐसा जीवन जहां जीव निष्क्रिय होकर अविरोध, गत जन्मों के कर्म का फल आनंदपूर्वक या दुखी होकर भोगते हैं। उन्हें न तो मोक्ष की कल्पना है और न ही मनुष्य के समान वे मुक्ति का प्रयत्न कर सकते हैं।

केवल मनुष्य ही, जिसकी दुख सहन करने की, विचार करने की शक्ति के बल पर; सम्यक् दृष्टि से यथार्थ को जानकर अपने लक्ष्य के प्रति सचेत हो सकता है और समझ-बूझकर हेतु पूर्वक इच्छाओं पर नियंत्रण कर पाता है, बंध काटता है और बंद जीव को मुक्त करता है। पशु और वनस्पति भी अपने कर्मों का फल भोगते हैं, मगर अज्ञान के कारण अपने दु:ख भोग में से कोई रास्ता नहीं निकाल पाते। इसलिए मोक्ष प्राप्त नहीं करते।*

---

* जैन साहित्य में ऐसी कथाएं हैं, जिनमें कुछ विशेष पशुओं की मोक्ष प्राप्ति का उल्लेख है। निश्चित रूप से उन पशुओं के विगत जन्मों के कर्म फल के कारण वे ही मोक्ष के लक्ष्य के पास तो पहुंचे होंगे पर मोक्ष प्राप्त नहीं कर सके होंगे। कुछ कर्मफल भोगने के लिए शेष रहा होगा, जो उनहें पशु का जन्म मिला। पशु जन्म पाकर शेष कर्मफल संयोगवश तीर्थंकरों के प्रवचन आदि सुनने से समाप्त हो गए और उनका जीव मुक्त हुआ।

वे यदि कुछ कर सकते हैं तो सिर्फ गत जन्मों का फल भुगतना, बस यही और जब कर्मफल का भोग पूरा हो जाता है, जब कार्मिक बंध का बोझ हलका हो जाता है तब उनका जीव भावी जीवन-चक्र में मनुष्य जन्म भी ले सकता है। देव गति के जीव ऊपरी तौर पर सुखी होते हैं, मगर मोक्ष प्राप्ति की न तो चिंता करते हैं और न ही तप आदि के द्वारा मोक्ष के लिए प्रयत्न! नारकी गति के जीवों को, सिवाय असीम दुख-पीड़ा सहने के और कोई उपाय नहीं होता। उन्हें अपने कर्मफल को बारंबार जन्म-मृत्यु के चक्र में घूमकर भोगना पड़ता है। कर्मफल का भार जब हलका होता है तभी वे किसी अन्य रूप में जन्म पाते हैं।

बंध की रचना

जैन दार्शनिकों का विश्वास रहा है कि पुद्गल कण जो अणु कहलाते हैं, आकाश के प्रत्येक भाग में मुक्त विचरण करते हैं। पुद्गल कणों का आठ वर्गों में वर्गीकरण है*। इनमें से एक कर्म वर्गणा समूह है- इसी के सूक्ष्म कण कार्मिक बंध का कारण हैं। हमारे अंतर में स्थित जीव ही हमारे कर्मों का संचालक है। ये कर्म मन से, वचन से और शरीर से किए गए हो सकते हैं। इसके उत्तर में वे कंपन पैदा करते हैं। कंपन से कार्मिक कण आकृष्ट होते हैं। यद्यपि आकृष्ट कण सभी बिलकुल एक समान होते हैं तथापि परिणाम में भिन्न होते हैं। परिणाम की भिन्नता कंपन की प्रकृति और उसमें स्थित वासना पर निर्भर करती है। कंपन कार्मिक कणों को जीव के निकट ला सकते हैं, किंतु उनका बंध अल्पकालिक, क्षणिक हो सकता है, अगर उस समय कषाय, (वासना) न हो तो। कषाय की तीव्रता जितनी अधिक होगी उतना ही दृढ़ बंध होगा और जीव की मुश्किलें भी उतनी ही बढ़ जाएंगी, कार्मिक कणों से जीव को शुद्ध करने में। तात्पर्य, जितनी अधिक वासना तीव्र, उतना ही अधिक दृढ़ कर्म बंध और उतना ही कठिन जीव के लिए मुक्त होना।

बंध प्रक्रिया रोचक है। जीव से पहले से ही बद्ध कार्मिक कण गतिविधि के लिए पहल करते हैं। गतिविधि इसके बदले में कर्म कराने वाले कणों में कंपन उत्पन्न करती है। कंपन दो प्रकार का होता है- एक सामान्य कंपन- काफी उदासीन, कषाय रहित गतिविधि से उत्पन्न होता है- ऐसे सामान्य कंपन से उत्पन्न बंध द्रव्य कर्म कहलाते हैं। ये दुर्बल होते हैं। मगर इस बंध से और अधिक कंपन उत्पन्न होता है। जब किसी की मानसिक गतिविधि से जिसमें वासना हो - कषाय हो, भावना हो और हेतु (भाव) हो तब जटिल कंपन उत्पन्न होता है। जटिल कंपन के कारण उत्पन्न बंध दृढ़ होता है। यही भाव कर्म कहलाता है। (भाव पर-उद्देश्य पर आधारित कर्म)।

यह एक रोचक, किंतु ध्यान देने योग्य मुद्दा है कि पहले ही से बद्ध कर्म, गतिविधि उत्पन्न करते हैं तथा जीव की तरफ, और अधिक कणों को आकृष्ट करते हैं। इस प्रकार यह चक्र चलता ही रहता है। सौभाग्य से यदि कोई इच्छा वासना कर्म से जुड़ी नहीं है, तब नए आकृष्ट कणों से निर्मित दुर्बल बंध तत्काल आसानी से नष्ट

* जैनों द्वारा सभी पुद्गल कणों का विभिन्न समूहों में विभाजन किया गया है (वर्गणा समूह)। जैसे औदारिका वर्गणा (जड़ देहरचना), मनोवर्गणा (मन रचना) कर्मण वर्गणा (कर्म रचना) आदि।

होते हैं। इससे जीव और अधिक मलिन नहीं होता। स्पष्ट है कि जब एक सामान्य कीड़े को मारने का हमारा कर्म कषाय युक्त होता है तो जीव की हानि करता है। वही कर्म यदि बिना उद्देश्य के हमसे हो जाता है तो जीव की मलिनता और हानि न्यूनतम होती है। इस प्रकार भौतिक कर्म और उसका दूसरा आध्यात्मिक पहलू परस्पर कार्य-कारण भाव से संबंधित है। विकल्प रूप में द्रव्य एवं भाव कर्म परस्पर पूरक हैं और इस प्रकार यह चक्र चलता ही रहता है। तब तक, जब तक कि जीव मानव जीवन में बुद्धिपूर्वक, हेतुपूर्वक संसार-चक्र से स्वयं को मुक्त नहीं करता।

कर्म के प्रकार

जैन दार्शनिकों ने भाव कर्म को मुख्य दो विभागों में (घाती और अघाती) और आठ प्राथमिक वर्गों में (जिसके 93 उपवर्ग हैं) विभाजित किया है। कार्मिक कणों के प्रवाह का अंतर की ओर आना (आश्रव) और उनका बंध दोनों का मूल कारण गतिविधि है। अत: कर्म का विभाजन, गतिविधि पर और कर्म की संलिप्तता (Involvent) पर आधारित है।

कर्म के आठ प्राथमिक वर्ग

कर्म के प्राथमिक आरंभिक वर्ग आगे जाकर दो समूहों में विभाजित हैं। निम्नांकित प्रथम चार 1, 2, 3, 4 वर्ग के कर्म जीव की दृष्टि से अहितकारी हैं और इसलिए विनाशी अथवा घाती कर्म कहलाते हैं। जीव द्वारा अपनी संपूर्ण शक्ति-सामर्थ्य को प्राप्त करने में वे बाधक होते हैं और संसार चक्र में जीव के बद्ध होने के लिए मुख्य रूप से ज़िम्मेदार हैं। घातिया कर्मों के पूर्ण क्षय से मोक्ष सुनिश्चित किया जा सकता है और जीव को अनंत ज्ञान, अनंत ऊर्जा, अनंत आनंद से पुन: शक्ति संपन्न बनाया जा सकता है।

वर्ग (संख्या 5, 6, 7, 8) के कर्म मोक्ष प्राप्ति की प्रक्रिया में किसी प्रकार से परिणामकारी नहीं हैं। इसलिए इन्हें अविनाशी या अघातिया कर्म कहते हैं। यहां स्मरण रखें कि घाती या अघाती विभाजन विशुद्ध रूप से मोक्ष-प्राप्ति में कर्मों की बाधक मात्रा, बाधक क्षमता पर आधारित है। अघातिया कर्म हमें अपने जीवन काल में कई तरह से दुखी कर सकते हैं, पर चूंकि वे जीव के सहज स्वाभाविक गुणों को प्रभावित नहीं करते, अत: उन्हें घातक नहीं माना जाता।

घाती कर्म

(1) ज्ञानावरणीय कर्म (ज्ञान रोधक कर्म) – ज्ञान, विद्वता की उपेक्षा, उपहास, विद्वान का अपमान, अनादर करने वाली गतिविधियां, स्वयं अकर्मण्य रहना, दूसरों की शिक्षा-ज्ञान संबंधी गतिविधियों में बाधक बनना, ग़लत भ्रामक समाचार फैलाने वाली गतिविधियों आदि से ज्ञानरोधक (Knowledge obstructing) कर्मों में वृद्धि होगी। ऐसे कर्मों से जीव के बोध, बुद्धि और ज्ञान में बाधा उत्पन्न होती है।

(2) दर्शनावरणीय कर्म - उपर्युक्त गतिविधियां यदि दृष्टा व्यक्ति अथवा उसके/उसकी दृष्टि को लक्ष्यकर की जाती हैं तो जीव का सहज ज्ञान बाधित होता है। उसका जीव प्रज्ञा-रोध बंध कर्म से बद्ध होता है। इस प्रकार बद्ध जीव में प्रज्ञा और दृष्टि की कमी पैदा होती है।

(3) अंतराय कर्म - जीव की अनंत ऊर्जा को बाधित करते हैं और हमारी धन, शक्ति और आध्यात्मिक गतिविधि को प्राप्त करने या उसका आनंद लेने में बाधा पहुंचाते हैं। वे जो धनार्जन करते हैं, आध्यात्मिक गतिविधि के लिए दान देते हैं, ज़रूरतमंद की सहायता करते हैं, दूसरों को खुशी देते हैं, ऐसे लोगों के कार्य में रोधक बनने से अंतराय कर्म बंधनों में वृद्धि होती है। ऐसे कर्मों से बद्ध जीव में जीवन का आनंद लेने की क्षमता नहीं होती और न ही साधन-स्रोत से सुख प्राप्ति की क्षमता होती है। वे प्रयत्न करने में भी सक्षम नहीं होते। समय, ऊर्जा, धन के मामले में भी वे उदार नहीं होते। उन्हें अपने समाज और जाति में मान्यता, सम्मान, आदर नहीं मिलता।

(4) मोहनीय कर्म- वैसे मोहनीय कर्म अट्ठाईस उपविभागों में विभाजित है, किंतु मूल रुप से इनके दो मुख्य प्रकार हैं। एक-सम्यक् दृष्टि को मलिन करने वाले अर्थात् दर्शन मोहनीय और दूसरे चरित्र हनन करने वाले चरित्र मोहनीय कर्म।

(अ) दर्शन मोहनीय - मोहनीय कर्म जैसे, पूर्ण सत्य के विषय में मिथ्या धारणा, मिथ्या विश्वास, मत-मतांतरों, विचारों की भिन्नता को लेकर अनादर की भावना रखना, अनादर का समर्थन करना और अपने दुराग्रह की वकालत करना, जीव के आध्यात्मिक कल्याण की उपेक्षा करना, ऐसी गतिविधियों से जीव दर्शन मोहनीय कर्म बद्ध होता है। दर्शन दोष के कर्मों से प्रभावित व्यक्ति का जीवन अव्यवस्थित, अस्त-व्यस्त होता है। वह जीव की गहराई में उतरकर सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकता।

ऐसा व्यक्ति -

- विप्लववादी (Extrimist) होता है। दूसरे का दृष्टिकोण समझने में असमर्थ होता है।
- अनास्था युक्त अश्रद्धावान होता है। ज्ञान, स्थापित सिद्ध सत्य के प्रति निष्ठा के अभाव वाला होता है।
- अज्ञानी, नई विचारधारा, नई धारणाओं और सत्य को जानने के प्रति उदासीन और निरुत्साही होता है।
- वह इस भ्रम का शिकार होता है कि सभी आध्यात्मिक मार्ग एक हैं, उनका एक ही लक्ष्य है।

ऐसा मूढ़ अविश्वासी व्यक्ति 'जागृति' की अवस्था (अध्याय 2 में चर्चा) को कभी प्राप्त नहीं कर सकता और मोक्ष मार्ग की यात्रा का आरंभ भी नहीं कर सकता।

(ब) चरित्र मोहनीय कर्म - घातक वासनाएं जैसे लोभ, क्रोध, छल, कपट, अहंकार, काम आदि प्रवृत्तियां चरित्र को छलने वाले कर्म, जीव को बांधते हैं। चूंकि कषाय प्रेरित कर्म कार्मिक बंध को और

कर्म के आठ प्राथमिक वर्ग

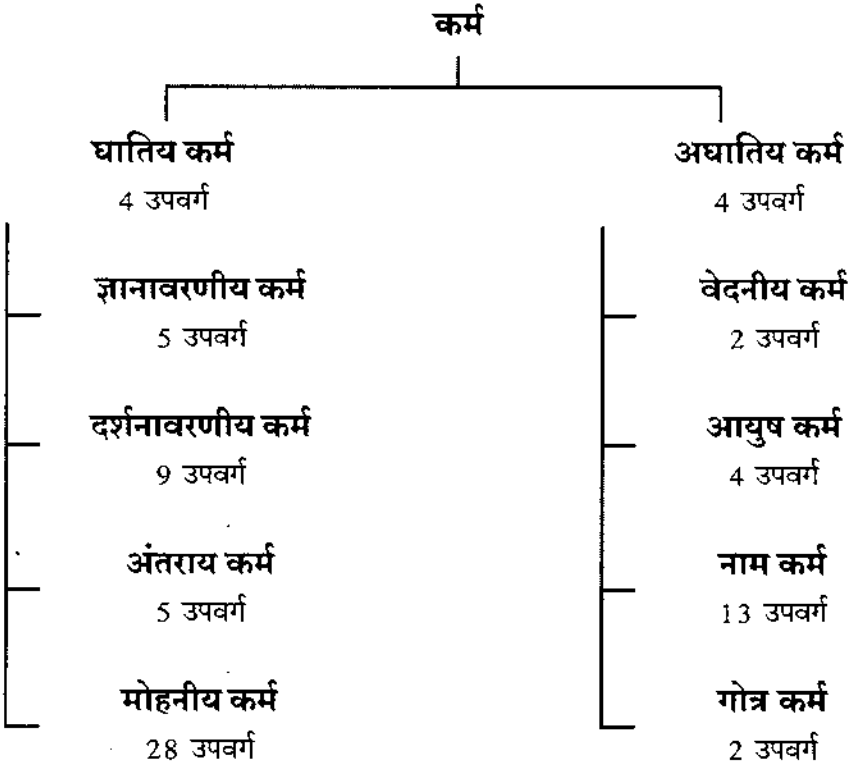

अधिक दृढ़ करते हैं और ऐसे व्यक्ति का जीव बंध की गहराई में अधिकाधिक डूबता जाता है।

उक्त चार प्रकार के कर्म जीव के यथार्थ स्वाभाविक गुणों के प्रकाशन में बाधक हैं। उसके मोक्ष मार्ग में बाधा उत्पन्न करते हैं, अत: ऐसे कर्मों को 'घातिया', विनाशक कर्म कहते हैं। शेष चार कर्म जीव के जीवन की गुणवत्ता को प्रभावित करते हैं, मगर जीव के मुक्त होने की क्षमता को प्रतिबंधित नहीं करते। अत: उन्हें अघातिया या अविनाशक कर्म कहते हैं।

अघातीय कर्म

(5) वेदनीय कर्म- (सुख या दुख की वेदनाएं उत्पन्न करने वाले कर्म)

इसका सीधा सरल मतलब है। हमारी गतिविधियां कार्मिक बंध का निर्माण करती हैं। यदि प्रेम, सहानुभूति,

क्षमा, सहयोग की भावना, सेवा, दान आदि प्रवृत्तियों से दूसरों को आनंद प्राप्त होता है और सुख-सुविधा मिलती है तब इसका अर्थ है आपने आनंद उपलब्ध कराने वाले (सत् वेदनीय कर्म) कर्म किए। इसके विपरीत हत्या, दुख देना, कष्ट पहुंचाना, नुक़सान करना आदि कर्म आपने सीधे-सीधे प्रत्यक्ष रूप से जानते-समझते हुए किए हैं या परोक्ष रूप से मनसा वाचा कर्मणा किए हों तो ऐसे कर्म पीड़ादायी (असत् वेदनीय) कहलाएंगे। ऐसे कर्मों का परिणाम स्पष्ट है। आपको इसकी क़ीमत चुकानी ही होगी या दंड भुगतना ही होगा। इस जन्म में न सही किसी और जन्म में निश्चित रूप से भुगतना है। वेदनीय कर्म फिर भी जीव की मुक्ति की राह में बाधक नहीं होते इसलिए (घाती) विनाशक कर्म नहीं कहे जाते।

(6) जीवन-अवधि निर्धारक कर्म- (आयु) - इस वर्ग के कर्म का प्रभाव दो तरह से होता है। एक किस रूप में जन्म, जैसे देव, मनुष्य, पशु, वनस्पति अथवा नारकी जीवन प्राप्त होगा और दूसरा, अन्य जन्म में जीवन की कितनी अवधि होगी। इस वर्ग में कर्म अगले जन्म में हमें किस योनि में जन्म मिलेगा तदनुसार जीव की मुक्ति के लिए हमें क्या अवसर मिलेगा, निश्चित करते हैं। उदाहरणार्थ- हिंसा, क्रूरता या अन्याय से अर्जित संपत्ति से भरा जीवन कर्मबंध को और दृढ़ बनाएगा। इससे जीव की मुक्ति का अवसर नहीं के बराबर होगा। उस स्थिति में उसे नारकी गति में जन्म मिलेगा। नारकी जीव को जाने कितने लंबे समय तक उसी रूप में भोगना पड़ेगा। अगर हम मनुष्य पशु-प्राणियों का तो समादर करें, परंतु निम्न श्रेणी के कीट-पतंगों को अकारण नष्ट करें तो बहुत संभव है, हमें उन्हीं जैसा जन्म मिले और उन्हीं जैसी हमारी नियति, मृत्यु भी हो, जब हमने उन्हें बुरी तरह नष्ट किया था।

कितने समय के लिए जीव किस रूप में-पर्याय में रहेगा और उसकी उम्र कितनी होगी यह तो संलग्न कर्मों की तीव्रता पर निर्भर करता है। आयुष कर्म का महत्त्व इसलिए है कि उसका बंध हमारे अगले जन्म में मिलने वाले शरीर से संबंधित सभी कारकों को निचित करता है। उदाहरणार्थ मान लें कि अगला जन्म बहुत ही थोड़े समय का, कुछ ही क्षणों का होगा, तो हो सकता है, हमारा पुनर्जन्म एक सूक्ष्म जीवाणु का हो, कुछ वर्षों की अवधि सत्तर साल से सौ साल तक की अवधि के लिए जन्म हो तो अगला जन्म मनुष्य शरीर का या पेड़ का मिले।

यदि हम सीधा-सरल जीवन जीते हैं 'अ' कारत्रय (अहिंसा, अनेकांत, अपरिग्रह सिद्धांत) के सिद्धांतों की स्निग्ध छाया में जीवन पलता है तो निश्चित रूप से 'अकारत्रय' से प्रभावित जीवन अगले जन्म में एक मनुष्य के रूप में जन्म की सुनिश्चितता है, जिसमें मोक्ष की ओर जीवन उन्मुख होगा। यदि हम आस्था से 'अकारत्रय' को जीवन में चरितार्थ करें, मोक्ष मार्ग पर प्रयत्नपूर्वक आगे बढ़ें, अविनाशक कर्म का संचय करें तो देव गति में पुनर्जन्म पाकर जीवन में सांसारिक सुख-लाभ से पुरस्कृत हों, फिर से मनुष्य तन पाकर मोक्ष मार्ग की यात्रा सफलतापूर्वक संपन्न करें। हम आशा कर सकते हैं कि कभी न कभी हमारे कर्म पक्व होकर, फलित होकर स्वयमेव जीव से अलग हो जाएं। परिणामत: किसी और रूप में हमें नया जन्म मिले।

(7) नाम कर्म- (शरीर रचना निर्धारक कर्म) - ये कर्म भी विभिन्न शरीरों में जन्म का निर्धारण करते हैं। जैसे कि नरक में जीवन, वनस्पति या पशु गति, मानव गति या देव वर्ग में जन्म। इसी के साथ 'नाम कर्म' प्राणी वर्ग अथवा वनस्पति वर्ग में किस विशिष्ट प्राणी या पेड़ का शरीर, रूप आपको मिलेगा, इसका भी निर्धारण करते हैं। उदाहरणार्थ - पुनर्जन्म यदि वनस्पति वर्ग में है तो किस जाति के पौधे का शरीर आपको मिलेगा या प्राणी वर्ग में भी किस विशेष प्राणी का शरीर मिलेगा यह 'नाम कर्म' तय करते हैं।

(8) गोत्र कर्म - गोत्र निर्धारक कर्म ही किसी व्यक्ति के उच्च या निम्न श्रेणी में जन्म लेना निश्चित करते हैं।

टिप्पणी -

सभी धर्मों के सिद्धांत समाज की उन्नति के लिए ज्ञानी-सयानों के कहे गए शब्द हैं। इस अर्थ में जैन कर्म सिद्धांत तो विशेष शक्तिशाली, प्रभावशाली सामाजिक दस्तावेज़ है। प्राणी स्वभावत: बिना प्रवृत्तियां किए नहीं रह सकता। प्रवृत्ति फिर चाहे शाब्दिक हो या मानसिक या शारीरिक। उसके कर्मों का परिणाम होता है अच्छा, बुरा या उदासीन। मनुष्य की बात करें तो उसकी प्रवृत्तियों के परिणाम, जिस समाज में वह रहता है उस समाज को प्रभावित करते हैं। उसके सरल, शांत, स्नेह-सौहार्द्र, करुणा, दूसरों के प्रति सम्मान-आदर की जीवनशैली का प्रभाव उसी प्रकार के अन्य समाज की रचना पर निश्चित पड़ेगा।

धार्मिक सिद्धांत प्राय: इसी तथ्य को ध्यान में रखकर बनाए जाते हैं। लेकिन उनका मूल्यांकन इस बात पर निर्भर करेगा कि वे सिद्धांत समाज के व्यवहार को कितना प्रभावित करते हैं। एक ऐसा सिद्धांत जो अपने आपको सदाचारी मानता है, मगर अन्य धर्म के सिद्धांतों, विचारों, मतों के प्रति असहिष्णु है या वह केवल स्वयं को ही 'एकमात्र सत्य' के प्रचारक के रुप में प्रचार के लिए अपने अनुयायियों पर दबाव डालता है, ऐसा धर्म, सिद्धांत दुराग्रही, हठधर्मी, कट्टर, आक्रामक वृत्ति का, युद्ध, संघर्ष के लिए सदा तत्पर, लड़ाकू-समाज का निर्माण करता है। वह धर्म सिद्धांत जो अनुयायियों को सिखाता है कि उन्हें हत्या करने का अधिकार है। दूसरे प्राणियों को नष्ट करने का अधिकार है, यहां तक कि धर्म के नाम पर दूसरे इन्सानों को मारने का अधिकार है, ऐसा सिद्धांत परोक्ष रूप में ही सही घोर अहंकार, उद्दण्डता और क्रूरता, पर्यावरण के विनाश और कालांतर में हमारी पृथ्वी के ही सत्यानाश का कारण बनता है। जब तक हम यह मानते रहेंगे कि दूसरे इन्सानों, जीवों को मारने का अधिकार धर्म ने हमें दिया है तब तक इन्सान-इन्सान के बीच क्रूरता का ताण्डव कभी समाप्त नहीं होगा।

वह धर्म सिद्धांत जो अनुयायियों को सिखाता है कि उन्हें हत्या करने का अधिकार है। दूसरे प्राणियों को नष्ट करने का अधिकार है, यहां तक कि धर्म के नाम पर दूसरे इन्सानों को मारने का अधिकार है, ऐसा सिद्धांत परोक्ष रूप में ही सही घोर अहंकार, उद्दण्डता और क्रूरता, पर्यावरण के विनाश और कालांतर में हमारी पृथ्वी के ही सत्यानाश का कारण बनता है। जब तक हम यह मानते रहेंगे कि दूसरे इन्सानों, जीवों को मारने का अधिकार धर्म ने हमें दिया है तब तक इन्सान-इन्सान के बीच क्रूरता का ताण्डव कभी समाप्त नहीं होगा।

जैन कर्म सिद्धांत- कार्य-कारण सिद्धांत पर बल देता है, 'जैसा तुम बोओगे वैसा काटोगे।' इसके अलावा जैनों का तर्कपूर्ण और वैज्ञानिक दृष्टि संपन्न विश्लेषण (Reductionism) आधुनिक विचारकों, बुद्धिजीवियों को एक प्रभावकारी विचार के रूप में स्वीकार्य भी है। जैन कर्म सिद्धांत हमें सिखाता है कि हम स्वयं ही अपने भाग्य के निर्माता हैं। यह प्रत्येक व्यक्ति पर निर्भर है कि वह सुख-शांति का स्रोत खोजकर उसे पाने का प्रयत्न भी करे। तीर्थंकरों ने शांति और मोक्ष का मार्ग खोजा है और स्वयं उस पर चलकर हमें मार्ग दिखाया है। हमें केवल साहस बटोरकर उस मार्ग पर चलने का संकल्प लेना है। कर्म सिद्धांत के प्रभाव का इसी से अनुमान होता है कि जैन धर्म ने क़तई आवश्यक नहीं समझा कि आचरण संहिता को लागू करके, उसे ठीक से व्यवहार में लाने के लिए पुरोहित, पंडा, धर्मगुरु आदि श्रेणी की स्थापना की जाय जो धर्म और आचरण के बीच किसी भी प्रकार से दबाव डालें या रक्षा की व्यवस्था देखें। जैन आचरण संहिता को पूरी तरह उसके अनुयायियों के तर्क, मुक्त चिंतन, विवेक पर छोड़ दिया गया है। जैन धर्म एक दर्शन है, जो अंततः जीव के स्वतंत्रता-मोक्ष प्राप्त करने का समर्थन करता है और यह उचित मानता है कि मनुष्य को अपने ढंग से कार्य करने की स्वतंत्रता दी जाए।

जैन कर्म सिद्धांत हमें सिखाता है कि हम स्वयं ही अपने भाग्य के निर्माता हैं। यह प्रत्येक व्यक्ति पर निर्भर है कि वह सुख-शांति का स्रोत खोजकर उसे पाने का प्रयत्न भी करे।

पास्कल का जुआरी दांव (Pascals wager)

'यथार्थ' की व्याख्या करने वाले दर्शन शास्त्र मोटे तौर पर दो समूहों में विभाजित हैं। एक समूह है जो ईश्वर को अतिशक्ति संपन्न मानकर विश्व का नियंता, संचालनकर्ता मानता है। दूसरा समूह इस बात को स्वीकार नहीं करता कि मनुष्य की नियति एक अति शक्तिसंपन्न सत्ता के अधीन है। जैन धर्म बौध धर्म और मानवतावाद तथा आधुनिक विज्ञान दूसरे समूह के अंतर्गत हैं।

दोनों समूहों के बीच यह सदियों पुराना विवाद का विषय रहा है। आधुनिक मन असमंजस में है, किसे माने, किसे न माने। ईश्वर के अस्तित्व के स्पष्ट व्यक्त प्रमाण के अभाव में पहले समूह ने प्रायः अंतर्जीव की गवाही का आश्रय लिया है। ''हमारा मार्ग पूर्ण निष्ठा और पूर्ण समर्थन का है।' वह कहता है (पहला समूह) ''ईश्वर में विश्वास रखो। उसे अपना जीवन समर्पित करो। उसकी 'छाया' में (आश्रय में) नेक जीवन जीओ।' वह विश्वास दिलाता है- ''तुम्हें स्वर्ग में निश्चित ही सुख और अखंड आनंद मिलेगा।' इस तरह की सोच चाहती है कि व्यक्ति अपनी सामान्य तर्कबुद्धि से काम न लेते हुए निष्ठा की ऊंची छलांग लगाए। अपने दिमाग को एक तरफ कर सिर्फ आंखें बंद करके विश्वास करे। इस तरह की सोच मनुष्य की, पुरस्कार या निष्ठा या इस भय की भावना से खिलवाड़ करती है कि कहीं मुक्ति या स्वर्ग हाथ से न निकल जाए।

इसके विपरीत दूसरे समूह के समर्थक भी, उनके मार्ग पर चलने से परम सुख और असीम आनंद प्राप्त करने का दावा करते हैं। आधुनिक विज्ञान इसी जीवन में चरम सुख पाने का विश्वास दिलाता है। बौद्ध समाधि के द्वारा

इसी जीवन में अखंड आनंद की बात करते हैं। जैन शारीरिक सुखों की उपेक्षा करते हैं, मगर इसी जीवन में आंतरिक शांति और परलोक में असीम आनंद का विश्वास दिलाते हैं। किसकी बात सही है? किसका दावा सच्चा है? किस रास्ते पर चलें?

इस तरह दुविधा में पड़े व्यक्ति को मनाने के लिए पहले समूह के समर्थक, लोगों को झुलाते-घुमाते रखने के लिए जुआरी के दांव का उपयोग करते हैं। सालों पहले एक फ्रांसीसी दार्शनिक महोदय हुआ करते थे- ब्लेज़ पास्कल! उनकी सलाह थी कि कोई दुविधा या संशय की स्थिति हो तो क्या करना चाहिए। ''अगर आपको दो अनिश्चित प्रस्तावों में से एक चुनना हो तो अपना दांव कम खतरनाक चीज़ पर लगाइए।' इसी को पास्कल वेज़र कहा जाता है। यही दांव लेकर पहले समूह के समर्थक हमें बुलाते हैं। ''हमारे खेमे में आओ और मज़े से अच्छी ज़िंदगी गुज़ारो। तप-तपस्या के कठीण मार्ग की कुछ ज़रूरी नही। अगर तुम्हें हमारे खेमे में जाना मंज़ूर नहीं तो समझो, हमेशा के लिए डूब जाओगे। तो खतरा क्यों मोल लेते हो?' वे कहेंगे। ''मान लो ईश्वर का अस्तित्व न भी हो तो अच्छी ज़िंदगी जीने में तुम्हारा क्या बिगड़ेगा? जैन मार्ग में मिलेगा तो केवल पुनर्जन्म और आगे कभी किसी जन्म में संभव हुआ तो मुक्ति! तो देखो जैनों का मार्ग खतरनाक है।'

जैनों के लिए एक अच्छे जीवन का अर्थ है ऐसी जीवनशैली जिसमें हमारा सुख-चैन, हमारी मन की शांति हमारे अपने मन-मस्तिष्क द्वारा नियंत्रित है, न कि किसी बाहरी तत्त्व के द्वारा। अच्छा जीवन जो धन, संपत्ति, प्रसिद्धि जैसी बाहरी वस्तुओं पर निर्भर है वह सच्चा सुख नहीं, बल्कि अस्थायी सुख-सुविधा मात्र है। उन वस्तुओं के जाते ही अच्छा जीवन भी चला जाता है। सच्चा सुख तो अपने अंतर में है। व्यक्ति के अंदर से शांत संतुष्ट होने में है।

सतही तौर पर उनका दावा लगता तो सही है। साफ़-सुथरी अच्छी ज़िंदगी जीने के विरुद्ध जैन कभी नहीं हैं। उनका अनेकांतवाद का सिद्धांत 'पास्कल वेज़र' की सलाह को माने न माने, पर उसका परीक्षण तो करेगा ही। उनका ध्यान दो शब्दों पर केन्द्रित होगा। एक 'अच्छा जीवन' और दूसरा शब्द 'खतरनाक'। जैनों के लिए एक अच्छे जीवन का अर्थ है ऐसी जीवनशैली जिसमें हमारा सुख-चैन, हमारी मन की शांति हमारे अपने मन-मस्तिष्क द्वारा नियंत्रित है, न कि किसी बाहरी तत्त्व के द्वारा। अच्छा जीवन जो धन, संपत्ति, प्रसिद्धि जैसी बाहरी वस्तुओं पर निर्भर है वह सच्चा सुख नहीं, बल्कि अस्थायी सुख-सुविधा मात्र है। उन वस्तुओं के जाते ही अच्छा जीवन भी चला जाता है। सच्चा सुख तो अपने अंतर में है। व्यक्ति के अंदर से शांत संतुष्ट होने में है। इसलिए पहले पक्ष की विचारधारा के दार्शनिक पक्ष पर हम कोई बहस नहीं करेंगे, अगर आप हमारी इस बात से सहमत हों कि अच्छे

अगर ईश्वर के अस्तित्व को सम्यक् रूप से कोई प्रस्तुत नहीं कर सकते तो फिर ऐसी असम्यक् अनिश्चित धारणा को स्वीकारने में कौन सी सुरक्षा है? जैन धर्म कठिन और मंदगति हो, मगर कम से कम वह है तो सम्यक् रूप से सराहनीय, स्वीकार्य। यहीं इसी जीवन में मन की सुख, शांति दिलाने वाला और मोक्ष मार्ग पर प्रगति साधने वाला है। इस दृष्टि से जैन मार्ग क्या कम ख़तरनाक नहीं है?

जीवन का अर्थ है तप साधना का जीवन, जिसमें हमारा मन सदा सुख, शांति लाभ के लिए सजग, चौकस रहता है। पास्कल के मशविरे का दूसरा शब्द है 'खतरनाक'। इस शब्द को लेकर जैन बहस करेंगे कि कम ख़तरा उठाना ही अगर हमारी चिंता का विषय है तो फिर क्या हमें जैन धर्म का सुरक्षीत, तर्कसंगत और बुद्धि पुरस्कृत जैन मार्ग नहीं अपनाना चाहिए?

अगर ईश्वर के अस्तित्व को सम्यक् रूप से कोई प्रस्तुत नहीं कर सकते तो फिर ऐसी असम्यक् अनिश्चित धारणा को स्वीकारने में कौन सी सुरक्षा है? जैन धर्म कठिन और मंदगति हो, मगर कम से कम वह है तो सम्यक् रूप से सराहनीय, स्वीकार्य। यहीं इसी जीवन में मन की सुख, शांति दिलाने वाला और मोक्ष मार्ग पर प्रगति साधने वाला है। इस दृष्टि से जैन मार्ग क्या कम ख़तरनाक नहीं है?

सम्यक् ज्ञान
(तर्कबद्ध ज्ञान)

खंड 3 : पूर्वावलोकन

आचार, विचार और ज्ञान का श्रद्धापूर्वक स्वीकार करने से पहले उनका तर्क, सम्यकत्व और विवेकबुद्धि से चयन करना चाहिए ऐसा आग्रह जैन धर्म करता है ।

जैन अपनी जीवनशैली का उल्लेख सम्यक् चरित्र और सम्यक् दर्शन के रूप में करते हैं। वह क्या है जो उनकी विश्वदृष्टि को सम्यक् दर्शन बनाता है?

इस प्रश्न से एक प्रश्न और उठता है। विश्वास अंध कब होता है? कोई चिंतन 'आभास' कैसे बन जाता है? कैसे कोई कर्म महज़ 'दांव' होकर रह जाता है? निःसंदेह इसका उत्तर है 'ज्ञान और विश्लेषण की कमी'। ज्ञान ही विश्वास का मूल आधार है। बिना ज्ञान के विश्वास अंध है, चिंतन आभास है, कर्म दांव है। ज्ञान ही सम्यकत्व का सबसे महत्त्वपूर्ण मापदण्ड है और जैन दार्शनिकों के लिए सदा से गहन रुचि और अध्ययन का विषय रहा है।

अगले दो अध्यायों में हम ज्ञान के अध्ययन परिणामों को खोजेंगे। प्राचीन जैन शास्त्र, 'ज्ञानार्जन' जैसे विषय की विस्तृत बारीकियां बताते हैं। वास्तव में उनका अध्ययन बहुत रोचक है। रोचक दोनों ही दृष्टि से - गहन सूक्ष्म अध्ययन, और अध्ययन की पद्धति से। जैन दार्शनिकों के लिए सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सम्यकत्व के संबंध में उनकी समस्त धारणाएं ज्ञान पर आधारित हैं।

अपने अंतिम विश्लेषण में जैन जीवनशैली एवं सम्यक् दर्शन की वैधता तीर्थंकरों की शिक्षा पर आधारित है।

कहा जा सकता है कि तीर्थंकरों ने सर्वज्ञता, 'केवलज्ञान' प्राप्त करने के बाद हमें अनंत ज्ञान का, मोक्ष का मार्ग बताया। उनके द्वारा संपादित ज्ञान के लिखित विवेचन को पढ़ने के बाद ही तीर्थंकरों के अनंत ज्ञान की प्रशंसा और स्वीकृति संभव है।

अगले दो अध्यायों में जैन धर्म के ज्ञान सिद्धांत की स्थूल-संक्षिप्त रूपरेखा दी गई है। इन दो अध्यायों में भले ही उनके सिद्धांत के विषय में हमें संक्षेप में जानकारी मिलती हो, पर वह सचमुच ही पठनीय है।

10

10. सम्यक् ज्ञान

कई बार ऐसे लोगों से आपका संपर्क हुआ होगा जैसा कि मेरा होता है, जो कहते हैं 'ईश्वर है'। लेकिन अगर आप उनसे पूछेंगे कि 'आप कैसे जानते हैं?' तो वे बहुत भोलेपन से कहेंगे 'मेरा दिल कहता है।' अपने कथन की पुष्टि में वे अपने जीवन की किसी रहस्यपूर्ण घटना का ज़िक्र भी कर सकते हैं। यह कहकर कि उनके लिए इतना प्रमाण काफी है। उनका ऐसा उत्तर (Response) भावना पर आधारित है, न कि ज्ञान-विवेक पर। यह उनका अपना विश्वास है। वे केवल विश्वास करने के लिए तैयार हैं। अपनी निष्ठा को अपने विश्वास में ही केन्द्रित मानते हैं। मगर किसी तरह विश्लेषण करने के लिए तैयार नहीं हैं। इक्कीसवीं सदी के आधुनिक मन-मस्तिष्क के लिए ऐसा विश्वास बिना ठोस प्रमाण या आधार के स्वीकार करना कठिन है।

व्यक्ति का आचरण अथवा जीवनशैली उसके कुछ विश्वासों द्वारा, उसकी अपनी दृष्टि द्वारा परिचालित होती है। उसके विश्वासों को, उसकी निष्ठा को गढ़ने वाले, आकार देने वाले कुछ कारक होते हैं, जैसे संस्कृति, कर्म, परवरिश और वातावरण जिसमें वह रहता है। इसके अलावा समय-समय पर महत्त्वपूर्ण प्रभावशाली व्यक्ति, पैगंबर, साधु, राजनीति, समाज, धर्म के बड़े-बड़े नेता इनका भी उक्त कारकों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। वे चाहें तो शांति-सद्भाव पूर्ण संस्कृति की रचना में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। या फिर अपने अनुयायियों को आत्मघाती, उग्रवादी बना सकते हैं। उनका संदेश उनकी कल्पनाएं, धारणाएं जिस रूप में शिष्यों-अनुयायियों द्वारा ग्रहण की जाती हैं, उसी रूप में सर्वसाधारण जनता तक पहुंचाई जाती हैं। इससे समाज की सांस्कृतिक, राजनैतिक, धार्मिक नींव रखी जाती है। जैन विचार और आचार की नींव क्या है?

जैन समाज को तीर्थंकरों का महत्त्वपूर्ण संदेश तो यह है कि मोक्ष का मार्ग सम्यक् ज्ञान, सम्यक् निष्ठा और सम्यक् आचरण का समन्वित मार्ग है। संदेश में केवल निष्ठा या आचरण पर बल नहीं दिया गया, बल्कि आचरण और निष्ठा को सम्यक् ज्ञान द्वारा परिपुष्ट किए जाने की बात पर बल दिया गया है। तभी मोक्ष का मार्ग सम्यक् होगा।

इसमें संदेह नहीं कि भक्ति और निष्ठा धार्मिक आचरण के दो महत्त्वपूर्ण घटक हैं। यदि लक्ष्य में निष्ठा या विश्वास नहीं है और न ही लक्ष्य-मार्ग (मोक्ष) के औचित्य पर भरोसा है, तब तो आध्यात्मिक उन्नति का

मार्ग सचमुच कठिन है। मगर जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, अंधश्रद्धा और अंधनिष्ठा से सिर्फ कट्टरता या धर्मांधता उत्पन्न होगी। अध्यात्म मार्ग पर अगर सचमुच आगे बढ़ना है तो अंधनिष्ठा नही, सम्यक् निष्ठा आवश्यक है। तीर्थंकरों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग कठिन और कठोर है, जिस पर चलने का प्रयत्न करना भी मुश्किल है, अगर लक्ष्य (मोक्ष) की सही समझ और प्राप्ति के साधन की पूरी जानकारी नहीं है तो ! यथार्थ के संबंध में जैन दृष्टिकोण का सही ज्ञान ही जैन धर्म की नींव है !

अध्यात्म मार्ग पर अगर सचमुच आगे बढ़ना है तो अंधनिष्ठा नही, सम्यक् निष्ठा आवश्यक है।

इस प्रकार ज्ञान जैन दार्शनिकों के लिए जिज्ञासा, खोज का महत्त्वपूर्ण क्षेत्र बना। जैन चिंतकों ने ज्ञान की परिभाषा जीव के सार रूप में की है। जीव के बिना ज्ञान और ज्ञान के बिना जीव नहीं हो सकता। जीव की अन्य स्वाभाविक विशेषताएं भी हैं। मगर जैन दार्शनिकों ने सदा ज्ञान को ही जीव की मुख्य विशेषता, गुण माना है। चेतना भी प्रत्येक जीव की स्वाभाविक विशेषता है, किंतु जीव प्राय: पौद्गलिक-कार्मिक कणों के कारण दूषित होते हैं। अत: पुर्ण ज्ञान का बोध नहीं होता। केवल वही जीव जो सर्वज्ञता-पूर्णता को, संयोग केवली स्थिति (तेरहवां गुणस्थान) को प्राप्त करता है, वही वास्तविकता को, सत्य को जान पाता है। तभी वह मोक्ष प्राप्ति के शेष चरण में वस्तु-सत्य को सापेक्ष रूप से स्वीकार करता है। जैन अपनी विश्व दृष्टि को, को सम्यक् इसलिए मानते हैं कि वह उन लोगों की शिक्षा पर आधारित है, जो स्वयं सर्वज्ञता (Omniscience) की स्थिति तक पहुंचे हुए हैं और जिन्होंने यथार्थ को जाना, अनुभव किया और स्वयं जिया है। उन्हें किसी से मोह न था, घृणा नहीं थी और न ही कोई लोभ-लालच था। केवल सत्य ज्ञान की शिक्षा यही उनके जीवन का उद्देश्य था। क्या तीर्थंकरों की सर्वज्ञता एक कपोल-कल्पित पुराण कथा है? या फिर वह अंधश्रद्धा का परिणाम है? हज़ारों वर्ष पहले तीर्थंकरों ने सम्यक् ज्ञान की जो शिक्षा दी, चलो हम उसका विश्लेषण करें। तब हमें तीर्थंकरों के केवलज्ञान का प्रमाण मिलेगा। उन्होंने ज्ञान का जो उपदेश दिया, वह यहां प्रस्तुत है।

विस्तृत ज्ञान व सीमित दर्शन

पहली बात, सीमित दर्शन (सहज दर्शन, अनुभूति दर्शन) ज्ञान ही है। जैन धर्म के अनुसार हमारा जीव अनंतबोधयुक्त, दृष्टि संपन्न और ज्ञान संपन्न है। किंतु हमारी बोधदृष्टि कार्मिक कणों के कारण बाधित होती है। वस्तुत: देखा जाए तो ज्ञान-प्राप्ति/ज्ञान-ग्रहण करना यानी दृष्टि को छलने वाले ज्ञान के अवरोधक (ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय) कार्मिक कणों का झर जाना ही है। कुछ घटनाएं कार्मिक कणों को उड़ाकर हमें किसी वस्तु की या घटना की तुरंत समझ देती हैं (बोध कराती हैं)। यह बोध (समझ) सामान्य-सतही हो सकता है या विस्तृत भी। बोध या तो इतना सीमित हो सकता है कि जिससे हम वस्तु के बाह्य स्वरूप को मामूली-सा जान सकें या फिर वस्तु की तद्गत विशेषताओं को पूर्ण रूप से जान सकें। जैन दार्शनिकों ने ज्ञान को दो प्रकार से वर्गीकृत किया है - सीमित और विस्तृत। सीमित ज्ञान स्थूल है (बिना

पृथक्करण) अस्पष्ट, अनिश्चित बोध या सहज हो सकता है। इसके विपरीत विस्तृत ज्ञान व्यापक, स्पष्ट, निश्चित बोध या ज्ञान कहलाता है।

दोनों के बीच का अंतर केवल विस्तार का है। सहज दर्शन संक्षेप में ज्ञान है। जबकि ज्ञान में संपूर्ण विस्तृत बोध होता है। जैन दार्शनिक दोनों पर, दर्शन और ज्ञान पर समान बल देते हैं क्योंकि जब तक कोई सचेत होकर सत्य का दर्शन नहीं करता, तब तक ज्ञान को संपूर्णता से जानने के लिए उसे प्रेरणा नहीं मिलेगी। अत: सम्यक् दर्शन विस्तृत ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया का आरंभ है। जब दर्शन का समीक्षात्मक विश्लेषण किया जाता है तो उसे सम्यक् बोध से समर्थन मिलता है और तब वह वास्तव में सम्यक् दर्शन बन जाता है। बिना सम्यकत्व का दर्शन अंधविश्वास बनकर रह जाएगा।

सीमित दर्शन (Perceptive Knowledge)

सीमित दर्शन एक प्रारंभिक स्थिति है। अर्थात् ज्ञान की वह प्रथम स्थिति, प्रथम सोपान जहां हमें वस्तु की सामान्य जानकारी मात्र होती है। जब हमें किसी वस्तु के अस्तित्व मात्र की जानकारी हो तो स्वयमेव उसके विषय में अधिक जानने के लिए हम आगे बढ़ते हैं।

मन ही मन उसकी पहचान स्थापित करने की सोचते हैं तब एक प्रक्रिया शुरू होती है, स्मृति में संचित पूर्व जानकारी और नई जानकारी के बीच तुलना करने की। यह है ज्ञान प्राप्ति का दूसरा सोपान। यहीं हमें बहुत सी बातें मालूम हो सकती हैं अर्थात् उसके बारे में बहुत कुछ हम जानते भी हों, फिर भी अगर हम नई जानकारी का समीक्षात्मक विश्लेषण नहीं करेंगे, पूर्व जानकारी के साथ उसका संबंध नहीं जोड़ेंगे तो हमारा नया ज्ञान केवल संवेदना या सीमित दर्शन ही रह जाएगा। अत: समीक्षात्मक विश्लेषण से संचित नई जानकारी (Data) के साथ उसकी तुलना और वर्गीकरण दोनों से हमें जो बौद्धिक समर्थन मिलता है और उसे मिलाकर एक नई संपूर्ण स्पष्ट जानकारी मिलती है, जिसे हम विस्तृत ज्ञान कह सकते हैं।

ज्ञान (Comprehensive Knowledge) के विषय में जैन और बौद्ध सोच में बहुत अंतर है। बौद्धों का विचार है कि दर्शन बोध इतना अनिश्चित होता है कि मस्तिष्क उस स्तर पर उसकी विशेषताओं के बारे में ध्यान ही नहीं देता, उदाहरणार्थ- सामान्यतया, गुणवत्ता, सत्त्वता प्रकार आदि। बौद्धों के अनुसार वस्तु की ये सारी विशेषताएं विचारों के रूप हैं, जो कि निश्चित होते हैं। अर्थात, किसी वस्तु को केवल 'अस्तित्व' का बोध असंभव है।

जैनों की दृष्टि से 'दर्शन' (Perception) का अर्थ होगा - किसी वस्तु के अस्तित्व मात्र के प्रति सचेत होना। तद्नुसार दर्शन के अंतर्गत केवल वह गुण होता है, जो वस्तु के अस्तित्व को परिभाषित करता है। उनका तर्क है कि इस गुण के अभाव में मन उस वस्तु के होने के संबंध में सचेत नहीं होगा और न ही उसके

विषय में विस्तृत ज्ञान के लिए आगे बढ़ेगा। कुछ अन्य गुण जिनसे वस्तु की विशेष योग्यता और निर्धारण होता है, उस तरफ इस स्तर पर ध्यान नहीं जाता। वस्तु की विशिष्टताओं को प्राप्त कर तत्संबंधी जानकारी की जांच करना, वर्गीकरण करना या वस्तु की प्रकृति का निर्धारण करना विस्तृत ज्ञान (Comprehensive Knowledge) की स्थिति है।

दर्शन के विषय में जैन विद्वानों की भी एक राय नहीं है। वीरसेन[15] और ब्रह्मदेव[16] जैसे विद्वानों का मत था कि दर्शन के उक्त भेदसूचक विचार, सीमित दर्शन और विस्तृत ज्ञान, प्रारंभ में जैन दार्शनिकों द्वारा समकालीन अ-जैन दार्शनिकों को शामिल करने की दृष्टि से थी। लेकिन ये भेदसूचक विचार जैन शास्त्र की इस शिक्षा के अनुसार नहीं हैं कि 'चेतना जीव की अन्तवर्ति विशिष्टता है' और 'दर्शनावरणीय कर्मों के बंध का क्षय करना जैन शास्त्रों के अनुसार, सीमित दर्शन की व्याख्या है। स्वयं या जीव के 'केवल अस्तित्व' की जानकारी'; विस्तृत ज्ञान है। ''स्वआत्मा के बारे में अधिक बोध पाने की जिज्ञासा द्वारा स्वआत्मा की पहचान'; और सम्यक् ज्ञान है ''स्वआत्मा का संपूर्ण बोध'। इससे स्पष्ट होता है कि 'जागृति (चौथा गुणस्थान) में सम्यक् दर्शन और मोक्ष मार्ग पर सम्यक् ज्ञान प्राप्ति होना' जैन शास्त्रों में क्यों आवश्यक माना गया है।

जैन शास्त्रों के अनुसार, सीमित दर्शन की व्याख्या है 'स्वयं या जीव के केवल अस्तित्व की जानकारी'; विस्तृत ज्ञान है ''स्वआत्मा के बारे में अधिक बोध पाने की जिज्ञासा द्वारा स्वआत्मा की पहचान'; और सम्यक् ज्ञान है ''स्वआत्मा का संपूर्ण बोध'। इससे स्पष्ट होता है कि 'जागृति (चौथा गुणस्थान) में सम्यक् दर्शन और मोक्ष मार्ग पर सम्यक् ज्ञान प्राप्ति होना' जैन शास्त्रों में क्यों आवश्यक माना गया है।

विभिन्न विचार शाखाओं (Schools) में प्रचलित विवादों में जो मुख्य मुद्दा उठाया जाता है वह है कि द्रव्य का सीमित दर्शन हो या विस्तृत ज्ञान, उसे जानने के लिए द्रव्यों में कुछ विशिष्ट गुण होना जरूरी है? पूरी तरह निर्गुण वस्तु कभी हमारी चेतना में प्रवेश नहीं कर सकती, क्योंकि गुणों में भेद करना चेतना की मूलभूत विशेषता है।

विस्तृत ज्ञान

विस्तृत ज्ञान निश्चित और निर्धारित तो है, किंतु समग्र-संपूर्ण, एकमात्र और सर्वथा त्रुटिरहित हो ऐसा हो भी सकता है और नहीं भी[17]। जिन्होंने सर्वज्ञता, सर्वज्ञान, केवली ज्ञान प्राप्त किया है, उनके विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। मगर हम सामान्य लोगों द्वारा प्राप्त ज्ञान शुद्ध, पूर्ण निरपेक्ष (Absolute) नहीं होता। वह

15. जैन हीरालाल, पुष्पदंत और भूतबलि की शतखंडगम (वीरसेन कृत धवलटीका के साथ) 1-1 जैन साहित्योधारक फंड पब्लिकेशन, अमरावती, 1939-1959
16. तर्काभिप्रयेण सत्त्वलोकानंदर्शनम् 44 ब्रह्मदेव रचित
17. एम.एल. मेहता जैन थ्योरी ऑफ नॉलेज, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, 1995, पृष्ठ 15

सापेक्ष होता है, दो कारणों से, एक तो प्रत्येक यथार्थ द्रव्य की वस्तुनिष्ठ स्थिति (अध्याय 6 में जैसा कि हम पहले देख चुके हैं।) प्रत्येक मूल द्रव्य नित्य भी है और अनित्य भी, नित्यता-अनित्यता निर्भर करती है द्रव्य के अंतर्वर्ति गुणों पर, हमारी केन्द्रित दृष्टि पर, उसके पर्यायों (Modes) पर। द्रव्य के पर्याय तो निरंतर परिवर्तनशील होते हैं। दूसरा कारण यथार्थ का हमारा ज्ञान भी सापेक्ष है। ज्ञाता यथार्थ के सब कोणों को भलीभांति देख नहीं पाता। इसलिए नहीं देख पाता कि हमारे जीव के साथ ज्ञानरोधक कण (ज्ञानावरणीय कण) संलग्न हैं।

जैन दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान किसी एक अथवा तीनों साधनों से प्राप्त हो सकता है - जैसे भौतिक इंद्रियों द्वारा, मन द्वारा या सीधे जीव के अंतर्गत गुणों द्वारा। दूसरे शब्दों में ज्ञान ऐंद्रिय अर्थात् इंद्रियों के द्वारा, मन द्वारा अथवा इंद्रियातीत (Extra Sensory) या सीधे जीव के स्रोत से, बिना इंद्रिय और मन की सहायता के प्राप्त हो सकता है।

किसी वस्तु का इंद्रीय जन्य ज्ञान उसके सहज दर्शन से आरंभ होता है। सहज दर्शन चाहे वस्तु के प्रति सचेत (Awareness) होने से हो या उसके संपर्क में आने के कारण सचेत होने से। वस्तु के प्रति सचेत होना, वास्तव में इंद्रिय संपर्क और वस्तु के बीच एक रिश्ते की शुरुआत है। वस्तु का सीमित दर्शन क्षणिक अल्पकालीन होता है और प्राय: ज्ञान की हल्की-सी झलक तक ही सीमित होता है, जो कि अस्पष्ट, अनिश्चित होती है। अत: मात्र झलक से स्पष्ट और विस्तृत ज्ञान तक नहीं पहुंचा जा सकता।

इसके विपरीत संपर्क के प्रति सचेत होना ज्ञान का उदय है, जिसमें वस्तु और इंद्रियों के बीच सीधा सम्पर्क होता है। केवल चार इंद्रियां ही (दृष्टि को छोड़कर) वस्तु के साथ निकट संपर्क स्थापित करने में सक्षम हैं। चार इंद्रियों द्वारा चार तरह का सम्पर्क अनुभव दीर्घकालिक होता है और वह हमें वस्तु का व्यापक-विस्तृत (निरपेक्ष ज्ञान Abolute नहीं) ज्ञान करा सकता है।

पहले बोध और फिर उसके साथ ज्ञान होता है। इंद्रिय ज्ञान या तो अ-शाब्दिक अर्थात् मतिज्ञान होगा अथवा शाब्दिक-यानी श्रुतज्ञान होगा। वस्तु एवं इंद्रिय सम्पर्क से उत्पन्न अ-शाब्दिक दर्शन ज्ञान हमें निम्न सात स्तरों से आगे ले जाएगा-

(1) अधिक तथ्यों के लिए पूछताछ करना। **(अन्वेषण)**

(2) वस्तु के विशिष्ट स्वरूप, खास मुद्दों को लेकर जांच-पड़ताल के द्वारा अनुमान के सहारे आगे बढ़ना। **(अनुमान)**

(3) वस्तु के विशिष्ट स्वरूप के संबंध में जानकारी बढ़ाना और वस्तु में जो गुण नहीं है उन्हें छोड़कर सही स्वरूप निश्चित करना। **(विशिष्ट स्वरूप जानकारी)**

(4) वस्तु संबंधी जानकारी की सुनिश्चितता अंतिम रूप से करने के बाद उस ज्ञान को चित्त में धारण करना और भविष्य में वस्तु का ज्ञान और पहचान रखना। **(स्मृति-रेखांकन)**

(5) पुन: स्मरण करना ताकि स्मरण के कारण गत अनुभव फिर से चेतना की सतह पर आ सके। **(पुन:स्मरण)**

(6) वस्तु के विषय में प्राप्त ताज़ा जानकारी के साथ वस्तु विषयक पूर्व संचित सामग्री जो स्मृति में धारण कर रखी है, दोनों को मिलाकर जो ज्ञान होता है, उससे निर्णय करना। **(पहचान)**

(7) तर्क के द्वारा चूंकि तर्क एक मानसिक प्रक्रिया है, वस्तु के संबंध में समस्त संभावनाओं की तुलना कर अंत में वस्तु की सही परख-पहचान का फैसला करना। **(तर्क निर्णय)**

उक्त सात स्तरों सहित ज्ञान के अन्य समस्त आयामों पर हम अगले अध्याय में चर्चा करेंगे।

11

11. ज्ञान के आयाम

जैन विद्वानों ने ज्ञान को इतना महत्त्व दिया है कि दूसरी सदी के बहुमूल्य जैन धर्मग्रंथ का पहला वाक्य ही इस प्रकार है-

'सम्यक् दर्शन, ज्ञान एवं चरित्र ये तीन द्रव्य मोक्ष के लिए आवश्यक हैं।'

उक्त ग्रंथ के प्रथम अध्याय में लगभग पूरे ही अध्याय में केवल जैन ज्ञान सिद्धांत की चर्चा है। जैन ज्ञान सिद्धांत का आरंभ एक सामान्यतः मानी हुई बात से होता है, जिसमें ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञात ये तीन आवश्यक विभाग हैं। उदाहरणार्थ एक सरल वाक्य लें- 'घास हरी है।' इसके तीन पक्ष हैं -

1. ज्ञाता- वह जिसने जाना।
2. ज्ञेय- घास, जिसके विषय में ज्ञान प्राप्त किया गया।
3. ज्ञान- घास हरी है।

ज्ञाता

मान जाता है के जिस व्यक्ति ने जाना वह ज्ञाता है लेकिन जैन धर्म के अनुसार यह कथन ग़लत है क्योंकि यहां ज्ञाता से तात्पर्य है - व्यक्ति लेकिन। बिलकुल सही कहा जाए तो ज्ञाता व्यक्ति नहीं, जीव है। व्यक्ति क्या है? वह संयुक्त रूप है- भौतिक देह और जीव का। उसकी भौतिक देहमें जानने की क्षमता नहीं और उसमें स्थित जीव, जो चेतन है, वही जानने में सक्षम है।

सर्वज्ञान या चेतना जीव की स्वाभाविक अन्तर्वर्ति, अविभाज्य एवं अपरिवर्तनीय प्रकृति है, जिसके अभाव में जीव का अस्तित्व हो नहीं सकता। अतः कहना यह अधिक सही होगा कि जीव और ज्ञान अविभाज्य हैं। तब जीव ही त्रिकालदर्शी, सर्वज्ञ, सब कुछ जानने वाला, सब देखने वाला होगा। दूसरे शब्दों में कहें तो ज्ञान और ज्ञाता एक ही हैं। जैन ज्ञान मीमांसा के अनुसार चेतन प्राणी में सर्वज्ञ त्रिकालदर्शी जीव होता है। अतः

---

* तत्त्वार्थसुत्र Ref.

उसे पहले ही से संपूर्ण ज्ञान प्राप्त है। ज्ञान कहीं बाहर से नहीं आता, वह तो जीव के पास ही है। किंतु यह तथ्य प्राय: व्यक्ति के कर्मों के कारण स्पष्ट नहीं होता।

जीव यदि मुक्त नहीं है तो हमेशा अनिवार्य रूप से कर्मों से संलग्न होगा। जीव को दूषित करने वाले कार्मिक कण, जो पौद्गलिक होते हैं, बादलों की तरह जीव को घेरकर उसकी स्वभावगत तेजस्विता, उसके मूल गुणों को ढंक लेते हैं, आच्छन्न कर देते हैं। जीव के गुण अनंत बोध एवं अनंत ज्ञान, घातिया कार्मिक कणों से बाधित होते हैं। विशेषत: ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्म जीव के स्वाभाविक चेतना गुणों को बाधित करते हैं। इन कणों को हटाने या दूर करने या नष्ट करने से जीव स्वयं अपने सहज स्वाभाविक रूप में प्रकाशित होता है, तब उसकी स्वभावगत विशेषताएं- सर्वज्ञता, त्रिकालदर्शिता, प्रकट होती हैं। वैसे ही जैसे हीरे की चमक को चमकाने के लिए उस पर जमी धूल की पर्त को हटाकर कर साफ करना पड़ता है। (कार्मिक कणों का उन्मूलन भी तब भी संभव है जब आध्यात्मिक उन्नति के तेरहवें गुणस्थान तक साधक पहुंचा हो।)

ज्ञेय

जैन सम्यक् दर्शन के अनुसार विश्व केवल छ: मूल द्रव्यों से बना है - जीव, पुद्गल, आकाश, काल, धर्म और अधर्म। उक्त छ: मूल द्रव्य ही ज्ञान के विषय (ज्ञेय) हैं। तो जब ज्ञाता (जीव) की रचना ही इन 6 ज्ञेय द्रव्यों से हुई है तब जीव ज्ञाता भी है और ज्ञेय भी। अन्य किसी वस्तु में चेतना नहीं है, इसलिए वह ज्ञाता नहीं हो सकता। जब जीव स्वयं को जानता है तब वो स्वलक्षी या आत्मलक्षी है और अन्य सभी विषयों को जानता है तब वस्तुनिष्ठ (Objective) है।

ज्ञान

जब हम जैन विद्वानों की ज्ञान-अर्जन प्रक्रिया का अध्ययन करते हैं, तो प्राचीन जैन दार्शनिकों की अद्भुत विश्लेषण प्रतिभा अपने आप प्रमाणित होती है। कोई कैसे ज्ञान प्राप्त करता है? ज्ञान प्राप्ति के बाद क्या होता है? ज्ञाता और ज्ञान के बीच क्या परस्पर क्रिया (Interaction) होती है?

जब ज्ञाता और ज्ञान एक ही हैं तब ज्ञानार्जन की प्रक्रिया के दौरान ज्ञान का कोई प्रवाह ज्ञान से ज्ञाता की ओर जाता हो, ऐसी कोई बात नहीं होती। समस्त प्रक्रिया ही चेतना की है। 'ज्ञाता' 'ज्ञेय' के प्रति सचेत होता है। यह कैसे होता है? कैसे ज्ञाता, ज्ञान के प्रति सचेत होता है? ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कार्मिक कणों का स्मरण है आपको, जो बंध बनकर जीव को, चेतना को बाधित करते हैं? कार्मिक कणों के बंध कई प्रकार के होते हैं। किसी वस्तु के प्रति सचेत होना अर्थात् किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना (Awareness) उन कार्मिक कणों को हटाना या दूर करना है। क्योंकि वे कार्मिक कण किसी विशिष्ट ज्ञान को बाधित कर रहे थे। कार्मिक कणों का क्षय या तो स्वाभाविक रूप से (बंध की पूर्व निर्धारित अवधि के कारण) हो सकता है या फिर प्रयत्नपूर्वक पहल करने से आत्म-संयम, पश्चाताप, तप, प्रायश्चित द्वारा संभव है। ज्ञानावरणीय कर्मों को जो जितना अधिक दूर कर सकता है उतना ही वह व्यक्ति ज्ञानी बन जाता है।

चेतना या ज्ञानार्जन के आयाम

विषय की सरलता की दृष्टि से हम चेतना और ज्ञानार्जन शब्दों का उपयोग पर्यायवाचक अर्थ में परस्पर बदलकर करेंगे। पिछले अध्याय में हमने ज्ञान को सहज दर्शन और विस्तृत ज्ञान इन दो रूपों में वर्गीकृत किया था। यह वर्गीकरण ज्ञाता द्वारा चेतना की मात्रा पर आधारित था। जैन विद्वानों ने ज्ञान के वर्गीकरण के लिए एक और मापदण्ड रखा - ज्ञानार्जन के विभिन्न आयाम। जैन सिद्धांत के अनुसार ज्ञानार्जन के पांच मुख्य आयाम हैं -

(1) मतिज्ञान (Empirical Knowledge)
(2) श्रुतिज्ञान - (Articulate Knowledge)
(3) अवधिज्ञान (Extra Sensory Perception)
(4) मनःपर्याय ज्ञान (Mind Reading Knowledge)
(5) केवलज्ञान (Omniscience)

इनमें से प्रथम दो इंद्रिय गम्य हैं। ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय करने से और बाहरी स्रोत अध्ययन की वस्तु द्वारा इंद्रियों को उत्तेजित करने से (दोनों के मेल से) वस्तु के प्रति (ज्ञान के प्रति) हम सचेत होते हैं। इस तरह से इंद्रियों के द्वारा प्राप्त ज्ञान परोक्ष ज्ञान या अर्जित ज्ञान कहलाता है। अर्जित ज्ञान आसानी से भ्रष्ट हो सकता है या अन्य कई कारकों के द्वारा दूषित हो सकता है, जैसे कि हमारी इन्द्रियां, वस्तु की स्थिति और स्वयं ज्ञाता की स्थिति। इनके विपरीत अंतिम तीन प्रकार से प्राप्त ज्ञान अनेन्द्रिय होने कारण सहज स्वाभाविक ज्ञान है। अत: उसके दूषित होने की संभावना कम है, अथवा केवली ज्ञान की भांति विशुद्ध है।

चूंकि अर्जित ज्ञान आसानी से दूषित हो सकता है, अत: जैन दार्शनिकों ने मति ज्ञान और श्रुति ज्ञान का विश्लेषण करने में काफी श्रम किया है। उन्होंने विश्लेषन के आधार पर मति ज्ञान का तीन सौ छब्बीस प्रकारों में वर्गीकरण किया है।

मतिज्ञान - अनुभव से प्राप्त ज्ञान

मतिज्ञान इंद्रिय बोध और मध्यस्थ मन की विश्लेषण क्षमता पर आधारित है। पांच संवेदनाएं - देखना, सुनना, स्पर्श, गंध एवं स्वाद इंद्रियगम्य यानी इंद्रियों पर आधारित है। कुछ विद्वान मध्यस्थ मन को अनेन्द्रिय या अर्द्ध ऐंद्रिय मानते हैं। यहां स्थानाभाव के कारण मतिज्ञान के पूरे तीन सौ छब्बीस उपवर्गों की चर्चा नहीं की जा सकती। लेकिन निम्नलिखित विवरण से जैन दार्शनिकों की तर्कपूर्ण वैज्ञानिक कार्यशैली का परिचय मिलेगा।

किसी एक इन्द्रिय से प्राप्त ज्ञान पर विचार करें। उदाहरणार्थ- श्रवणेन्द्रिय। कल्पना कीजिए कि एक अंधेरा

कमरा है, बिलकुल घुप्प अंधेरा। उसमें एक बहुत धीमी आवाज़ आपने सुनी। आप इस घटना को चार चरणों से समझेंगे।

(1) प्राथमिक बोध- वस्तु की वर्तमान विशेषता का अनुभव करना
(2) विशेष पूछताछ- उक्त प्रथम स्तर पर प्राप्त जानकारी से निष्कर्ष निकालना
(3) ज्ञानपूर्वक समझना- सही पहचान या सही ज्ञान
(4) धारणा- प्राप्त ज्ञान को स्मृति में धारण करना

प्राथमिक बोध प्रथम चरण है, जिसमें बिना विस्तार में गए वस्तु के अस्तित्व गुण का ऐंद्रिय अनुभव किया जाता है। उदाहरणार्थ - बहुत अस्पष्ट आवाज़ जिसमें वस्तु की मौजूदगी से आप परिचित होते हैं। प्राथमिक बोध के बाद तुरंत आपको अन्य स्तरों पर अर्थात् विशेष पूछताछ और ज्ञानपूर्वक समझना इन चरणों से समझने की क्रिया आरंभ होती है।

विशेष पूछताछ के दौरान मन अंधेरे कमरे की आवाज़ के साथ अन्य समान या विषम ध्वनियों से आवाज़ की तुलना करता है। उदाहरणार्थ - पैरों की आहट है? फुसफुसाहट है या खरोंच? कैसी आवाज़ है? इसके साथ वस्तु की विद्यमान विशेषताओं का निश्चय होता है और जो अविद्यमान विशेषताएं हैं, उनको नकार दिया जाता है। उदाहरणार्थ - यह तो इन्सान की आवाज़ है। पैरों की आवाज़ तो निश्चित ही नहीं। इस प्रकार प्राथमिक बोध निश्चित पहचान और निष्कर्ष में बदल जाता है। (यह फुसफुसाहट की आवाज़ है, इसका मतलब कमरे में कोई और भी है।) वस्तु के संबंध में अब हमारा ज्ञान लगभग पूरा है।

अंतिम चरण में ज्ञाता की स्मृति में धारण किया गया ज्ञान कुछ समय के बाद अंकित हो जाता है। धारण किया गया ज्ञान मतिज्ञान है और विभिन्न नामों-बुद्धिमत्ता, स्मरणशक्ति, तर्क-शक्ति, पहचान आदि से जाना जाता है।

अन्य किसी भी इंद्रिय से प्राप्त मतिज्ञान इन्हीं चार चरणों में से होकर जाता है जिसमें किसी भी स्तर पर-इंद्रिय स्तर पर, ज्ञाता की अवस्था के स्तर पर, ज्ञान के स्तर पर और ज्ञान के माध्यम के स्तर पर विकृति आ सकती है। दूसरे शब्दों में मतिज्ञान दो प्रकार से - अध्येय वस्तु (अध्ययन की वस्तु) और जिज्ञासु की मानसिक क्षमता से प्रभावित हो सकता है। यह वही जिज्ञासु के कर्मों का फल है। दो विभिन्न जिज्ञासुओं ज्ञानार्थियों द्वारा संकलित जानकारी (Data) को पृथक रूप से विश्लेषित कर उसका जो अर्थ लगाया जाएगा वह ज्ञानार्थी के जीव पर लगे कार्मिक-कणों के प्रभाव के अनुरूप होगा। वे कर्म जो जीव के मतिज्ञान प्रकाशन को बाधित करते हैं, रोकते हैं, उन्हें मतिज्ञानरोधक कर्म कहा जाता है।

इस प्रकार ज्ञान, द्विविध, परस्पर विरोधी होगा जैसे कि या तो यथार्थ होगा या फिर विकृत होने से मिथ्या। यह

ज्ञाता कि स्थिति पर निर्भर करता है। शास्त्रों में परस्पर विरोधी द्विविध छः जोड़ियां (छः इंद्रियों की छः जोड़ियां) वर्णित हैं। इस दृष्टि से मतिज्ञान ज्ञानार्जन के चार चरणों में से होता हुआ, प्रत्येक इंद्रिय के माध्यम से छः परस्पर विरोधी जोड़ियां अर्थात् ज्ञानबोध के बारह प्रकारों से गुज़रकर अंत में बुद्धिमत्ता, स्मरणशक्ति, स्मृति आदि में स्थित होता है। इसका अर्थ है छः इंद्रियां ह्न चार चरण ह्न 12 परस्पर विरोधी ज्ञान मिलकर 288 उपवर्ग हुए। इसमें 336 की संख्या तक वृद्धि अन्य कारणों से होती है जिसकी यहां चर्चा नहीं की जा सकती।

श्रुतिज्ञान

ज्ञान की प्राप्ति पढ़ने-सुनने और संकेतों के अर्थ लगाने से होती है। श्रुतिज्ञान में भी त्रुटियां, विकृति, तोड़-मरोड़ विभिन्न स्तरों पर हो सकती है। पहले तो जब मूल ज्ञाता, चाहे वो परमेश्वर-पुत्र, संदेशक या अवतार माना गया हो, वह खुद सर्वज्ञ न हो, तब वह इंद्रियों से ही ग़लत - विकृत जानकारी प्राप्त करेगा (ज्ञानावरणीय कर्मों के अवरोध के कारण) फिर यह भी संभव है कि उसे सुनने या पढ़ने वाले के द्वारा त्रुटिपूर्ण माध्यम (शब्द या चित्र माध्यम) से प्रस्तुतिकरण गलत हो। अतः दूसरे स्तर की विकृति और गलती की संभावना हो सकती है। तब तो पाठक या श्रोता मूल ज्ञान के दोबारा विकृत संस्करण को प्राप्त करेंगे। यह जानकर कि श्रुतज्ञान में विकृति अंतर्भूत (Inherent) है, जैन दार्शनिकों ने सावधान किया कि किसी वचन, कथन या शब्द को, लिखित या उच्चरित ज्ञान को पूर्ण सत्य के रूप में स्वीकार न किया जाए चाहे वह पंडित हो, पुरोहित हो, मौलवी या नबी हो। अनंत ज्ञान या पूर्ण निरपेक्ष सत्य वास्तव में हमारी पहुंच से बाहर है। तब तक जब तक कि हम हमारे घातिया कर्मों को पूरी तरह से नष्ट करने में सफल नहीं होते, जब तक हम केवलज्ञानी होकर पूर्ण सत्य को नहीं जान पाते। यदि समस्त श्रुतिज्ञान विकृत हैं, तो शास्त्रों के लिए क्या कहा जाए? क्या वे पूर्ण सत्य नहीं बताते?

हमें यह तो मानना होगा कि धर्म कोई भी हो शास्त्रों के रचयिता मर्त्य जीव ही थे। धर्मगुरुओं का हमेशा दावा होता है कि, "हमारे ग्रंथों में लिखित ज्ञान स्वयं परमेश्वर की अथवा उसके पुत्र, अवतार या पैगंबर की अमृतवाणी है इसलिए पूर्ण सत्य है और हम भी वही दैवी पुर्ण सत्य ही आपके सामने पेश करते हैं।" किंतु, ऐसा सभी लेखन विकृत भी हो सकता है जब तक पहला ज्ञाता और वह जिसने ज्ञान को लिपिबद्ध किया उनके घातिया कर्म नष्ट होकर वह सर्वज्ञान संपन्न केवलज्ञान का अधिकारी न बना हों। अन्यथा ज्ञानावरणीय कर्म अपना खेल तो दिखाएंगे ही।

मूल ज्ञान प्रकाशन से लेखक जितना दूर होगा उतना ही संभव है, शास्त्र संस्करण विकृत हो। स्पष्ट है कि वे जो अपनी रचना को पूर्ण सत्य बताते हैं, उन्हें समझना चाहिए कि उनका तथाकथित सत्य तो, लिखित शास्त्र को उन्होंने जिस रूप में समझा, वह उस मूल समझ का प्रतिबिंब मात्र है और वह स्वयं भी मूल ग्रंथ के लेखक द्वारा मूल संदेश को जिस रूप में, जिस अर्थ में ग्रहण किया गया, उसका विकृत रूप हो सकता है।

आगम-शास्त्र कहीं ऊपर से आया 'अपौरुषेय सत्य' होने का दावा जैनों ने कभी नहीं किया है। उनका मूल सर्वज्ञान संपन्न, त्रिकालदर्शी तीर्थंकरों का मुक्त जीव है। केवलज्ञान उनका स्रोत है। आगम शास्त्रों का लिपिबद्ध ज्ञान यदि पूर्ण केवलज्ञान नहीं भी हो तब भी वह पूर्ण सत्य के निकट तो है ही। थोड़ा संदेह, सैद्धांतिक रूप से उठता है, इसलिए कि केवलज्ञानी तीर्थंकरों के शिष्यों ने, जो स्वयं अनंत ज्ञानी, सर्वज्ञ नहीं उन्होंने, सर्वज्ञ, त्रिकालदर्शी, महान जीवों का ज्ञान लिपिबद्ध किया है। जैनों ने ऐसी संभावना को जानकर अपने पवित्र धर्म साहित्य को इस प्रकार विभाजित किया है -

1. **अंग आगम,** प्राथमिक मूल पाठ जो अनंतज्ञानी केवली शिष्यों ने स्वयं महावीर से ग्रहण किया।
2. **अंग बाह्य आगम,** विद्वान तपस्वी साधुओं द्वारा लिखित साहित्य जो शिष्यानुक्रम में भगवान महावीर के सीधे शिष्य नहीं थे। (देखें अध्याय 20)

परोक्षदर्शी ज्ञान या अवधिज्ञान

ज्ञान की अंतिम तीन श्रेणियां सहज, स्वाभाविक या प्रत्यक्ष प्रकार की हैं। अर्थात् वे अनेन्द्रिय हैं, मगर सीधे जीव से प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त ज्ञान हैं। ऐसा ज्ञान इंद्रिय गम्य न होने के कारण विकृत या सीमित नहीं होता। वह ज्ञान जो पहले ही से हमारे अंदर है, ऐसे ज्ञान के प्रति सचेत होना ज्ञानावरणीय कर्मों को नष्ट करने से होता है। परोक्ष दर्शिता के कारण मनुष्य का वस्तु से सीधा संपर्क न होते हुए भी वस्तु को जाना जाता है। यह ज्ञान काल, आकाश, इन्द्रिय या मन की सीमाओं में बंधा हुआ नहीं है। परोक्ष दर्शिता सहज, स्वाभाविक, जन्मजात हो सकती है और अर्जित भी। स्वर्ग या नरक, देव और नारकी जीव गति में परोक्षदर्शी ज्ञान के साथ जन्म लेते हैं। हम मनुष्य प्राणी तपस्या, ध्यान, साधना के बल पर पारदर्शिता अवरोध कर्मों का नाश करके परोक्षदर्शिता प्राप्त कर सकते हैं। पारदर्शिता अवरोध कार्मिक कणों को किस सीमा तक नष्ट किया जा सकता है उस आधार पर व्यक्ति बहुत दूर घटने वाली या भूत-भविष्य की घटनाओं, व्यक्तियों के बारे में जान सकता है।

मन-पर्याय ज्ञान

यह बात सुनने में तंत्र-मंत्र जैसी लग सकती है, मगर हम आत्म संयम और तपस्या के बल पर उन कर्मों को मिटा सकते हैं जो हमारे मन-पर्याय ज्ञान की क्षमता को बाधित करते हैं। मन-पर्याय ज्ञान अर्थात् मन की बात जानने की क्षमता। हम बिना किसी बाहरी साधन माध्यम के दूसरे व्यक्ति के मन को उसके विचारों, भावों को पढ़ सकते हैं। मन-पर्याय ज्ञान सरल एवं जटिल दोनों हो सकता है। मन-पर्याय ज्ञान अनिश्चित, भ्रामक और उथला हो सकता है। सीमित हो सकता है। इसके विपरीत जटिल मन को पढ़ने वाले उनकी तुलना में कई तरह के जटिल मन-पर्याय पढ़ पाते हैं। दूसरों के मन की गहराई में उतर सकते हैं। जटिल मन-पर्याय पढ़ने की क्षमता तब तक रहती है, जब साधक को सर्वज्ञता प्राप्त होती है। सरल मन-पर्याय पढ़ने की क्षमता वस्तु या घटना के संबंध में विचारों को पढ़ने तक सीमित होती है। जबकि जटिल मनपर्याय पढ़ने में सक्षम व्यक्ति दूसरों के विचारों के पीछे निहित उद्देश्य, प्रेरणा, विश्वास को भी पढ़ सकते हैं।

मन-पर्याय ज्ञान संपन्न व्यक्ति क्वचित् ही होते हैं, क्योंकि वे सर्वज्ञता की अवस्था से थोड़ी ही दूर होते हैं और सभी अवरोधक कर्मों के नाश के बाद ही इस स्थिति तक पहुंचते हैं। केवल वे ही जो विगत कई जन्मों से अवरोध कर्मों का कम भार लेकर चलते हैं और कठोर आत्मानुशासित जीवन व्यतीत करते हैं वे ही इस अवस्था तक पहुंचने की आशा कर सकते हैं।

केवलज्ञान, सर्वज्ञान (Omniscience)

सर्वज्ञता की स्थिति तक पहुंचना तभी संभव है जब जीव स्वयं चारों घातिया (विनाशक) कर्मों से शुद्धि प्राप्त कर पाता है। यह वह स्थिति है जहां व्यक्ति समस्त कषायों से मुक्त होता है। नए-नए कर्मों के बंधने के सभी कारण नष्ट हो जाते हैं और जब नया बंध असंभव है, शेष चार अघातिया (अविनाशक) कर्म स्वाभाविक प्रक्रिया में नष्ट हो जाएंगे। एक व्यक्ति जैसे ही उसके घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं सर्वज्ञता या केवलज्ञान की स्थिति को प्राप्त करता है। केवली अपने आयुष कर्मों के बंधन के कारण बाद में भी जीवित रह सकते है, मगर नए कार्मिक-बंध नहीं बंधेंगे। मरणोपरांत वह मोक्ष प्राप्त करते है।

केवल सर्वज्ञ व्यक्ति ही विकृति रहित असीम ज्ञान का अधिकारी होता है, क्योंकि वह समस्त ज्ञानरोधक कर्मों सहित, घातिया कर्मों से मुक्त है। केवल वही बहुमुखी सत्य के विविध रूपों को पकड़ सकते हैं। उनका ज्ञान विशुद्ध पूर्ण केवल समग्र ज्ञान है। जैन सिद्ध, अरिहंत एवं तीर्थंकर इसी ज्ञान के सर्वोच्च शिखर पर पहुंचे थे। घातिया कर्मों का विनाश करने के बाद ही वे 'सर्वज्ञता' प्राप्त कर सके थे। उनके अघातिया कर्मों के परिणामस्वरूप वे हमें यथार्थ ज्ञान देने, हमें मोक्ष का मार्ग बताने के लिए जीवित थे।

ज्ञान का वर्गीकरण

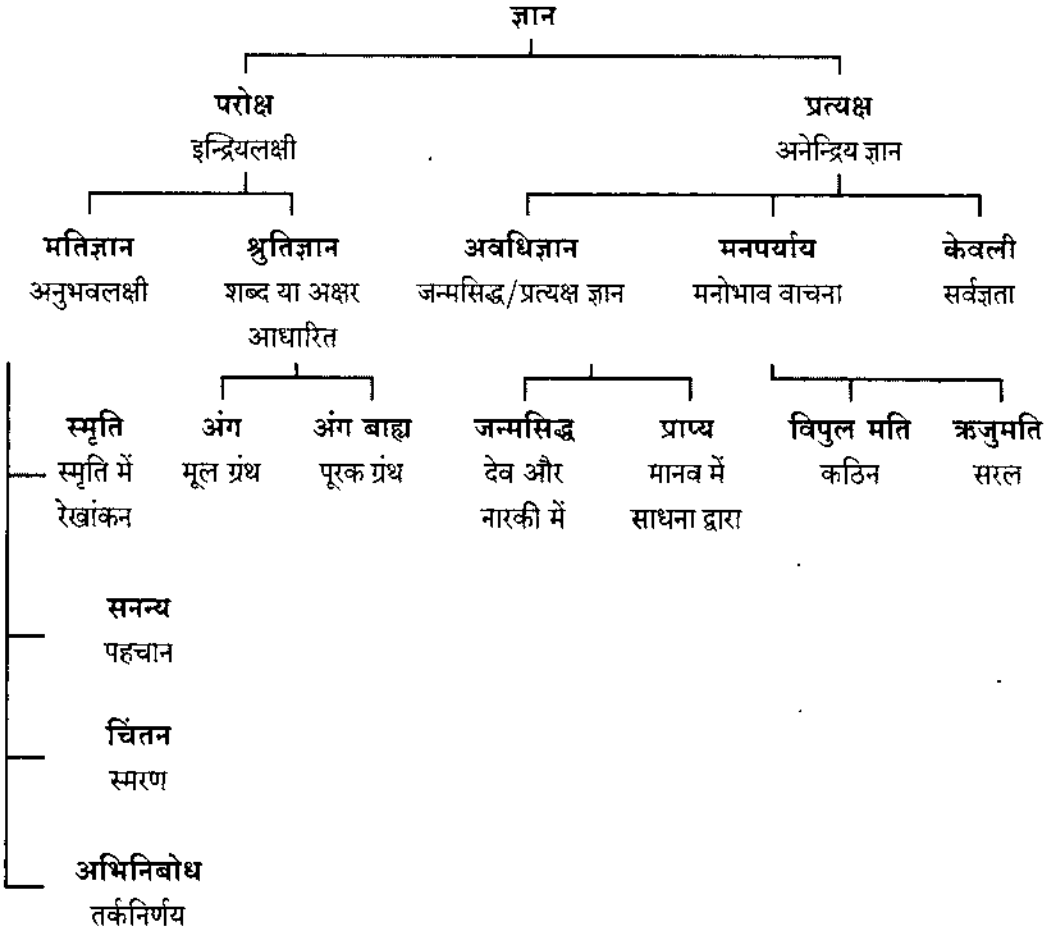
ज्ञान
परोक्ष
इन्द्रियलक्षी
प्रत्यक्ष
अनेन्द्रिय ज्ञान
मतिज्ञान
अनुभवलक्षी
श्रुतिज्ञान
शब्द या अक्षर आधारित
अवधिज्ञान
जन्मसिद्ध/प्रत्यक्ष ज्ञान
मनपर्याय
मनोभाव वाचना
केवली
सर्वज्ञता
स्मृति
स्मृति में रेखांकन
अंग
मूल ग्रंथ
अंग बाह्य
पूरक ग्रंथ
जन्मसिद्ध
देव और नारकी में
प्राप्य
मानव में साधना द्वारा
विपुल मति
कठिन
ऋजुमति
सरल
सनन्य
पहचान
चिंतन
स्मरण
अभिनिबोध
तर्कनिर्णय

समकालीन समस्याएं

पूर्वावलोकन

आध्यात्मिक मूल्यों का क्षय, युद्ध, ग़रीबी, पशुओं के प्रति क्रूरता, पर्यावरण का क्रमिक विनाश, कट्टरतावाद, आतंकवाद, ये कुछ ऐसे सवाल हैं जो मानव सभ्यता के लिए निरंतर चिंता के विषय हैं। इन मुद्दों को हल करना आज के समकालीन चिंतकों के सामने बड़ी गंभीर समस्या है। नए रूप में उभरते आध्यात्मिक दर्शन में इस चिंता की झलक साफ़ नज़र आती है। सच कहा जाए तो नई आध्यात्मिकता की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है-

जो बिना किसी रोक-टोक के मनुष्य के स्वतंत्र चिंतन को, उसकी धार्मिक निष्ठा, विश्वास को आगे बढ़ाती है, जो प्राणीमात्र के अधिकारों के प्रति सजग-सावधान है, जो विश्व को स्वयंचालित सत्ता मानती है, विश्वकी भव्यता और सुंदरता की रक्षा के लिए प्रयत्नशील है, जो व्यक्ति एवं विश्व की शांति के लिए अनुकूल मनोभूमिका तैयार करती है, वह नई आध्यात्मिकता है।

जैन जीवनशैली (सम्यक् चरित्र) अहिंसा, अनेकांतवाद और अपरिग्रह के सिद्धांतों से परिचालित है। वही विश्व की कुछ समस्याओं का समाधान कर सकती है। जैनों का दीर्घ इतिहास मानव-सेवा, प्रेम, लोक-उपकार, प्राणी मात्र के लिए करुणा, पर्यावरण की चिंता, बिना संघर्ष के, बिना धमकाए, बिना डराए, बहु-धर्म संवाद का इतिहास रहा है। अत: समकालीन जैन अपने अनुभवों का, अपने सिद्धांतों का और बहु-धर्म संवाद में अपने वाक् कौशल का सदुपयोग करने के लिए आमंत्रित किए जातें हैं, ताकि मनुष्य और प्राणी मात्र के अधिकारों की रक्षा, सामाजिक आर्थिक न्याय, धार्मिक संघर्ष आदि से जुड़ी समस्याओं को हल करने में अपना सक्रिय सहयोग दे सकें। इस तरह जैनों दर्शा सकते हैं कि उनका प्राचीन धर्म नई आध्यात्मिकता के साथ समरस है। उनका सक्रिय योगदान जैन धर्म को पुन: ऊर्जावान और महिमा-मंडित बनाएगा।

12. आधुनिक विचारक

आधुनिक विचारक हम किसे मानें? जिसका चिंतन सम्यक् विवेकपूर्ण है, जिसे सभ्यता के भविष्य की चिंता है, वही 21वीं सदी का आधुनिक विचारक है। आधुनिक विज्ञान के विगत चार सौ वर्षों के इतिहास में विज्ञान से प्राप्त अपूर्व सफलता देखी जा सकती है। आज हम जिन अभूतपूर्व सुख-सुविधाओं का उपभोग कर रहे हैं, वे विज्ञान के मुक्त चिंतन एवं सम्यक् चिंतन के वरदान स्वरूप हैं। मगर विचित्र विरोधाभास यह भी है कि भीषण नरसंहार करने वाले अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण करने की हमारी अद्‌भुत क्षमता, प्रकृति पर आधिपत्य, पर्यावरण का विनाश, ये विज्ञान की सफलता के ही जीवंत प्रमाण हैं। हम इस बात से इनकार नहीं कर सकते कि हमारे जीवन में आज विज्ञान की जो सत्ता है, वह पहले कभी धर्म की हुआ करती थी। यदि विज्ञान पर अंकुश नहीं लगाया गया, रोका नहीं गया तो विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के हावी हो जाने से हमारी पृथ्वी की स्थायी क्षति होगी, हमारा भविष्य अंधकारपूर्ण होगा।

विज्ञान की इस अविश्वसनीय सत्ता को, कैसे रोका जा सकता है? कैसे उसे उचित दिशा में मोड़ा जा सकता है? क्या शासन विज्ञान पर नियंत्रण कर सकता है? क्या धर्म, विज्ञान की छलांग लगाती गति को दिशा-निर्देश दे सकता है? मेरे विचार में विज्ञान को नियंत्रित करने का प्रयत्न चाहे वह शासन का हो, धर्म का हो, या किसी और माध्यम का हो, निश्चित रूप से असफल होगा। मानव जाति का इतिहास इस तथ्य का गवाह है कि किसी व्यक्ति पर, समुदाय पर, या संस्थाओं पर थोपे गए प्रतिबंध या नियंत्रण कभी सार्थक नहीं होते। ऐसे प्रयत्न बुरी तरह असफल होते हैं, विशेषत: तब, जब वे एक जीत रही बाज़ी पर लगाए गए हों और आज विज्ञान जीत की राह पर है।

विज्ञान और धर्म : द्विभाव

एक समय था जब मनुष्य की गतिविधियों पर उसके क्रिया-कलापों पर धर्म की सर्वोच्च सत्ता थी। धार्मिक प्रभुता संपन्न शक्तियों ने अपने अनुयायी दलों पर पूरा अधिकार जमा रखा था। 'जीने के लिए' नियमों की घोषणा थी और 'नियम भंग' करने वालों के लिए कठोर दंड की व्यवस्था थी। शासन पर नियंत्रण, पक्षपात, स्वर्ग का लोभ, नरक का भय आदि तरीकों से धार्मिक संप्रभुता ने मानव समाज को डरा-धमकाकर, लालच से फुसलाकर, अपने अधीन कर रखा था, जो धार्मिक निष्ठा में संदेह करता था, प्रश्न करता था, तर्कपूर्ण मत

व्यक्त करता था उसे नास्तिक कहकर कठोर दंड देकर या उसकी हत्या तक कर धर्मसत्ताधिश अपना वर्चस्व स्थापित किया करते थे। परिणामस्वरूप, व्यक्ति स्वातंत्र्य, अधिकार और स्वतंत्र इच्छा ये सब चर्च की संप्रभुता के सामने गौण थे, व्यर्थ थे। पिछले चार सौ सालों में यूरोप में विज्ञान और प्रौद्योगिकी से मनुष्य को जीवन की सुख-सुविधाएं मिलने लगीं। अपनी ज़रूरतें पूरी करने में आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करने में और मुद्रित बाइबिल तक जन-साधारण की सीधी पहुंच होने में अब मनुष्य अपने आपको सक्षम समझने लगा है। कुछ उदीयमान वैज्ञानिकों ने तो धार्मिक निष्ठा और धार्मिक प्रभुत्त्व को, जो चर्च के मुख्य आधार स्तंभ हैं, उन्हें भी चुनौती दे डाली। तर्क, अनुभव और प्रयोगशीलता के उपयोग का उन्होंने समर्थन किया-इसके साथ ही चर्च और विज्ञान में दो-फाड़ विभाजन शुरू हुआ।

यह एक आरंभ था-चर्च की संप्रभुता के अंत का। समाज पर चर्च की पकड़ का अंत। राजा, रानी और राज्य राजसी परिधान में इस अंत के लिए और अपनी सत्ता को फिर से स्थापित करने के लिए पंक्तिबद्ध में थे। चर्च के कठोर नियंत्रण से बाहर निकलने वाले पहले वे ही थे। दूसरी ओर वैज्ञानिक प्रगति ने जन-साधारण को अधिक शक्ति संपन्न बनाया, और मुक्त, तर्कसंगत चिंतन का महत्त्व समझाया। चर्च का यह संदेश 'ईश्वर में पूर्ण निष्ठा, (बिना किसी संदेह तर्क, प्रश्न के) मृत्यु के बाद स्वर्ग का टिकट है।' विज्ञान की इस घोषणा के सामने 'प्रकृति पर संपूर्ण, असंदिग्ध विजय, अभी इसी क्षण बेहतर ज़िंदगी का टिकट है।' गौण हो गया। इस प्रतिस्पर्धा का दु:खद परिणाम यह निकला कि धर्म द्वारा प्रसारित आध्यात्मिक मूल्यों में गिरावट आने लगी और मनुष्य की नीच प्रवृत्तियों ने जैसे कि लोभ (धन का, सत्ता का), लालच और भौतिकता ने मानव समाज को जकड़ लिया। विज्ञान और धर्म के बीच बढ़ती खाई ने पाश्चात्य समाज को दो खेमों में बांटा। एक खेमा मृत्यु के बाद जीवन के प्रश्न पर स्थिर रहा और आधुनिक समाज के दु:खों के लिए विज्ञान को दोषी ठहराता रहा और दूसरा खेमा वर्तमान के प्रत्येक क्षण को भोगता हुआ अपनी इच्छाओं की त्वरित पूर्ति करता हुआ, मनुष्य के स्वतंत्र चिंतन एवं इच्छा को दबाने वाले धर्म को दोषी ठहराता रहा। दोनों में कोई भी पक्ष अपनी पृथ्वी के कल के प्रति, भविष्य के प्रति, ज़रा भी चिंतित प्रतीत नहीं हुआ।

ऐसे पारस्परिक दोषारोपण से मानव समाज का दु:ख और अधिक बढ़ा ही है। पर्यावरण की हानि, बढ़ते अपराध, वर्णगत विद्वेष, धर्म-द्वेष, परमाणु युद्ध की संभावना और आर्थिक शोषण जैसी गंभीर समस्याओं ने पृथ्वी का बोझ बढ़ाया ही है। आज सहयोग की ज़रूरत है, न कि संघर्ष की। दुर्भाग्य से पश्चिम में विज्ञान और अध्यात्म को जोड़ने के प्रयत्न और दोनों के परस्पर सहयोग को प्रोत्साहन, असफल रहे। दोनों ही पक्षों के कट्टरवादी, अभी तक एक-दूसरे को क्षमा करने और उदार बनने को तैयार नहीं हैं।

"एक ओर तो, वैज्ञानिक-भौतिकवादी यथार्थ की वैज्ञानिक खोज में जीव के अस्तित्व की उपेक्षा करते है, दूसरी ओर धार्मिक उत्साही भौतिक विविधता की उपेक्षा, अवमानना करते हुए तेजी से विभिन्न आध्यात्मिक विविधताओं की ओर बढ़ रहे है, इस कारण एक अस्थिर संभ्रमपूर्ण स्थिति उत्पन्न होती है और सम्यक्-दर्शन से हम आध्यात्मिकता और भौतिकता को एक साथ समग्रता में समझने में असमर्थ हैं।"

नाथमल तातिया : दैट विच इज-द्रव्यार्थ सूत्र, हर्पर कौलिन्स पब्लिशर, सेन फ्रांसिस्को, 1994

धर्म प्राय: मरणोपरांत जीवन की चिंता करता है और विज्ञान भौतिक ज़िंदगी और उसकी ज़रूरतों के बारे में सोचता है। मगर पृथ्वी का अस्तित्व, आध्यात्मिक मूल्यों के साथ, विज्ञान के तर्कसंगत बुद्धियुक्त दर्शन के समन्वय पर ही निर्भर करता है। पृथ्वीवासियों के तमाम दु:खों, संकटों के लिए विज्ञान को दोषी कहकर फिर से सत्ता हथियाने का चर्च का प्रयत्न और विज्ञान द्वारा बिना नैतिक सावधानी का ख़याल किए भौतिक जगत पर अपनी संपूर्ण सत्ता का प्रदर्शन करना, दोनों (धर्म और विज्ञान) ही के लिए विनाश का और मानव जाति के लिए सर्वनाश का कारण होगा।

समकालीन सवाल

आज दुनिया के सामने कुछ सवाल वर्तमान हैं। कुछ सवाल वैश्विक हैं, कुछ स्थानीय हैं और कुछ नितांत व्यक्तिगत समस्याएं हैं। वैसे काफ़ी समय से कुछ समस्याएं हमारे साथ चली आ रही हैं, लेकिन वे भी कुछ सालों में बद से बदतर होती जा रही हैं। उनका कोई समाधान आसान नहीं है और जैनों के पास भी कोई रामबाण उपाय नहीं है। फिर भी जैन धर्म अपने समृद्ध दर्शन, दीर्घ इतिहास और अनुभव के बल पर उनमें से कुछ समस्याओं से निपटने के लिए समर्थ है। समकालीन जैन, और इन समस्याओं से चिंतित कुछ अन्य लोग, इतिहास से शिक्षा लेकर इस स्थिति को बहुत कुछ बदल सकते हैं। 21वीं सदी में हमारे सामने जो समस्याएं हैं, उनकी हम त्वरित समीक्षा करेंगे।

आध्यात्मिक मूल्य

इस विषय में तो पूरे विश्व को शिकायत है। धर्माचार्य हों, पंडित हों, रबी हों, मौलवी हों या फिर साधु हों, सबकी एक ही शिकायत है 'आज समाज को आध्यात्मिक मामलों में कोई रुचि नहीं है। बच्चे धार्मिक पाठशालाओ में जाना पसंद नहीं करते और इसकी माता-पिता को कोई चिंता नहीं। धार्मिक संस्थाएं तेज़ी से समाज का विश्वास और श्रद्धा खोती जा रही हैं'*

पंडितों, पुरोहितों के लिए यह एक गंभीर परिणाम का विषय हो गया है। पर क्या यह चिंता का कारण हो सकता है? क्या हमें इस बात की चिंता होनी चाहिए कि व्यक्ति चर्च, मंदिर, मस्जिद आदि स्थानों पर जाए या

* गत अनेक युगों के सख्त अनुशासनात्मक धार्मिक संप्रभुता के एकाएक टूट जाने से और आधुनिक विज्ञान से उत्पन्न लालसा और प्रौद्योगिकी मिलकर आज समाज में घोर दुर्व्यवस्था, नकारात्मक प्रतिक्रियाएं फैला रहे हैं। कईयों ने अपनी आंखों से पुराने सुदृढ़ शक्ति संपन्न धर्म-गढ़ों को ढहते देखा है, मगर भविष्य की रचना के लिए उनके पास कोई दृष्टि नहीं है। इसीलिए वे कई प्रकारांतरों से क्रोध, पलायनवाद, अतिरंजित कल्पनालोक, आतंकवाद और कट्टरता की शरण लेते हैं। कुछ संगठित धर्मों ने तो आम जनता को फिर से घेरने का आक्रामक अभियान चलाया है। शायद यही वजह हो सकती है कि असंगत विरोधात्मक रूप से एक ओर चर्चों में, मंदिरों में, मस्ज़िदों में भक्तों की संख्या बराबर बढ़ रही है और दूसरी ओर आतंकवाद बढ़ रहा है। मगर इस विश्वव्यापी उद्वेलन और संभ्रम की स्थिति में से एक नई आध्यात्मिकता और मानव अधिकार की सुंदर संरचना उभर रही है। अध्याय 13 देखें।

न जाए? कि बच्चे पाठशाला जाते हैं या नहीं? धर्म-नियमों का कठोर पालन करते है या नहीं? क्या यह समकालीन चिंतकों, विचारकों के लिए कोई समस्या है? क्या इससे कोई फ़र्क़ पड़ता है? क्या पाठशाला और मंदिर जाना यही आध्यात्मिकता है? और क्या हमें उसे खोने की चिंता करनी चाहिए। (देखें, अगला अध्याय)

युद्ध

ऐसा नहीं है कि मनुष्य जाति ने, हमने, पहले युद्ध नहीं किए या एक-दूसरे की हत्या नहीं की। सच तो यह है कि हम तब भी मरने-मारने में माहिर थे। फरसा, कुल्हाड़ी, भाला, तलवार जैसे हथियारों के साथ हमने धर्मयुद्ध किए हैं। दूसरे देशों पर आक्रमण किया है और सभ्यता का नामोनिशान मिटाने में कोई कसर बाक़ी नहीं छोड़ी। 20वीं सदी में, धन्यवाद हमारी प्रौद्योगिकी शक्तियों को, हमने एक से एक संहारक मशीनों को ईज़ाद किया- मशीन-गन और बम। 20वीं सदी ने तो हिटलर के रूप में धर्मान्धता, लालच की मूर्ति गढ़ने में भी सफलता प्राप्त की। अगर उस व्यक्ति को हमारे पास आज मौजूद शस्त्रों का ढेर मिल गया होता तो वह पूरी पृथ्वी को ही चकनाचूर कर डालता। मगर हम निश्चिंत न हों, इसकी कोई गारंटी नहीं कि 21वीं सदी हिटलर का अपना कोई नया संस्करण पैदा न करे। जब यह किताब लिखी जा रही है तब दुनिया के कम से कम तीस स्थानों पर छोटी-बड़ी लड़ाईयां लड़ीं जा रही हैं। (अमेरिकी सरकार युद्ध के मोर्चों का उल्लेख "सगाई की रंगशाला" Theaters of Engagement जैसे शब्दों में करती है और युद्ध को केवल एक 'खेल' मानती है)। हाल ही में कुछ ऐसी घटनाएं हुई हैं, जिनका अंत न्यूयार्क के वर्ल्ड ट्रेड सेंटर और पेंटागन पर ग्यारह सितंबर 2001 के हमले के रूप में हुआ।

ग़रीबी

विज्ञान और प्रौद्योगिकी ने हमें अपार धन-अर्जन में सक्षम बनाया है। इससे पहले कभी इतना अधिक अनाज, इतनी चीज़ों का उत्पादन, इतना पैसा कभी पैदा नहीं हुआ था। मनुष्य ने अपनी निपुणता, सूझबूझ से ऐसी जीवनशैली निर्मित की है कि इतना सुख-सुविधा संपन्न वह पहले कभी नहीं था। मगर क्या हम अफ्रीका, एशिया और दक्षिण अमेरिका के भूख से तड़पते बच्चों और उनकी परेशान माताओं को यह बात समझा सकते हैं? क्या यह बात हम सबसे अमीर देशों के और अपनी चमक-दमक से आंखें चौंधिया देने वाले न्यूयार्क, टोराण्टो, लंदन, सिडनी, हांगकांग जैसे महानगरों की सड़कों पर रहने वाले लोगों को बता सकते हैं? हमारी वैज्ञानिक प्रगति, उपलब्धियों के बावजूद, उनके दुःखों का कोई अंत है ?

पर्यावरण का नाश

आज समकालीन विश्व के सबसे संपन्न देशों में तापमान के बढ़ने और ओज़ोन की परत में बड़े हो रहे छेद की चिंता व्याप्त है। उद्योगों के क्षेत्र में उभरे नए देश चिंतित हैं, इसलिए कि उनके प्राकृतिक स्रोत तेज़ी से खत्म होते जा रहे हैं और दूषीत पर्यावरण में पीने का पाणी और शुद्ध हवा का लोप हो रहा है।

सैद्धांतिक कट्टरता - राजनैतिक, धार्मिक, वैचारिक

जब धर्म-निरपेक्ष विचारकों की संख्या बढ़ने लगती है तब परंपरागत धर्म के 'बूढ़े प्रहरी' सैद्धांतिक, हठधर्मिता, कट्टरता के नाम पर हिंसा का सहारा लेते हैं। संयोग की बात है कि जब ये पंक्तियां टाइप की जा रही थीं तब मेरे कम्प्यूटर पर ये खबर आ रही थी-

"मुल्ला मोहम्मद ओमर ने फ़तवा निकाला है, अफ़गानिस्तान के पहाड़ों में उत्कीर्ण की गईं सोलहवीं सदी से भी पुरानी बुद्ध की दो विशाल मूर्तियां और अन्य जितनी भी मूर्तियां हों उन्हें तोड़ा जाए। यह आज्ञा इस्लामिक कानून के आधार पर दिया गया है।" तालिबान कट्टरतावादी मुस्लिम दल जो फिलहाल नब्बे प्रतिशत अफगान प्रदेश पर नियंत्रण रखता है।

- सीबीसी समाचार ऑनलाइन स्टाफ

पशुओं के प्रति क्रूरता

यह मुद्दा बड़ी तेज़ी से समकालीन विचारकों की सोच में आ रहा है। विश्व के कई देशों में हेलिकॉप्टर पर सवार होकर शक्तिशाली बंदूक के सहारे, घबराए भागते जंगली जानवरों का शिकार किया जाता है। निरीह पशु के शिकार के नाम पर इस हत्याकाण्ड का नाम बड़ा मीठा 'खेल' रखा है। लाखों गाय और मुर्गियों को तंग जगहों में, छोटे-छोटे पिंजरों में, कटघरों में ठूंस-ठूंस कर रखा जाता है। अपनी छोटी-सी लेकिन पूरी ज़िंदगी वे इसी तरह तंग परेशान-हाल में रखे जाते हैं। इसे वे गोपालन (farming) आदि नाम देते हैं। एक बहुत बड़े जाल के फैलाव में लाखों मछलियां पकड़ना, या सील मछली के छोटे बच्चों को, जबकि उन्हें पैदा हुए कुछ ही दिन हुए हैं, उनके सिर पर डंडा मारना ताकि वे मर जाएं और उनकी खाल काम में आए, इसे कहा जाता है - फसल लेना (Harvesting)। जो व्यक्ति उक्त 'खेलों' के मैदान में या गौशाला में, या मुर्गी खाने में जाएगा, उसे इन सुंदर नामों के पीछे क्रूरता और वीभत्सता के प्रत्यक्ष दर्शन होंगे। कभी देखें कि किस तरह मुर्गी के दो दिन के चूज़े मांस पीसने की मशीन में पीसे जाते हैं या फिर पंद्रह दिन की उम्र के चूज़ों की चोंच काट दी जाती है ताकि 14-14 इंच के तंग दम-घोंटू पिंजरों में बेहाल परेशान होकर वो एक-दूसरे को चोंच से मार न डालें। जिस तरह की क्रूरता इन बेज़ुबान पशुओं के साथ की जाती है, आप सोच भी नहीं सकते।

वैश्वीकरण (Globlization)

इस समस्या के दो पहलू हैं। एक तरफ वैश्वीकरण में दो राष्ट्रों के, दो उपमहाद्वीपों के लोग परस्पर या अन्य देशों में देशांतर करते हैं। आधुनिक संचार साधनों के कारण यह आवागमन काफी संख्या में बढ़ता जा रहा है। इस संदर्भ में पूरा विश्व ही सचमुच एक वैश्विक ग्राम (Global village) बन गया है। ऐसा वैश्वीकरण हाल ही में विकसित हो रहा है। आज जो उसकी रूपरेखा है उससे वैश्वीकरण अच्छा संकेत देता है। (कुछ संबंधित समस्याएं छोड़कर) देशांतर से जुड़ी समस्याएं ज्यादातर अल्पसंख्यक/बहुसंख्यक मुद्दे को लेकर हैं जिससे भय, नस्लवाद, धर्मांधता आदि का भय व्याप्त होता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति से नए बसने वाले लोगों को इतनी परेशानी होती है कि कहा नहीं जा सकता। फिर भी शिक्षा, सांस्कृतिक आदान-प्रदान और

व्यवहार में परिवर्तन के कारण समस्याएं सुलझाई जा सकती हैं। दूसरी तरफ देखें तो वैश्वीकरण का अब नया अर्थ होता है बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा 'फेयर ट्रेड प्रैक्टिस' के नाम पर गरीब देशों के प्राकृतिक और मानव संसाधनों का शोषण करना। बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा होने वाले शोषण की समस्या जटिल है, जिसका परिणाम राष्ट्र को, या किन्हीं विशेष लोगों को स्थायी हानि पहुंचाता है। कट्टर राष्ट्रीयतावाद वैश्वीकरण की एक प्रतिक्रिया है, जिसका नकारात्मक परिणाम हो भी सकता है।

टूटते परिवार

हालांकि यह समस्या पश्चिमी देशों में गंभीर समस्या बनती जा रही है, फिर भी पूर्वी संस्कृति इस समस्या से अछूती नहीं है। यूरोप, उत्तर अमेरिका, आस्ट्रेलिया देशों में अब भारतीय बस रहे हैं जहां स्थानीय दबावों से उनके परिवार भी परेशान हैं। 'संयुक्त परिवार' से 'केन्द्र परिवार' और फिर 'परिवार नहीं' इस स्थिति का परिणाम दिखाई दे रहा है और आज यह स्थिति समाज विज्ञानियों के लिए विस्तृत अध्ययन एवं खोज का विषय बन गई है।

नैतिक समस्याएं

कुछ धर्मों की मान्यता है कि जब समाज के सामने नई-नई नैतिक समस्याएं आ खड़ी होती हैं, तब नैतिक समस्यायों का नियमन सिर्फ उन्हीं के अधिकार क्षेत्र में हैं। इसलिए तुरंत पादरी, मुल्ला....कुछ आदेश या फतवा लेकर खड़े हो जाते हैं। अनुयायी समाज भी कभी सिर झुकाकर या फिर अनिच्छा से दबे क्रोध से भुनभुनाते हुए उन्हें मानने के लिए विवश होता है। कभी-कभी इनसे भावनात्मक संकट भी पैदा होता है, जिसके दबाव में विद्रोही को धार्मिक समुदाय के संघ का परित्याग करना पड़ता है। ऐसी कुछ समस्याएं समकालीन विचारकों के सामने हैं- जैसे स्त्री-पुरुष में समानता, समलैंगिक-विवाह, मृत्युदण्ड, वैज्ञानिकों द्वारा अयोनिज जीव-प्रतिसृष्टि (Cloning), अनुसंधान कार्य में पशुओं का उपयोग, राज्य के मामले में धर्म-सत्ता का दखल, परमाणु अस्त्र आदि। आज की युवा पीढ़ी बहुत ही व्यक्तिगत समस्याओं से जूझ रही है। वह दुविधा में है और समान रूप से दबाव में भी। दूसरी ओर माता-पिता के संस्कार, नशीले पदार्थों का सेवन, नशे की लत, शराबखोरी, मुक्तयौन, विवाहपूर्व यौन, गर्भपात आदि के संबंध में वह मनोवैज्ञानिक दबाव में है। इन मुद्दों की तीव्रता, स्थान और संस्कृति के अनुसार कम ज्यादा हो सकती है, लेकिन आज नहीं तो कल सभी स्थानों पर, सभी देशों में, सभी संस्कृतियों को इन समस्याओं का सामना तो करना ही होगा। क्या केवल निर्देश जारी करके, धार्मिक संस्थाएं इन्हें सुलझा सकती हैं या धर्म-कर्म के अधिकारी व्यक्ति इन समस्याओं से निपट सकते हैं? क्या जैन धर्म के पास कोई विशेष उपाय है, जो व्यक्तिगत स्वरूप की उक्त समस्याओं का निदान कर सके ?

विश्लेषण

उक्त समस्याएं हमारी सभ्यता के सामने प्रश्नचिह्न बनकर खड़ी हैं। यों बाहरी तौर पर समस्याओं का स्वरूप भिन्न लग सकता है, पर विश्लेषण करने पर स्पष्ट होगा कि वासना का (कषाय)एक ही धागा है जो उन्हें जोड़ता है-जो उनमें समान रूप से है। क्रोध, अहंकार, छल-कपट और लोभ (जैन इन्हें चार कषाय कहते हैं) ये चार वासनाएं मूलत: इन समस्याओं के प्रेरक हैं। युद्ध, आर्थिक अधिकार, दरिद्रता, पशुओं के प्रति क्रूरता और पर्यावरण का नाश इन विभिन्न समस्याओं के मूल में है- सत्ता का लोभ, धन का लोभ। इनके कारण हैं। मिथ्या अहंकार के कारण धर्म, राजनैतिक विचारधारा, नस्लवाद, संस्कृति, वर्ण आदि या तो हमारी चिंता बढ़ाते हैं या अपने से भिन्न विचार-वर्ण, धर्म आदि को नीचा दिखाने के लिए हमें उकसाते हैं। परिणामत: हम भय, क्रोध दर्शाकर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। नैतिक समस्याएं भी अंतत: वासनाओं से परिचालित हैं, ये हमें सूक्ष्म विश्लेषण करने पर ज्ञात होगा। सैद्धांतिक रूप से कम से कम हम इतना तो कर ही सकते हैं कि अपनी बलवती वासनाओं को बुद्धिमानी से प्रयत्नपूर्वक, ज्ञान में बदलें। उन्हें अपने नियंत्रण में रखें, बजाय इसके कि वासनाएं उग्र होकर हमें अपनी गिरफ्त में जकड़ लें, तब शायद काफी हद तक हम समस्याओं को सुलझा सकते हैं। क्या जैनों के पास इस संबंध में कोई विशेष अन्तर्दृष्टि है? वे किस प्रकार इन समस्याओं का निराकरण करेंगे। क्या जैन धर्म इस विषय में सहायता करेगा?

सक्रियतावाद (Activism)

कई व्यक्ति, कई संस्थाएं, कई संगठन अपने-अपने स्तर पर विश्व में उक्त समस्याओं को सुलझाने में प्रयत्नशील हैं। उनके प्रयत्नों का परिणाम विभिन्न प्रकार से- पुस्तक-प्रकाशन, सम्मेलन, रैली, सड़कों पर प्रदर्शन करना आदि के रूप में और कभी हिंसात्मक घटनाएं लोगों की हताशा, रोष को प्रकट करती हैं। ऐसी घटनाओं को अक्सर सक्रियतावाद या आंदोलन कहा जाता है। इस तरह की सामाजिक अशांति-असंतोष की स्थिति बनाए रखने में जिनका स्वार्थ है, ऐसे लोग आंदोलन का ग़लत चित्र प्रस्तुत करते हैं और आंदोलन करने वालों को उद्दण्ड, उच्छृंखल, अराजक युवा पीढ़ी समझते हैं। आंदोलक ऐसा क्यों करते हैं यह समझना आसान है। उनकी अपनी दुनिया के हालात से जो गुस्सा, जो दु:ख, जो असंतोष पैदा होता है उसे ज़ाहिर करने के लिए वे और तो कुछ कर पाते नहीं, इसलिए तार उखाड़ते हैं, पुतले जलाते हैं, बसों में आग लगाते हैं, झंडे जलाते हैं (झंडा, सरकारी गाड़ियां, सत्ता का प्रतीक है)। अपना आक्रोश जताने का उनका यही तरीक़ा होता है। कई बार हालांकि उनका उद्देश्य अच्छा होता है परंतु इसका परिणाम दु:खद, संघर्ष और निराशा के रूप में भी होता है। फिर भी उक्त समस्याओं के लिए उनकी चिंता स्वाभाविक है और हमारी सभ्यता के सामने जो समस्याएं हैं, वे भी वास्तविक हैं। इस सच्चाई से इनकार नहीं किया जा सकता कि हम उन समस्याओं के लिए 'कुछ करें', नहीं तो हमारी पृथ्वी गंभीर संकट में होगी।

पहले हम यह समझ लें कि कुछ करने से हमारा क्या मतलब है? विरोध, प्रदर्शन, रैली और सड़कों पर उतरना, इनसे सकारात्मक और नकारात्मक दोनों तरह के परिणाम होते हैं। एक तो प्रदर्शन, रैली आदि से

मुख्य समस्या उजागर होती है और हमारा आंदोलन लोगों में सजगता उत्पन्न करता है। यदि आंदोलन हिंसात्मक, घिनौना मोड़ नहीं लेता तो अधिक लोग हमारे साथ एक उद्देश्य से शामिल होंगे। यह सकारात्मक पक्ष होगा। लेकिन इन उपायों से उद्देश्य कम सफल होता है क्योंकि उससे एक नकारात्मक सोच लोगों में पैदा होती है। जिन लोगों के विरोध में आंदोलन होते हैं, उनके मन में अपराध बोध उत्पन्न होता है और समस्या को यथा-स्थिति बनाए रखने में उनका स्वार्थ निहित होता है। उनका तुरंत प्रतिसाद होगा, स्थायी रूप से लोकहित में समस्या की उपेक्षा करना और उसके स्थान पर अपराध भावना छुपाने के लिए रक्षात्मक मुखौटा लगाकर प्रति-आक्रमण की योजना बनाना। जैसा कि अक्सर हुआ करता है। हथियारों के उद्योग के मामले में शांति आंदोलन, शाकाहारी आंदोलन-मांसोद्योग के खिलाफ, आर्थिक महाशक्ति-गरीबी उन्मूलन आंदोलन, प्रमुख धर्म-बहुधर्म निष्ठा आंदोलन। इस नीति से परिवर्तन का विरोधी पक्ष ऐसी ताक़त पैदा करता है, जिससे आंदोलनकारी कार्यकर्ताओं को कुचला तो नहीं जा सकता है पर उन्हें हताश, पराजित ज़रूर किया जा सकता है।

किसी भी आंदोलन की सफलता उसके नेताओं पर निर्भर होती है। प्रभावी नेते समय समय पर अपनी व्युहरचना बदलते है। वे किस प्रकार गियर बदलकर अपनी योजना को 'लज्जाजनक' या दूसरों में 'अपराध-भावना' पैदा करने वाली नकारात्मक सोच को 'हम मिलकर ज़रूर कर सकते हैं' इस सकारात्मक दृष्टि में बदल पाते हैं इस पर आंदोलन की सफलता निर्भर होती है। महात्मा गांधी ने बहुत ही सफलतापूर्वक गियर बदलने की तकनीक का प्रयोग किया था, उनका स्वतंत्रता आंदोलन था और सामने विपक्ष था शक्तिशाली अंग्रेज़ी राज। अंग्रेज़ों का एकमात्र उद्देश्य था भारत का आर्थिक शोषण। महात्माजी जब-तब अपने अनुयायियों को सड़क पर लाकर शांतिपूर्ण रैली या मोर्चा संगठित करने कहते थे। उनका हर क़दम हिंदुस्तानी जनता को अपनी मांगों के प्रति जाग्रत करने और अधिक से अधिक लोगों को आंदोलन में शामिल करने के लिए होता था। यह उनका बहुत सफल तरीक़ा था। प्रत्येक मोर्चे या रैली से अंग्रेज सरकार घबराकर प्रति आक्रमण के लिए फौजी ताक़त का प्रयोग करती थी। फिर जनता का शांतिपूर्ण आंदोलन पुलिस की सख्ती से उग्र रूप ले लेता था, तब गांधीजी फौरन आंदोलन खत्म करने को कहते थे। आंदोलनकारी हताश तो होते थे मगर आंदोलन रोक दिया जाता था। गांधीजी तब 'सभ्य ब्रिटिश' जनता से अपील करते और फिर समस्या हल करने की बातचीत होती थी। इस तरह गांधीजी कभी आंदोलन तो कभी परिसंवाद का प्रयोग करते थे और अपने उद्देश्य को आगे बढ़ाते थे। आज कार्यकर्ता जो 'कुछ करना चाहते हैं' वे गांधीजी से सीख लेकर काफी जल्दी अच्छे परिणाम प्राप्त कर सकते हैं।

बहुधर्म निष्ठा - आंदोलन

उदाहरण के लिए हम एक मुद्दा लेते हैं- धार्मिक असहिष्णुता और हठधर्मिता। मानव जाति के इतिहास में यह मुद्दा कई संघर्षों और युद्ध का कारण रहा है। आज भी विश्व में ऐसे संघर्ष हो रहे हैं जिनमें यही मुद्दा कारक है। न्यूयार्क वर्ल्ड ट्रेड सेंटर पर उग्रवादियों द्वारा हुआ हमला है या फिर नई दिल्ली स्थित संसद भवन पर हुआ

आक्रमण, दोनों हमलों के मूल में कारण यही रहा है। पिछले कुछ वर्षों में पूर्व से पश्चिम के ईसाई-धर्मी देशों में बहुत लोगों का देशांतर हुआ है। इस कारण विभिन्न धर्मों के लोग एक-दूसरे के निकट आए हैं, इससे कुछ सीमा तक पश्चिमी दुनिया के कट्टर ईसाइयों में व्यग्रता-चिंता के कारण शत्रुता की भावना बढ़ी है।

ज्यूडो -क्रिश्चियन परंपरा के कई विचारवंतो ने शताब्दियों पूर्व अन्य धर्म को वैध धर्म के रूप में मानने की प्रक्रिया शुरू की, लेकिन पिछले कुछ वर्षों से इसमें कोई प्रगति नहीं हुई। परंपरा तो यह रही है कि ईसाई धर्म अपने आपको विश्व के स्तर पर समस्त मानव-जाति का एक मात्र 'सच्चा धर्म' मानता है और ज्यूड़िजम केवल जन्म से जो ज्यू हैं सिर्फ उन लोगों के लिए है। परिणामत: दोनों ही धर्म अन्य किसी धर्म के साथ सम्मानपूर्वक संवाद के लिए तैयार नहीं थे। सदियों से क्रिश्चियन चर्च का एक ही लक्ष्य रहा है- अन्य धर्मियों को अपने 'सच्चे धर्म' में धर्मान्तर करना, और उन्हें मारकर या बहिष्कृत कर बाहर निकालना जो पहले ही 'सच्चे धर्म' से भलीभांति अवगत थे, लेकिन उन्होंने चर्च की शिक्षा को चुनौती देने का साहस किया था। 1555 में प्रिंस ऑफ आसबर्ग के यूरोपियन धर्म-सुधार के दौर में क्रिश्चियनिटी का सख्त रवैया नरम पड़ने लगा। ''राजकुमार का देश राजकुमार का धर्म'' अनुसार जनता को अपने-अपने धर्म के पालन की अनुमति दी (या कैथोलिक या लूथरन)। यद्यपि क्रिश्चियन धर्म के संप्रदाय (काल विनिस्टस या हट्टराइट्स) के लोगों की हत्या जारी रही। यहां तक कि जॉन लॉक जैसे विद्वान दार्शनिक भी नास्तिकों के प्रति घोर असहिष्णु थे। क्रिश्चियनस् का सख्त रवैया धीरे-धीरे कम कठोर होता गया (ब्रिटेन का विलियम और मेरी कानून 1689)। यूरोप अन्य धर्मों को मान्यता देने में पीछे रहा। फिर भी यह तथ्य जानते हुए कि यूनाइटेड स्टेट्स में आए अधिकांश देशांतरित लोग पहले यूरोप में धर्म के लिए दंडित व्यक्ति थे, अमेरिका में मान्यता की प्रक्रिया जल्दी हो जानी चाहिए थी, मगर जब स्थानीय मूल निवासियों से उनका संघर्ष हुआ, जिन्हें वे जंगली (कभी-कभी सज्जन जंगली) भी कहते थे, उनको बाक़ायदा बाहर से आए नए देशांतरित लोगों द्वारा दंडित किया गया। उनकी ज़मीनें छीन ली गईं। (1960 तक यह होता रहा)। सारांश यह कि इन देशांतरित लोगों ने भी क्रिश्चियनिटी-ईसाई धर्म के नाम पर सामूहिक नरसंहार किया।

मध्यपूर्व देशों का तीसरा मुख्य धर्म इस्लाम भी धार्मिक संघर्षों के लंबे इतिहास के बाद नया रूप ले रहा है। मगर उसकी प्रगति बहुत धीमी है। कट्टरपंथी मुल्ला आज भी हथियारों से लैस होकर विश्व के कई देशों में लड़ रहे हैं। यद्यपि सुसंस्कृत मुस्लिम बहु धर्म-संवाद में शामिल हो रहे हैं, फिर भी उत्तर अफ्रीका, अफ़गानिस्तान, पाकिस्तान आदि देशों में उपनिवेशवाद के परिणामस्वरूप मुस्लिम कट्टरता और सांप्रदायिक विद्वेष अभी भी है। ऐतिहासिक दृष्टि से एक रोचक तथ्य यह है कि मध्य पूर्व देशों के तीन प्रमुख धर्म क्रिश्चियनिटी, इस्लाम और जुडाइज़म तीनों अपने को सच्चा धर्म होने का दावा करते हैं और धार्मिक संघर्ष का उनका लंबा इतिहास भी है। यह विचित्र बात है कि मध्य-पूर्व में केवल ''हम ही सच्चे'' ऐसा मानने वाले तीन महान धर्मों का संघर्ष भरा जन्म हुआ है, जो आज भी सतत संघर्षरत हैं।

भारतीय उपमहाद्वीप तीन महान धर्मों का देश है- 1. बौद्ध धर्म, 2. जैन धर्म, 3. हिन्दू धर्म। यहां तीनों धर्मों

ने अपेक्षाकृत कम धार्मिक संघर्ष देखा है। पिछले 3500 सालों में- जब से ब्राह्मण धर्म का उदय हुआ- ब्राह्मण धर्म (हिंदु धर्म का मुल) और श्रमण धर्म (बौद्ध एवं जैन) के बीच हुए संघर्ष कभी-कभी हिंसात्मक हुए- मगर आम तौर पर संघर्ष का स्वरूप धार्मिक, दार्शनिक संवाद का, वाद-विवाद का रहा। पिछले कुछ वर्षों में भारतीय उपमहाद्वीप में इस्लाम के बढ़ते कदमों ने हिंसक संघर्षों में वृद्धि की है, जिससे भारत की बहुत प्राचीन परंपरा, बहुधर्म-संवाद परंपरा को काफी गंभीर आघात लगा है।

अब तो अधिकांश विश्व में धर्म बहुलता (Religious pluralism) को स्वीकार भी किया गया है। अब न केवल एक धर्म के अंतर्गत भिन्न पंथों, संप्रदायों के बीच खुली बात होती है बल्कि अन्य धर्मों के साथ भी संवाद का प्रयास हो रहा है। आधुनिक नगर नई दिल्ली से लेकर न्यूयार्क, टोकियो से टोरांटो और लंदन से लॉसएंजिलस् तक, तेज़ी से एक अर्थपूर्ण अनुपात में धर्म-बहुल बन रहे हैं। इन केंद्रों में विभिन्न धर्मों के समुदाय खोज में लगे हैं कि दुश्मनी के लिए व्यर्थ नफ़रत, घृणा के लिए बहाना ढूंढने के बजाय धार्मिक अंतर को हम एक अवसर मानें, आत्मीय संवाद का, आध्यात्मिक धरोहर की सराहना का और विश्व की अनेकता के प्रति सचेत जागरूक होने का और विविधता का उत्सव मनाने का।

हिंसक धार्मिक संघर्ष से शांतिपूर्ण संवाद तक की यात्रा ने 'बहुजन हिताय' का उद्देश्य समुन्नत किया है। जो 'कुछ करना चाहते हैं' उनके लिए हिंसा से संवाद-स्थापन का गियर बदलने का फायदा जाहीर है। दूसरों को 'लज्जित' करने की अपेक्षा उनके विचारों का आदर करने का फायदा स्वयं स्पष्ट होगा।

समकालीन समस्याओं का मूल कारण मन के कषाय (वासनाएं) हैं, इसकी समज, और हिंसात्मक संघर्ष की अपेक्षा शांतिपूर्ण संवाद की प्रभावकारी शक्ति को पहचान कर हम कह सकते हैं कि समकालीन समस्याओं को सुलझाने के वैश्विक प्रयासों में जैन महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। जैन धर्म के 'अकारत्रय' अहिंसा, अनेकांतवाद और अपरिग्रह के प्रति निरंतर, प्रतिबद्धता सराहनीय है, धन्यवाद की पात्र है। जैन परंपरा की अहिंसा और अनेकांतवाद ने जैन धर्मियों को बिना कटुता, संघर्ष के बहुमुखी संवाद-कौशल से संपन्न बनाया है। अब उन्हें सही सुअवसर मिला है कि वे नए उदीयमान विश्वव्यापी सर्व धर्म परिसंवाद के आंदोलन को मूल्यवान अंतर्दृष्टि दें।

13

13. अभिनव अध्यात्म

पिछले अध्याय में हमने ज़िक्र किया था कि परंपरागत आध्यात्मिक मूल्यों की हानि आधुनिक समाज की एक बहुत बड़ी समस्या है। हमने यह भी सवाल किया था कि क्या समकालीन विचारकों को इस हानि से चिंतित होना चाहिए? ऐसे प्रश्न का उत्तर आध्यात्मिकता का अर्थ समझे बिना नहीं दिया जा सकता। पिछले कई वर्षों में आध्यात्मिकता का अर्थ बदल गया है। आधुनिक पीढ़ी के लिए आध्यात्मिकता क्या अर्थ रखती है, इसे वह किस दृष्टि से देखती है, आगे जाकर यह शब्द 'आध्यात्मिकता' किस अर्थ को वहन करेगा, यह देखना होगा।

आध्यात्मिकता

मानव इतिहास में आध्यात्मिकता की धारणा बदलती रही है और आगे भी बदलती रहेगी। धर्म संबंधी कई कल्पनाएं, सुख को खोजने वाली आत्म-स्वरूप को पहचानने का प्रयत्न करने वाली कल्पनाएं कुछ असाधारण व्यक्तियों के साथ उत्पन्न हुईं। इन व्यक्तियों ने नैतिक आचरण के कई मापदण्ड बनाए ताकि सामाजिक सद्व्यवहार से मानव सुख प्राप्त कर सकें। पूर्ण क्षमता प्राप्त कर सकें। मनुष्य के संपूर्ण व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से प्रेरीत विचारधारा ही वस्तुतः मूल आध्यात्मिकता है। मानव समाज के हित के लिए नैतिक आचरण का पालन मोटे तौर पर आध्यात्मिक व्यवहार की परिभाषा होगी। सुख की खोज में लगे लोग इन विशिष्ट असाधारण व्यक्तियों के आसपास एकत्र हुए और उनमें से ही कईयों ने विभिन्न धर्मों के रूप में अपने आपको संगठित किया।

शीघ्र ही एक नया वर्ग निर्माण हुआ जिसका उद्देश्य था-आम लोगों को नैतिक आचरण-पालन में और आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने में सहायता करना। यह वर्ग स्वयं को पवित्र मानने वाले लोगों-पंडितों, पुरोहितों, साधुओं, मुल्लाओं तथा रबी का था। वे नए समाज के नेता बने। अब ये उनका उत्तरदायित्व था कि वे अपने अनुयायियों को अध्यात्म के मार्ग की ओर ले जाएं और समाज को सुखी रखें। दुर्भाग्य से कुछ लोग धार्मिक नेताओं के नियमों का पालन नहीं करते और कभी-कभी तो वे नेताओं के अधिकारों को चुनौती भी दे बैठते थे। स्पष्ट है कि धार्मिक नेताओं को चुनौती मान्य न हुई और उनकी प्रतिक्रिया कई 'आचरण संहिता' घोषणाओं के रूप में जनता में प्रसारित हुई। तथाकथित 'आचरण संहिता' फिर आचरण

नियम-कानून के रूप में बदले गए। ये नियम प्राय: विरोधात्मक थे। कहने को तो उनका स्वरूप मनुष्य के संपूर्ण विकास के लिए था, लेकिन उद्देश्य मनुष्य की जाति, वर्ण, धर्म, लिंग, कर्म आदि के आधार पर मानव व्यवहार को नियंत्रित करना था। 'नियम-कानून' लागू करना आवश्यक था इसलिए कानून की अनिवार्यता के नियम, तरीक़े और कठोर प्रतिबंध जैसे कि समाज से बाहर करना, शारीरिक दंड देना, यातनाएं देना यहां तक कि मृत्युदण्ड के अलावा अनंतकाल तक घोर नरक का भय बताना आदि थे। धर्म, आध्यात्मिकता का अर्थ अब केवल धार्मिक नियम-कानूनों का पालन और धार्मिक नेताओं के अधिकार, अनुशासन को मानना रह गया। इसका कुल परिणाम, आचरण संहिता का धीरे-धीरे नियम-कानूनों में बदल जाना हुआ और इसने मनुष्य के व्यक्तित्त्व के संपूर्ण विकास को रोक दिया। धर्म की सत्ता के सामने मानव-अधिकार, सुख और राज्य के अधिकार गौण हो गए।

मानव अधिकार

पश्चिम में लगभग चार सौ वर्षों पुर्व तक, जब तक कि विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी ने धर्म सत्ता के एक छत्र अधिकार को चुनौती नहीं दी, धार्मिक सत्ता अपने अधिकारों का, अपनी सत्ता का लाभ उठाती रही। विज्ञान और प्रौद्योगिकी की चुनौती ने आध्यात्मिकता को नए ढंग से परिभाषित किया। एक तरफ विज्ञान ने तर्कसंगत सोच को बढ़ावा दिया, दूसरी ओर मुद्रणालयों के कारण बाइबिल धर्मग्रंथ आम जनता के हाथ में आसानी से पहुंच गया। इसका परिणाम यह हुआ कि निष्ठा पर आधारित धर्म सत्ता क्षीण, दुर्बल होने लगी। 'आध्यात्मिकता' शब्द फिर से अपना मूल अर्थ ग्रहण करने लगा। अर्थात् वे कार्य जो मनुष्य को, उसकी समस्त क्षमता को- आंतरिक शक्ति को प्राप्त कराने में सहायक हैं। 'धर्मसत्ता' की दुर्बलता का पहला लाभ राज्य शासनों ने उठाया। राज्य ने अपने आपको चर्च के नियंत्रण से मुक्त किया। 20 वीं सदी तक तो 'आधुनिक राज्य' की परिभाषा ही बदल गई। आधुनिक राज्य वह है जो धर्म-सत्ता के हस्तक्षेप और दखलंदाज़ी से सर्वथा मुक्त है। नई 21वीं सहस्राब्दि में प्रवेश करते समय बरसों पहले से चला आ रहा धार्मिक नियंत्रण समाप्ति पर है या तो क्षीण हो चुका है या फिर अवैध घोषित हो चुका है। मानव अब स्वतंत्र होकर अपने अधिकारों के प्रति सजग हुआ है और 'अनंतकाल तक' नरक का भय उनके मन से निकल चुका है।

आधुनिक रुझान तो यह है कि व्यक्ति अपने नैतिक सिद्धांतों से, अपने विवेक से स्वयं अपना धर्म चुने और तदनुसार जीवन बिताए। व्यक्ति आज अपने अधिकारों के प्रति सजग हो रहा है और वह समाज से, धर्म से, शासन से, नियंत्रण छीन रहा है। मानव अधिकारों को प्राथमिकता दी जा रही है। आध्यात्मिकता फिर से मानव अधिकार के नाम से परिभाषित की जा रही है। अब यह एक सामान्य धारणा बन चुकी है कि मानव को अपना धर्म चुनने का अधिकार है और उसे अपने विवेक के अनुसार पालन करने का, अपने विश्वास का, निष्ठा पालन का, पूजा करने का, उपासना का अधिकार है। शासन द्वारा नागरिकों को राजधर्म के पालन के लिए विवश करना, और न करने पर दण्डित करना, आज यह धारणा विश्व ने निकाल फेंकी है। आध्यात्मिकता

आज धर्म-निरपेक्ष है। मनुष्य की क्षमता फिर से आदर-सम्मान का विषय है, वही नई आध्यात्मिकता का सर्वसामान्य ध्येय भी है। इस परिवर्तन का संकेत, मानव अधिकारों के रूप में वैश्विक आध्यात्मिकता का उन्मेष, सर्वत्र दिखाई दे रहा है।

"संयुक्त राष्ट्र संघ की जनता ने अपने चार्टर में मूलभूत मानव-अधिकारों में मनुष्य के प्रतिष्ठा में, मूल्य में और स्त्री-पुरुष के समान अधिकारों में फिर से निष्ठा व्यक्त की है।"

भूमिका मानव अधिकारों की घोषणा संयुक्त राष्ट्र संघ, जनरल असेम्बली दिसंबर 10, 1948

- विभिन्न अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं ने, जिनमें संयुक्त राष्ट्रसंघ, द कौंसिल ऑफ यूरोप और हेलसिंकी अकॉर्ड शामिल है घोषणा की है कि मानव मात्र को धर्म स्वतंत्रता का अधिकार होगा और शासन न केवल धार्मिक दंड, उत्पीड़न की औपचारिक नीतियों के लिए दोषी माना जाएगा, बल्कि उसे मानव अधिकारों की रक्षा के लिए सक्रिय होना होगा।

- विभिन्न अंतरराष्ट्रीय समाज एवं शासन धर्मनिरपेक्ष होते जा रहे हैं, जबकि धार्मिक कट्टरतावादी निराशा में उग्रवादी बन रहे हैं। अमेरिका में हाल ही में सदर्न बाप्टिस्ट चर्च द्वारा प्रकाशित पुस्तकमाला में गैर ईसाई धर्म, जैसे हिन्दू धर्म को कलंकित किया गया है। अफ़गानिस्तान में तालिबान सदस्यों द्वारा सोलहवीं सदी की बुद्ध की विशाल प्रतिमाएं बारूद से उड़ा दी गईं, न्युयॉर्क के विश्व व्यापार संगठन की मीनारों पर और भारतीय संसद भवन पर मुस्लिम कट्टरतावादी हमला किया गया लेकिन ऐसी घटनाओं को हताशा में किए गए कर्म मात्र मानना चाहिए।

- विभिन्न धर्म-निष्ठाओं के बीच आंतर धर्म संवाद जारी है और सर्व धर्म संवाद आंदोलन (Inter faith movement) गति पकड़ रहा है।

- बौद्ध, जैन, ईसाई, हिंदू, मुस्लिम, ज्यू, शिन्तो और ताओ धर्म के ग्रंथ अब अनुवादित किए जा रहे हैं और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया पर उपलब्ध कराए जा रहे हैं। भिन्न धर्मों के लोग अब एक-दूसरे के धर्मों की खोज-पड़ताल कर रहे हैं।

- धार्मिक नेताओं को सुनने के लिए विश्व के श्रोता समुदाय तैयार हैं। उदाहरणार्थ- सन् 1893 में और 1993 में शिकागो में संपन्न धर्म संसद-अधिवेशन में और बंगलौर के सर्व धर्म सम्मेलन में प्रत्येक वक्ता ने अपने 'ईश्वर' और अपने 'मन' की बात की मगर 1893 में हिंदू प्रतिनिधि स्वामी विवेकानंद ने सब धर्मों के ईश्वर को, समस्त मानव जाति को प्रेम से बंधुभाव के स्नेहपाश में आबद्ध किया।[18] और वीरचंद गांधी, जैन प्रतिनिधि ने श्रोताओं में उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति को विशुद्ध आत्मा मानकर मोक्ष के उपयुक्त, ईश्वर के समकक्ष समझा।[19]

18. रोमन रोलण्ड, द लाइफ ऑफ विवेकानंद एंड दी यूनिवर्सल गौस्पल, अद्वैत आश्रम, 1965, पृष्ठ 36/8
19. वीरचंद गांधी, रिलीजन एंड फिलॉसाफी ऑफ द जैनस, संपादन-नगीन शाह, जैन इंटरनेशनल, अहमदाबाद, 1993

- 1962-65 में द्वितीय वेटिकन कौंसिल में कैथोलिक चर्च ने अंतत: यहुदी जनता के विरुद्ध 'ईश्वर की हत्या' का आरोप वापस ले लिया। (लेकिन 1870 प्रथम वेटिकन 'The doctrine of Papal Infallibility' अर्थात् 'पोप कभी ग़लत नहीं करते' यह सिद्धांत ज्यों का त्यों रखा, उसे हटाया नहीं गया)। द्वितीय वेटिकन कौंसिल में प्राप्त कुछ प्रगतिशील उपलब्धियां सन् 2000 के वेटिकन ने वापस ले लीं।

- आज समस्त धर्मशास्त्र ग्रंथ वैज्ञानिक जांच-परख के लिए प्रस्तुत किए जा रहे हैं। यहां तक कि कैथोलिक चर्च, जो शास्त्रों की वैज्ञानिक जांच के लिए यह कहकर विरोध किया करते थे कि धार्मिक ग्रंथ दैवी प्रकाशन Devine revelation हैं, वे भी अंतत: 1943 में जांच के लिए मान गए। जुडाइज़म की संशोधित विचारधारा इसी तरह ज्यूइश धर्मशास्त्र ग्रंथ की वैज्ञानिक जांच-पड़ताल कर रही है। इस्लाम के धर्म-तत्त्वज्ञ अभी भी ऐसे जांच-पड़ताल के लिए तैयार नहीं हैं, उनके अनुसार आधुनिकता की सारी कल्पनाएं कुरान में पहले ही से मौजूद हैं या फिर वे आधुनिकता को पश्चिमी पतन कहकर अस्वीकार कर देते हैं। बौद्ध, हिन्दू और जैनोने कभी अपने धर्म-ग्रंन्थों 'दैवी प्रकाशन' होने का दावा नही किया। वे तो उनके धर्मों के विद्वान साधु तपस्वियों, ऋषि-मुनियों द्वारा लिखे गए हैं और सदा सूक्ष्म परीक्षण - जांच आदि के लिए उपलब्ध हैं।

  सूक्ष्म निरीक्षण यानी जांच-पड़ताल से धर्मों का 'दैवी प्रकाशन' 'दैवी उत्पत्ति' आदि का दावा खारिज हो जाता है।

एक जेसुइट पादरी टेलहर्ड डी. शाड्रीन (1881-1937) और एक हिंदू रहस्यवादी योगी श्री अरविंद घोष (1872-1950) दोनों के विचार से मानव चेतना का सामान्य स्तर समय-समय पर बदलता रहता है। अत: ईश्वर अपने दूत या अवतार के रूप में मनुष्य जाति के हित के लिए जन्म लेते हैं। कृष्ण जो विष्णु के अवतार माने जाते हैं कहते हैं-

"सदाचारी लोगों की रक्षा करने तथा दुराचारी लोगों का नाश करने और पवित्र कर्तव्य का मापदंड स्थापित करने मैं युग-युग में जन्म लेता हूं।" -भगवद्गीता 4-8

टेलहर्ड और अरविंद घोष का विचार कुछ अधिक मानव केंद्रित है किंतु इसका तात्पर्य है कि ईश्वर उसके अन्य प्राणी जगत की चिंता नहीं करता, अर्थात् वो मानवेतर अन्य जीवधारियों की भी जैसे पशु, वनस्पति, सृष्टि की परवाह नहीं करता। उक्त कथन में मनुष्य के दायित्व निर्वाह की ज़िम्मेदारी से बचने की चिंता निहित है, क्योंकि वह ज़िम्मेदारी तो ईश्वर पर डाल दी गई है जबकि वह मनुष्य की होनी चाहिए। श्री अरविंद और टेलहर्ड की धारणा में अभिनव आध्यात्मिकता की पूरी स्पष्ट पहचान नहीं है। लेकिन वह 'एकमात्र सत्य' के धार्मिक दायरे से एक क़दम आगे है।

नई आध्यात्मिकता

मानव अधिकारों की पुनर्स्थापना, अभिनव आध्यात्मिकता का केवल एक पहलू है। नई उदीयमान वैश्विक आध्यात्मिकता तो बहुआयामी है। उसके अंतर्गत विश्व कल्याण की चिंता है, मानव जाति की पारस्परिक निर्भरता एवं सहयोग है। पर्यावरण और समस्त प्राणी जगत एवं पृथ्वी की सुरक्षा की चिंता किए बिना हम मानव-हित की बात सोच भी नहीं सकते। व्यक्तिगत ज़िम्मेदारियों को निभाने की नैतिकता, सामाजिक न्याय के लिए गहरी चिंता, व्यक्तिगत सिद्धि और मानव अधिकार अब आध्यात्मिकता के नए आयाम हैं।

आधुनिक विचारक चाहते हैं कि प्रमुख सामाजिक संस्थाएं, जैसे कि धर्म एवं शासन, मानव अस्मिता के आयामों के इस पक्ष का पूरा ध्यान रखें। वे वापस उस अंधकार-युग में नहीं जाना चाहते, जब बिना किसी प्रश्न के केवल धर्म-सत्ता के आदेश का पालन किया जाता था और न ही वे ऐसी उन्मुक्तता, स्वच्छंदता चाहते हैं कि जिससे मनुष्य की अवांछनीय, घोर, अनैतिक इच्छाओं की तुरंत पूर्ति हो। उनकी राय में परंपरागत धर्म की 'मरणोपरांत जीवन' पर दृष्टि और विज्ञान की 'जीवन आज और अभी' दृष्टि, दोनों ही दृष्टिकोण अतिवादी हैं, अत: स्वीकार्य नहीं हैं। इसके स्थान पर एक संतुलित जीवन दृष्टि 'मरणोपरांत जीवन' और 'जीवन आज और अभी' दोनों दृष्टिकोणों में उचित मेल ज़रूरी है। अभिनव आध्यात्मिकता वह है जो आपके आदर, सम्मान और विस्मयपूर्ण अद्‌भुत अनुभूति को स्वयं अपनी ओर आकृष्ट करे। विवेक बुद्धि, मन-मस्तिष्क की स्वतंत्रता को बिना किसी दबाव के, बिना नियंत्रण के, व्यक्ति की धर्म-निष्ठा को बढ़ावा दे। जहां प्राणी मात्र के अधिकारों की मान्यता हो, जहां विश्व को एक स्वयंसिद्ध सत्ता माना जाता हो, जहां संपूर्ण विश्व की भव्यता और सुंदरता की रक्षा के प्रयास हों, जहां व्यक्ति की और विश्वशांति की मनोभूमि तैयार हो, वहां नई आध्यात्मिकता है। अंध श्रद्धा नही किंतु चिंतन के ये विभिन्न आयाम अभिनव अध्यात्म की परिभाषा हैं।

अभिनव आध्यात्मिकता वह है जो आपके आदर, सम्मान और विस्मयपूर्ण अद्‌भुत अनुभूति को स्वयं अपनी ओर आकृष्ट करे। विवेक बुद्धि, मन-मस्तिष्क की स्वतंत्रता को बिना किसी दबाव के, बिना नियंत्रण के, व्यक्ति की धर्म-निष्ठा को बढ़ावा दे। जहां प्राणी मात्र के अधिकारों की मान्यता है, जहां विश्व को एक स्वयंसिद्ध सत्ता माना जाता है, जहां संपूर्ण विश्व की भव्यता और सुंदरता की रक्षा के प्रयास हों, जहां व्यक्ति की और विश्वशांति की मनोभूमि तैयार हो, वहां नई आध्यात्मिकता है।

अब हम उसी शिकायत की ओर वापस लौटते हैं। क्या आध्यात्मिकता दुनिया से उठ गई है? क्या समकालीन विचारक, चिंतक को यह बात गंभीरता से लेनी चाहिए? इस सवाल के जवाब में हम पूछना चाहेंगे कि आप किस आध्यात्मिकता की बात कर रहे हैं? मेरे विचार से तो आध्यात्मिकता जीवित है और अच्छी, स्वस्थ है और यही नहीं, वस्तुत: विश्व के समकालीन विचारकों की, विश्व के नौजवानों की, नज़र में वह फलफूल रही है। समृद्ध हो रही है। वे जो शिकायत करते हैं - चर्चों में, मस्जिदों में, मंदिरों में भक्तों की कम उपस्थिति की, उन्हें समझ लेना चाहिए कि अब मंदिरों, मस्जिदों, चर्चों में आध्यात्मिकता नहीं

रहती। नई आध्यात्मिकता के पुरोहित, ग़रीब - बेघर लोगों की सेवा में व्यस्त हैं, वनों-अरण्यों में पर्यावरण की रक्षा में जुटे हैं, शांति-आंदोलक (Peast Activist) के साथ हमारे भूमंडल की रक्षा के प्रयासों में लगे हैं और उनके साथ व्यस्त हैं, जो प्राणीमात्र के जीवित रहने के अधिकारों की लड़ाई में अपनी जान लगा रहे हैं।

21 वीं सदी की संत पीढ़ी है- वे साध्वियां जो कोलकत्ता की सड़कों पर मरणासन्न पड़े बीमारों की देखभाल, सेवा कर रही हैं, गुजरात के भूकंप-पीड़ित बेघर, अनाथ-दुखियों की सेवा कर रही हैं। डॉक्टर्स विदाउट बॉर्डरस् की तरह विश्व में कहीं भी संकटग्रस्त लोगों को हर विपत्ति में राहत पहुंचाने, सहायता-सेवा करने में व्यस्त हैं। चीन के टिआनमन चौक में जिन सैकड़ों युवाओं ने अपने प्राण दिए, जिन स्वयंसेवकों ने ब्राज़ील के गली-कूचों के बच्चों की रक्षा में अपना जीवन दांव पर लगा दिया, जिन्होंने अश्रुगैस और बंदूक की प्लास्टिक की गोलियों की मार खाई ताकि हज़ारों निष्कासित और नागरिकता के अधिकार से वंचित लोग भ्रष्ट राजनीतिज्ञों और लालची बहुराष्ट्रीय उद्योगपतियों द्वारा फैलाए जा रहे विनाश से बच सकें-वो समर्पित जीवन न्योछावर करने वाले आंदोलक अभिनव आध्यात्मिकता के श्रेष्ठ पुरोहित हैं। हम उनकी कार्यशैली पसंद करें, न करें मगर उनकी आध्यात्मिकता ओजस्वी, स्वस्थ और जीवित है। 21वीं सदी के विचारक आध्यात्मिकता की मूल जड़ों की ओर केवल लौटे ही नहीं हैं बल्कि उसके दायरे को विस्तृत कर, समस्त प्राणियों को हमारे पर्यावरण को, हमारी पृथ्वी को भी उसमें समाविष्ट कर रहे हैं। क्राइस्ट, महावीर, मुहम्मद ने गरीब-दु:खी लोगों के लिए बहुत गहराई से सोचा था, सहानुभूतिपूर्वक कार्य किया था। अभिनव अध्यात्म मानता है कि इन दिव्य गुरुओं में सिर्फ निष्ठा रखना या व्यक्तिगत मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न करना, ये अब पर्याप्त नहीं हैं। धर्म का सेवान्मुख होना अब आवश्यक है।

कई प्रमुख धर्मों ने नई आध्यात्मिकता को स्वीकारना देना शुरू भी कर दिया है। ईश्वर, सृष्टि रचना, पाप-पुण्य अवतार, पुरस्कार, दंड आदि से संबंधित सिद्धांत अब नज़र अंदाज़ किए जा रहे हैं। अब वे मनुष्यता के प्रति चिंतित हैं और मनुष्यता पर अधिक ज़ोर दे रहे हैं। उदाहरणार्थ- उन्नीसवीं सदी के अंत और बीसवीं सदी के आरंभ में ईसाईयों ने और कुछ हद तक इस्लाम के अनुयायियों ने मानव सेवा के कार्यक्रम शुरू किए है, जैसे कि अस्पतालों, जेलों में, चर्च की ओर से मानवीय सेवाएं, वैवाहिक, पारिवारिक-मार्गदर्शन, नशे के आदी लोगों, बीमारों का इलाज और पुनर्वास, यौन पीड़ितों को परामर्श, सार्वभौमिकता और सर्व धर्म संवाद के क्षेत्र में कार्य शुरू किया है। हालांकि 1980 में पादरी-स्थापीत 'कर्मचारी शांति आंदोलन' (Worker Priest Movement) और उदारवादी धर्मविज्ञान आंदोलन का पोप जॉन पॉल द्वितीय द्वारा और वेटिकन के ज्ञानी व्यक्तियों द्वारा निषेध किया गया था। वह निषेध शायद राजनीतिक कारणों से किया गया हो।

जैन आध्यात्मिकता

जैन धर्म, अपने आरंभ से लेकर महावीर द्वारा ई.पू. 600 में पुनर्जीवित किए जाने के बाद भी सर्व समाविष्ठ अध्यात्मवाद की ही हिमायत करता रहा है। इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य की संभावनाओं का, क्षमताओं का विकास जैन धर्म का मुख्य उद्देश्य रहा है, लेकिन इसके अलावा प्राणी मात्र की- फिर वे चाहे जिस रूप में हों- कल्याण और सुख की भावना भी जैन धर्म में उतनी ही महत्त्वपूर्ण रही है। अन्य धर्मों की तरह जैन धर्म की भी अपनी आचरण-संहिता है, मगर जैन धर्म ने कभी आचरण को, व्यवहार को कठोर कानून का रूप नहीं दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जैन आचार्यों को कभी इस बात की ज़रूरत महसूस नहीं हुई कि आचरण के पालन के लिए ज़बर्दस्ती या बलप्रयोग (जैसे के शाप देना, धर्मच्यूत कर देना) करने की नौबत आए। भगवान महावीर की आचरण-संहिता अब भी जैन आध्यात्मिकता की परिभाषा है। वैसे जैन धर्म निश्चित ही नैतिक मूल्यों की शिक्षा देता है, मगर वह व्यक्ति को नैतिक आचरण की काफ़ी स्वतंत्रता भी देता है। वह न तो व्यक्ति की धर्म पालन के अभाव में निंदा करता है और न ही किसी प्रकार की धमकी देता है या भयभीत करता है जैसा कि अन्य धर्मों में आचरण लागू करने के लिए किया जाता है। व्रत लेना और बिना बाहरी दबाव के उनका पालन करना, यह है जैन आध्यात्मिकता। मनुष्य की आत्मा को मुक्त होने के लिए, परम आनंद प्राप्त करने के लिए सक्षम बनाना जैन आध्यात्मिकता है। जैन धर्म के आधारभूत तीन सिद्धांतों की सूक्ष्म समीक्षा के साथ अहिंसा, अनेकांतवाद, अपरिग्रह के अनुसार स्वेच्छा से, अपने विवेक से आचरण करना जैन आध्यात्मिकता है।

जैन अध्यात्मवाद में समुचित मेल है-अनुभव पर आधारित सम्यक् दर्शन द्वारा विश्व का यथार्थ ज्ञान कार्य-कारण पर आधारित कर्म सिद्धान्त, आत्मपरक आध्यात्मिकता की वह आचारसंहिता जो जीवन में आमूल परिवर्तन लाती है, वह जीवनशैली जिसमें पर्यावरण का संरक्षण है, जिसमें विभिन्न मत-मतान्तरों के लिए समादर है, जिससे व्यक्ति शांति एवं विश्व शांति को बढ़ावा मिलता है।

व्यवहार की दृष्टि से जैनों का 'अकारत्रय' समाज स्वास्थ्य का सर्वोच्च मापदण्ड है। एक-दूसरे के साथ, अतिरेकी विकल्पों के साथ, किस तरह सामंजस्य हो सकता है इसके निर्णय के लिए 'अकारत्रय' उपयुक्त मापदंड है। ये वही तीन सिद्धांत हैं जिन्होंने भगवान महावीर के विश्वशांति के आंदोलन का प्रसार किया। 'अकारत्रय' का पालन पूरी तरह व्यक्ति के विवेक पर छोड़ दिया गया है। स्वानुभव पर आधारित सम्यक् दर्शन के द्वारा विश्व का यथार्थ ज्ञान, कार्य-कारण सिद्धांत पर आधारित कर्म-सिद्धांत, आत्मपरक आध्यात्मिकता, समस्त जीवों के प्रति समादर की भावना, और पर्यावरण की रक्षा करने वाली जीवनशैली, दूसरों के विचारों का और सिद्धांतों का आदर, व्यक्ति एवं विश्वशांति की अस्मिता बढ़ाने वाली वैचारिक दृष्टि, जैन आध्यात्मिकता है। 8500 वर्ष पुराना* जैन दर्शन इस प्रकार आधुनिक मन-मस्तिष्क की सभी आध्यात्मिक मांगों की पूर्ति करता है।

---

* देखें अध्याय 18, 'महावीर से पूर्व जैन धर्म'

जैन परंपरा में 'अहिंसा' का अर्थ केवल सामान्य अर्थ में प्रयुक्त शब्द से भिन्न है। सामान्यत: अहिंसा का अर्थ है हिंसा न करना लेकिन जैन धर्म में इस अर्थ से कहीं बहुत अधिक सुसंस्कृत, अभिजात, बुद्धियुक्त अर्थ का द्योतक शब्द है- अहिंसा। अहिंसा शब्द इस अर्थ में आध्यात्मिक है कि उसका निहितार्थ हमें आत्मा की पवित्रता एवं मुक्ति से जोड़ता है। वैसे सभी जीवों में आत्मा है और जैन दर्शन के अनुसार सभी आत्माएं समान हैं। अपनी विशिष्टताओं में सारे जीव एक समान हैं, इसलिए किसी जीव की हत्या करना या उसे दु:ख देना हानिकारक है, न केवल उन प्राणियों के लिए, जिन्हें हमने मारा या सताया है बल्कि स्वयं हमारे लिए भी जिसने हिंसा की है। वह इस तरह कि हमने हत्या के द्वारा आत्मा की पवित्रता को नष्ट किया, पवित्रता को लांछित किया और ऐसा करके हमने अपनी आत्मा की मुक्ति का अवसर खो दिया है। यदि खोया नहीं है तब भी, उसे कम तो किया ही है। तीर्थंकरों ने अपने प्रवचनों में यही शिक्षा दी है कि केवल प्रत्यक्ष हिंसा से ही नहीं बल्कि वचनों द्वारा या मानसिक रूप से दूसरे का बुरा सोचना भी हत्या ही है। अहिंसा पर जैनों की केंद्रित दृष्टि वस्तुत: आत्मा पर केंद्रित दृष्टि है। इस अर्थ में जैन अहिंसा आध्यात्मिक है। आधुनिक शब्दावली में वह आध्यात्मिकता की परिभाषा करती है- केवल मानव अधिकारों के रूप में नहीं बल्कि समस्त जीवों के, वनस्पति और प्राणीमात्र के अधिकारों की रक्षा, देखभाल और विश्वरक्षा, जैन आध्यात्मिकता के अंतर्भूत है।

अपनी विशिष्टताओं में सारे जीव एक समान हैं, इसलिए किसी जीव की हत्या करना या उसे दु:ख देना हानिकारक है, न केवल उन प्राणियों के लिए, जिन्हें हमने मारा या सताया है बल्कि स्वयं हमारे लिए भी जिसने हिंसा की है। वह इस तरह कि हमने हत्या के द्वारा आत्मा की पवित्रता को नष्ट किया, पवित्रता को लांछित किया और ऐसा करके हमने अपनी आत्मा की मुक्ति का अवसर खो दिया है।

इन दिनों प्रचलित बहुधर्मीय आंदोलन (Multi faith movement) की दृष्टि से अंतर-धर्म-संवाद महत्त्वपूर्ण हो गया है। वह इसलिए कि अंतर-धर्म संवाद में किसी प्रकार के संघर्ष की गुंजाइश नहीं। उसमें अन्य धर्मियों को अपनी धार्मिक निष्ठा व्यक्त करने की केवल स्वतंत्रता ही नहीं, अधिकार भी है। जैनों का अनेकांतवाद अंतर-धर्म-संवाद के लिए एक बहुत उपयुक्त साधन है। सदियों से अनेकांतवाद के सिद्धांत का प्रयोग जैन विद्वानों, विभिन्न आदर्श विचारधाराओं के बीच समन्वय के लिए, शांति के लिए करते आ रहे हैं। कुछ टीकाकार और व्याख्याकारों ने अनेकांतवाद के सिद्धांत की बौद्धिक सहिष्णुता, व्यावहारिक वाक्विन्यास के लिए बहुत प्रशंसा की है। इसी सिद्धांत से संबंधित एक और सिद्धांत है- **स्यात्वाद**। वह भी सुलझी हुई व्यावहारिक उदार वार्तालाप शैली है। जैन स्यात्वाद का प्रारंभ अंतर-धर्म-संवाद के संदर्भ में परस्पर विरोधी चर्चा के रूप में होता है। स्यात्वाद द्वारा दर्शाया जाता है कि वक्ता ने विरोधी पक्ष के सिद्धांत को भलीभांति समझा है, उस पर सूक्ष्म विचार किया है और विरोधी पक्ष का मत भी उसने एक विशेष दृष्टिकोण से स्वीकार किया है। इस प्रकार बिना संघर्ष, विरोधी के विचारों, मतों को स्वीकार करने से विवाद में कटुता - संघर्ष नहीं होता और चर्चा के लिए आगे अवसर बना रहता है। अहिंसा, अनेकांतवाद और स्यात्वाद ये तीन सिद्धांत जैनों के मुख्य सिद्धांत हैं, जो नई आध्यात्मिकता की किसी भी, कैसी भी आलोचना का उत्तर देने में समर्थ एवं सक्षम हैं।

आधुनिक आध्यात्मिकता की धारणा का निरंतर विकास होता रहेगा। मानव अधिकारों को प्राचीन काल से चली आ रही कठोर धर्म सत्ता के चंगुल में से निकलने में चार सौ वर्ष लग गए थे। अब जब विश्व नई सहस्त्राब्दी में प्रवेश कर रहा है तब अंतर-धर्म-संवादों से नई आध्यात्मिकता की परिभाषा के अंतर्गत केवल मानव अधिकार या प्राणी अधिकार, वनस्पति जगत के अधिकार ही नहीं, बल्कि इस अध्याय में उल्लेखित सभी आयाम शामिल करने के स्यात्वाद से सफलता मिलेगी। आज प्राणियों के अधिकार, पर्यावरण की समस्याएं, शांति आदि विश्व में तेज़ी से व्यापक हो रहे आंदोलन, नई उदीयमान आध्यात्मिकता के स्वागत योग्य संकेत हैं।

नई आध्यात्मिकता और समकालीन जैन

जैन धर्म के अहिंसा, अनेकांतवाद और स्यात्वाद आदि सिद्धांतों पर जैनियों का गर्व करना बहुत न्याय-संगत है। वे बड़ी तत्परता से कहेंगे कि नई आध्यात्मिकता उक्त सिद्धांतों का ही समर्थन है। ये वे ही सिद्धांत हैं जो जैन धर्म की आधारशिला हैं। आज जब अन्य धर्म पारंपरिक आध्यात्मिकता के लुप्त होने का रोना रो रहे हैं, आधुनिक चिंतकों की मांग का, उनकी विचारधारा का प्रत्युत्तर देने के लिए संघर्ष कर रहे हैं, तब जैन बुद्धिजीवी अपनी दार्शनिक विरासत को लेकर बहुत आश्वस्त महसूस करते होंगे। वे आत्मसंतोष के साथ कह सकेंगे कि उनका दर्शन सदियों से प्रत्येक जीव, प्राणीमात्र के अधिकारों के लिए, पर्यावरण के लिए, सामाजिक न्याय के लिए, सुख-शांति के लिए, अविचल खड़ा है, परंतु दर्शन कितना ही अच्छा क्यों न हो, उसका प्रभाव कितना पड़ा, इसका निर्णय तो समकालीन जैनों ने बदलती हुई आकांक्षाओं और मांगों को कहां तक पूरा किया, मनुष्य के हित में उसे कहां तक प्रयोग में लाए, इसके मूल्यांकन पर निर्भर करता है।

कुछ जैनों में, चाहे वह साधारण व्यक्ति हो या साधु उनमें एक प्रवृत्ति पाई जाती है। वो है कर्म सिद्धांत की उनकी व्याख्या और साधुओं द्वारा महाव्रत लिए जाने के कारण सामाजिक न्याय के मुद्दों पर उनकी उदासीनता। उनका तर्क है--जैन धर्म के अनुसार, दुनियादारी का परित्याग उनका कर्तव्य है। अपने मोक्ष के लक्ष्य के लिए साधु/साध्वियों ने दुनियादारी, सांसारिक प्रपंच छोड़ दिया है। अत: दुनियादारी से, सांसारिक बातों से उन्हें कोई सरोकार नहीं जैसे युद्ध, ग़रीबी, मानव अधिकार या पर्यावरण का नाश आदि। मानवता की सेवा करना, दूसरों के शारीरिक भौतिक स्वास्थ्य कल्याण की भावना से सेवा करने से दुनिया की चीज़ों में उनकी आसक्ति बढ़ेगी। वो मानते है के आसक्ति, कर्म-बंध के मूल कारणों में से एक कारण है। इसलिए इन सबसे अलग रहना उनके लिए श्रेयस्कर है। इस तरह से कर्म सिद्धांत का तोड़-मरोड़ कर अर्थ लगाना और उदासीनता एवं निष्क्रियता को उचित ठहराना, जैन सिद्धांतों का मज़ाक उड़ाना है। इसके अलावा यह तीर्थंकरों की बहुत अवमानना भी है, जिनकी शिक्षा का पालन करना इनका धर्म है। तीर्थंकरों ने भी तो केवलज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद भी स्वयं को समाज से अलग काट लेने के स्थान पर अपना पूरा जीवन जनता के बीच घूम-घूम कर मानव कल्याण के लिए शिक्षा देने में, मोक्ष मार्ग को समझाने में व्यतीत किया। रही कर्म सिद्धांत की बात। कर्म सिद्धांत तो पाप और पुण्य की धारणा से सामाजिक न्याय को बढ़ावा ही देता है।

इसलिए मुझे उम्मिद है कि पाप कर्म एवं पुण्य कर्म के आधार पर समकालीन जैन अपने सहधर्मियों से उनकी तोड़ी-मरोड़ी व्याख्या के बारे में सवाल तो करें।

मंदिरों में उपासकों की भीड़ में कमी होना तो अब जैन धर्म के लिए भी एक तथ्य बन गया है। जैनों को ही, जो शिकायत करते हैं, इस विषय में अपने आप से पूछना होगा कि क्या उनका सुर नई आध्यात्मिकता के सुर से मिलता है? क्या दोनों समरस हैं? उनका दर्शन बहुत सुंदर है- उसका केंद्रबिंदु आत्मसंयम द्वारा मानव मन का विकास है। नई आध्यात्मिकता को अनुशासन की ज़रूरत है ताकि वह व्यक्ति की मानसिकता में बदलाव ला सके। ऐसा बदलाव जिसमें कट्टरता और भौतिकता के लिए कोई जगह न हो। जैनों की जीवनशैली मन को आत्मानुशासन के लिए प्रशिक्षित करने की दृष्टि से बनाई गई है। अनेकांतवाद और अहिंसा के सिद्धांत, संघर्ष को, मत-वैषम्य को मिटाने के लिए उत्तम साधन हैं। जैन धर्म सम्यक् चिंतन को बढ़ावा देता है और अंधविश्वास, अंधनिष्ठा को नकारता है। उसके कार्य-कारण सिद्धांत का दर्शन समकालीन चिंतनधारा के अनुरूप है। ''संघर्ष नहीं, सहयोग'' जैन परंपरा का मुख्य अंग रहा है। फिर भी ऐसी परंपरा क्या समकालीन विवेक-बुद्धिपूर्ण मानसिकता को प्रेरणा दे सकेगी? जैनों के पास समृद्ध प्रतिभा, सामर्थ्य एवं दायित्त्व भावना है, जिससे कि वे अभिनव आध्यात्मिकता के अग्रदूत बनकर आगे, सबसे आगे रहें।

जैनों का इतना सुंदर तत्त्वज्ञान क्या उन्हें एक शांतिमय और सुखमय समाज निर्माण की प्रेरणा नहीं दे सकेगा? क्या समकालीन जैनों को इस बात का अहसास है कि सामाजिक परिवर्तन के लिए आवश्यक अहिंसा, अनेकांतवाद एवं अपरिग्रह के रूप में उनके पास अपार सामर्थ्य है। इन मुद्दों पर जैन अंतरगत वाद-विवाद करें, इससे वे उनकी अंतर्दृष्टि को विश्व के विचारकों की नज़र में ला सकेंगे और जैन धर्म की खोई हुई अस्मिता पुन: प्राप्त कर सकेंगे। अब हम आगे देखेंगे कि जैन सामाजिक मुद्दों को किस प्रकार हल कर सकते हैं और नई आध्यात्मिकता से संबंधित प्रश्नों को हल करने में उनका क्या योगदान हो सकता है।

14

14. विज्ञान

एक बहस

बहस की शुरुआत इस तरह होती है। एक पार्टी में किसी ने यों ही कहा- 'जैन धर्म सबसे अधिक वैज्ञानिक दर्शन है।'

किसी विरोधक ने कहा- ''बकवास। एक नज़र अपने विश्व के मॉडेल को देखिए, - एक आदमी अपने नितम्बों पर हाथ रखे खड़ा है। - क्या दुनिया ऐसी नज़र आती है? हुंह्।''

''हां'' दूसरे एक समीक्षक महोदय बीच में आ टपके ''और आप लोग दावा करते हैं कि आपके तीर्थंकर केवली थे। उन्हें सर्वज्ञान था। विश्व का मॉडेल कोई इस तरह सोच भी कैसे सकता है?''

और इस तरह बातों-बातों में कभी-कभी गरमागरम बहस छिड़ जाती है। दोनों पक्ष अक्सर असली मुद्दे को छोड़कर बयानबाज़ी करते हैं। हम ज़रा इस विवाद को फिर से देखें। दावा है कि 'जैन धर्म सबसे अधिक वैज्ञानिक दर्शन है।' - इस वाक्य में दो शब्द सबसे महत्त्वपूर्ण हैं- विज्ञान और धर्म। पहले तो हम इन दो शब्दों को समझें।

सहस्रों वर्षों से मानव ने ज्ञान का जो विशाल भंडार सहेजा है वह मूलत: दो शाखाओं के माध्यम से। वे हैं - तर्क और दृष्टि।

विज्ञान : तर्क की शाखा

तर्क की शाखा आधारित है-निरीक्षण, सम्यक् सोच, निगमनात्मक तर्क शास्त्र, दोहराए जा सकने वाले प्रयोगों और प्रामाणिक तथ्यों पर। वैज्ञानिक प्रणाली में सिर्फ श्रद्धा (Vision) का स्थान गौण है क्योंकि श्रद्धा पर आश्रित कल्पना सत्य को व्यक्त कर भी सकती है और नहीं भी। 'वैज्ञानिक सत्य' को उक्त कसौटियों पर खरा उतरना ही होगा। वैज्ञानिक सत्य की तह तक पहुंचने की प्रक्रिया सामान्यत: डेकार्टस की न्यूनीकरण

प्रक्रिया (Discarts Reduction Steps पृष्ठ 79) से गुज़रती है। जिसमें अनुभव, प्रयोग, निरीक्षण और तर्कबद्ध विश्लेषण है। प्रत्येक प्राप्त निष्कर्ष इन तीन चरणों से होकर गुजरता है - ये हैं अनुमान, सिद्धांत और वैज्ञानिक सत्य। प्रत्येक चरण पर उक्त सभी कसौटियों पर उसे खरा उतरना होगा और सत्य के रूप में स्वीकृत हो जाने के बाद भी यदि सत्य की वैधता को चुनौती देने वाली कोई नई बात, कोई नया तथ्य निरीक्षण के दौरान सामने आता है तो वैज्ञानिक समाज तत्काल नए सिद्धांत को स्वीकार कर पहले की खोज का अवमूल्यन कर उसे नकार देता है। विज्ञान किसी भी कथन को अंतिम सत्य के रूप में स्वीकार नहीं करता, भले ही वह किसी स्थापित, प्रतिष्ठित, अधिकारी लेखक द्वारा क्यों न प्रतिपादित किया गया हो। विज्ञान न तो विश्वास को और न ही स्थापित अधिकार को मानता है।

धर्म : श्रद्धा की शाखा

श्रद्धा की शाखा व्यक्तिगत अनुभव, कल्पना, अंतर्ज्ञान-प्राकट्य (Revelation) रहस्यवाद पर आधारित है। परंपरा-प्रिय सभ्यताओं के युग में विश्वास और श्रद्धा ज्ञान के मूल स्रोत रहे हैं। कभी कोई अंतर्दृष्टि का, दैवी प्रेरणा या दैवी-प्रकाशन का या परमात्मा से सीधे संवाद का दावा करता है। तब वह श्रोताओं से उस पर विश्वास करने के लिए कहेगा। फिर अपना दावा मज़बूत करने के लिए या अपना स्वप्न पूरा करने के लिए एक संगठन स्थापित करेगा, बीच-बीच में अपनी अंतर्दृष्टि का प्रभाव डालने के लिए एक-दो चमत्कारों की कहानी गढ़ेगा। तर्क से सिद्ध करने की बजाए वह अपने चमत्कारों की कहानी से जनता को विश्वास दिलाना चाहेगा कि उसे किसी दैवी शक्ति का वरदान प्राप्त है।

अधिकांश धर्मों का आरंभ इसी प्रकार हुआ। यदि ऐसे स्वप्नदर्शी व्यक्ति का संदेश दैवी शक्ति मान लिया जाए तो फिर किसी का उस पर संदेह करना, चुनौती देना, ईश्वर की सत्ता में संदेह करना होगा और उसको ईश्वर की निंदा करने वाला नास्तिक घोषित कर दिया जाएगा। पूर्ण असंदिग्ध-निष्ठा और विश्वास प्राय: हर धर्म की नींव है। उसमें किसी भी संदेह या किसी भी प्रश्न के लिए स्थान नहीं है। धीरे से श्रद्धालु अनुयायियों के लिए एक आचार संहिता बनाई जाती है। फिर आचार संहिता 'नियम' में बदल जाती है और नियमों का कठोरतापूर्वक पालन कराने के लिए दंडविधान तैयार किया जाता है जैसे कि सामाजिक बहिष्कार, शारीरिक दंड, यातनाएं, कोड़े मारना और यहां तक कि मृत्युदंड भी। कई धर्मों का इतिहास संघर्षपूर्ण घटनाओं से भरा है। इतिहास में ये संघर्ष मुक्त चिंतन का आग्रह रखनेवाले शास्त्रज्ञ और उन धर्माधिकारियों के बीच हुए जो अनुयायियों से अंध-निष्ठा तथा पूर्ण विश्वास की मांग करते थे। बहुत से धर्मों का इतिहास ऐसी कितनी ही अधिकार की लड़ाईयों, धार्मिक मुक़दमों से भरा हुआ है। इसमें धर्मसंस्था द्वारा अग्निपरीक्षा, पादरीओं के न्यायाधिकरण, आतंकी आक्रमण और धर्मयुद्ध के बहाने नास्तिकों के खिलाफ बाक़ायदा युद्ध होते रहे।

जैन धर्म और विज्ञान

इसके विपरीत जैन धर्म का उदय और विकास सर्वथा भिन्न रास्ते से हुआ। प्रथम जैन तीर्थंकर रिखवदेव ने

मानव-सुख की खोज शुरू की और शीघ्र ही उन्होंने जाना कि हमारा मन ही स्वयं हमारे सुख-दु:ख का कारण है, न कि कोई बाहरी शक्ति। इस प्रक्रिया में उन्होंने ज़रूर सोचा होगा, मन को (और दु:ख को) किस प्रकार नियंत्रित किया जा सकता है। एक आधुनिक वैज्ञानिक की भांति उन्होंने प्रयोग शुरू किए। वर्षों के प्रयोग, प्रयास के बाद उन्होंने एक तकनीक विकसित की। यह तकनीक थी आत्मनियंत्रण की। आत्मनियंत्रण कठोर अनुशासन, ध्यान-धारणा और तप के अभ्यास से किया जा सकता था। एक आधुनिक वैज्ञानिक की भांति आत्मनियंत्रण के अपने निष्कर्षों को अपने उपदेशों के माध्यम से उन्होंने प्रचारित किया और लोगों से कहा कि वे भी इस नई तकनीक के प्रयोग से व्यक्तिगत आनंद और शांति प्राप्त कर सकते हैं। इस तरह जैन धर्म की, व्यक्ति के सुख-शांति को प्राप्त करने के विज्ञान की, शुरुआत हुई। बहुत वर्षों तक जैन धर्म के अन्य तेईस वैज्ञानिकों ने भी मानव सुख-शांति के हित के लिए इस तकनीक का विकास किया, परिष्कार किया। वे वैज्ञानिक थे- तेईस तीर्थंकर, जिन्होंने कभी कोई चमत्कार का सहारा नहीं लिया, कभी किसी दैवी शक्ति का दावा नहीं किया, न ही अंधनिष्ठा की मांग की। कोई 2600 साल पहले, अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने ज्ञान के भंडार को प्रवचनों के रूप में अपने शिष्यों में प्रसारित किया, शिष्यों ने 'आगम' के रूप में उसे संकलित किया। संगठित किया- वही जैन धर्म शास्त्र हैं- जैन धर्म का आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक साहित्य !

चूंकि तीर्थंकरों की तकनीक, तपसाधना द्वारा व्यक्तिगत प्रयोग की तकनीक थी, इसलिए जो इस तकनीक को आज़माना चाहते थे, वे साधु/साध्वी बने। उनकी जिज्ञासा ने मानव ज्ञान के कई अन्य क्षेत्र उनके सामने उद्घाटित किए। सैकड़ों वर्षों में उन्होंने परस्पर विभिन्न क्षेत्रों में ज्ञान संपत्ति का भंडार एकत्र किया है। उनके विभिन्न ज्ञान क्षेत्र थे- ज्योतिष, जीव विज्ञान, चिकित्सा, मनोविज्ञान, पारिस्थितिकी (Ecology), समाज विज्ञान और यहां तक कि अणु विज्ञान भी। यद्यपि उनकी प्रणाली को गहन जांच-पड़ताल, तर्क और विवेक के कारण वैज्ञानिक कहा गया है, तथापि यह प्रणाली ज्ञान-साधना तथा आध्यात्मिक साधना थी, न कि आज़ की वैज्ञानिक साधना, जो भौतिक सुख-समृद्धि के लिए की जाती है। उन्होंने तर्कपूर्ण मुक्त चिंतन और प्रयोगशीलता को प्रोत्साहन दिया, कभी धर्म की सत्ता के लिए अंधश्रद्धा और निष्ठा को बढ़ावा नहीं दिया। वैज्ञानिक पद्धति का विरोध करने के स्थान पर उन्होंने मुक्त चिंतन की सच्ची वैज्ञानिक भावना से जैन दर्शन का विकास किया। ऐसा जैन दर्शन मुक्त चिंतन, विज्ञान के न्यूनीकरण सिद्धांत (Reductionism technique) के समान है और अन्य धर्मों से अधिक तर्कबद्ध एवं वैज्ञानिक प्रणाली है।

तर्कशास्त्र से जैन साधु इतने ग्रस्त हैं कि उसके कारण जैन साधुओं ने ऐसी अवधारणाएं, कल्पनाएं विकसित की हैं, जिनकी तुलना आज काफ़ी समय बाद विकसित आधुनिक विज्ञान से की जा सकती है। मानना होगा कि विज्ञान के आधुनिक उपकरणों के अभाव में, हो सकता है, उनके कुछ निष्कर्षों में वांछनीय विस्तृत अध्ययन की कमी हो, या फिर आज के वैज्ञानिक मापदण्ड से उनके कुछ निष्कर्ष अचूक न हों, जो भी हो जैन धर्म के 'सबसे अधिक वैज्ञानिक धर्म' होने की परीक्षा इस तथ्य के आधार पर होनी चाहिए कि जैन धर्म के अलावा और किसी धर्म में विज्ञान के सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों को - तर्कबद्ध मुक्त चिंतन और न्यूनीकरण

को - स्वीकारना तो छोड़िए, उनके प्रति सहिष्णुता भी नहीं है। जैन धर्म के वैज्ञानिक धर्म होने की परीक्षा उसके विश्व का मॉडल* अचूक है या नहीं इस आधार पर नहीं करनी चाहिए। आधार होना चाहिए, खुलापन-नई कल्पनाओं के लिए, जो कट्टरता की अपेक्षा कहीं बेहतर है, भले ही वह प्रमाण और वैधता के मापदण्ड पर पूर्ण सफल न हो। वस्तुत: रेन डेकार्टस का 17 वीं सदी का न्यूनीकरण का सिद्धांत (Reductionism technique) आज आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति का मूल आधार माना जाता है, वही सिद्धांत जैन साधुओं द्वारा 'यथार्थ' को समझने में हजारों साल से उपयोग में लाया गया था। भगवान महावीर के समय से, 2600 वर्ष पहले से, जैन साधुओं ने यही सिद्धांत अपनाया है।

कई मामलों में जैन साधु/साध्वी समकालीन मानव ज्ञान की सीमाओं के बहुत क़रीब या कहीं-कहीं तो उससे भी आगे पहुंचे हुए प्रतीत होते हैं। वे आज के वैज्ञानिकों की तरह ज्ञान की सीमाओं को धकेलते प्रतीत होते हैं। उन्होंने अध्यात्म के क्षेत्र में ज्ञानार्जन किया है- उदाहरणार्थ, आत्मा, जीवन परम आनंद, पीड़ा, वेदना, दु:ख आदि। ये क्षेत्र आज भी रूढ़ विज्ञान की सीमा से बाहर हैं। तीर्थंकरों ने विश्व के चेतन, जड़ आदि द्रव्यों की विशेषताएं, गुण और उनके परस्पर संबंधों का स्पष्ट वर्णन किया है।

यह सचमुच आश्चर्य का विषय है कि प्राचीन जैन विज्ञान एवं दर्शन शास्त्र में बहुत कम अंश ऐसे हैं जो 21वीं सदी के सिद्धांतों से असंगत हों। परोक्ष ज्ञान, बोध और विश्व की प्रकृति के विषय में जैन सिद्धांत आधुनिक वैज्ञानिक मापदण्डों से भी काफी अचूक हैं। विश्व आयामों के संबंध की जैनों में अवधारणा की तुलना आइंस्टीन के सिद्धांतों से की जा सकती है। प्राचीन जैन साहित्य के अंतर्गत निम्न विषय हैं [20] :

---

* अमेरिका के NASA के खगोल शास्त्रज्ञ नए संशोधन द्वारा अब कबूल करते हैं कि विज्ञान का प्रचलित मॉडल गलत है। विश्व गोलाकार नही किंतु (जैनों के लोकपुरुष के भांति लंबगोल हो सकता है। (New Scientist, 2004)

20. प्राचीन जैन वैज्ञानिक रचनाओं पर आधारित कुछ पुस्तकें हाल ही में प्रकाशित हुई हैं।
    (1) Padmavathamma, "The Mathematics of Nemichandra Siddhanat Chakravarti", in *Jinamanjari*, Vol. 14, No. 2, pp. 68-76, Brahmi Society Publication, Toronto, 1997
    (2) Hayashi, Takao, "Geometric Formulas in Dhavala of Virasena", in *Jinamanjari*, Vol. 14, No. 2, pp 53-76, Brahmi Society Publication, Toronto, 1966
    (3) Bhattacharya, H.S., *Reals in the Jain Metaphysics*, S.S.K. Trust, Bombay, 1950
    (4) Divyakirti Muni, *Visva Vijnana: Prachin Ane Navin* (Universal Science: Old and New) Ch. 5 of Tattvarthsutra (Gujarati), Sanmarg Prakashan, Ahmedabad, 1994
    (5) Jain, B.C., *Jaina Logic*, University of Madras Press, 1992
    (6) Jain, N.L., *Scientific Contents in Prakrit Canons*, Parsvanath Vidyalaya, Varanasi, 1996
    (7) Jain, N. L., *Biology in Jaina Treatise on Reals*, (translation of *Tattvatika Rajvartika* by Akalanka), P.V. Institue, Varanasi, 1999
    (8) Lal, R.B., *Religion in the Light of Reason and Science*, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1978
    (9) Mehta, Mohan, *Jaina Psychology*,Sohanlal Jaindharma Pracharak Samiti, Amritsar, 1955
    (10) Mardia, K.V, *The Scientific Foundations of Jainism*, Motilal Banarasidas, Delhi, 1990
    (11) Zaveri, J.S., *Microcosmology: Atom in Jain Philosophy and Modern Science*, Jain Viswabharati University, Ladnum, 2nd edition, 1991
    (12) Munishri Nandighoshvijayji, *Scientific Secrets of Jainism- An exploration of the parallels between Modern Physics and Jain Philosophy*, RISSIOS, 2001

● पदार्थ की आणविक रचना, ● प्राथमिक कणों की प्रकृति, ● कारण-कार्य संबंध का सिद्धांत, ● जीवाणुओं का अस्तित्व, ● वनस्पति में भी जीवन है, ● परापृथ्वीय जीवन का अस्तित्व, ● मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य का संबंध, ● ध्यान एवं मन शांति, ● आइन्स्टीन द्वारा सिद्धांत के रूप में प्रतिपादित विश्व की सीमाओं से मिलती-जुलती कल्पना, ● वनस्पति एवं प्राणियों का (जीव शास्त्रीय) वर्गीकरण, ● प्रकृति संरक्षण के लिए पारिस्थितिकीय सिद्धांत, ● मूल तथा अमूलक संख्याओं के गणित का सिद्धांत,

हमारे विचार में उक्त विषय आधुनिक चिंतन हैं। मगर हज़ारों वर्ष पहले जैन इनकी शिक्षा दे चुके हैं। सच तो यह है कि जैन विज्ञान साहित्य आज भी आधुनिक विज्ञान में कई नए अन्वेषणों के लिए प्रेरणा दे सकता है। पारिस्थितिकी (ecology), मनोविज्ञान, गणित और चिकित्सा क्षेत्र के जैन साहित्य के शोध से आजके विज्ञान को बहुत कुछ लाभ हो सकता है। जैनों के अभ्यास जैसे - योग, शाकाहार, ध्यान, उपवास और प्रकृति के लिए आदर, ये ऐसे विषय हैं जिन्हें आधुनिक वैज्ञानिक अब अपना रहे हैं। मगर जैनों की वैज्ञानिक उपलब्धियां, प्रकृति पर विजय पाने और उस पर शासन करने की लालसा से नहीं हुई हैं, जैसी कि आधुनिक विज्ञान की प्रतीत होती है। जैन धर्म में आनंद की खोज का रंगमंच मानव मन है, प्रकृति का शोषण नहीं।

आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रदत्त - अंतरिक्ष में, सागर की अतल गहराईयों में- हो रहे अनुसंधान, दीर्घ जीवन के आश्वासन, भौतिक सुख-सुविधाओं से भरपूर जीवन, बहुत रोमांचकारी और विमुग्ध करने वाला है, लेकिन इसके साथ ही नैतिक पतन, प्रदूषण, अपराध, हिंसा और सत्ता के लिए दूसरों को नष्ट करने की लालसा के कारण विश्व, शोकार्त भी है। दूसरों पर अधिकार जताने और शासन करने के स्थान पर आत्म-अनुशासन पर जैन बल देते हैं। आधुनिक चिंतक विज्ञान का भौतिकवादी पक्ष तो नकारते हैं, मगर इसके साथ ही पाषाण युग की पूर्ण अंधनिष्ठा और पूर्ण समर्पण की ओर भी लौटना नहीं चाहते। उक्त दोनों अतिवादी दृष्टिकोण अस्वीकार कर आज के विचारवंतों की आंखें अध्यात्म और विज्ञान से संपुष्टित दर्शनशास्त्र को या विज्ञान और अध्यात्म से परिपोषित दर्शनशास्त्र को तलाश रही हैं। जैन दर्शनशास्त्र के विकास का इतिहास उसकी यह तलाश पूरी कर सकता है।

जैन धर्म : भविष्य की आशा

एक ऐसे विश्व की कल्पना करें जहां विज्ञान और धर्म कंधे से कंधा मिलाकर शांति, सुख और प्रकृति के साथ पूर्ण सामंजस्य के लिए काम करते हों। ऐसा विश्व जहां प्रत्येक जीव का हम आदर करें, सम्मान करें - वह वास्तव में जैन विश्व ही होगा। वैज्ञानिक विकास तो रुकने से रहा और रुकना भी नहीं चाहिए। मगर हां, उसे सदाचार और नैतिक मूल्यों से संस्कारित करने की आवश्यकता है। धर्म आज भी नैतिक मूल्यों को पुनर्जीवित करने में सक्षम हैं, पर उन्हें विज्ञान के साथ मिलकर काम करना सीखना होगा, बजाए इसके कि विज्ञान को ही सारे संघर्षों, विरोधों के लिए दोषी ठहराया जाए। धर्मों के साथ (जैसे के इस्लाम, ईसाई)

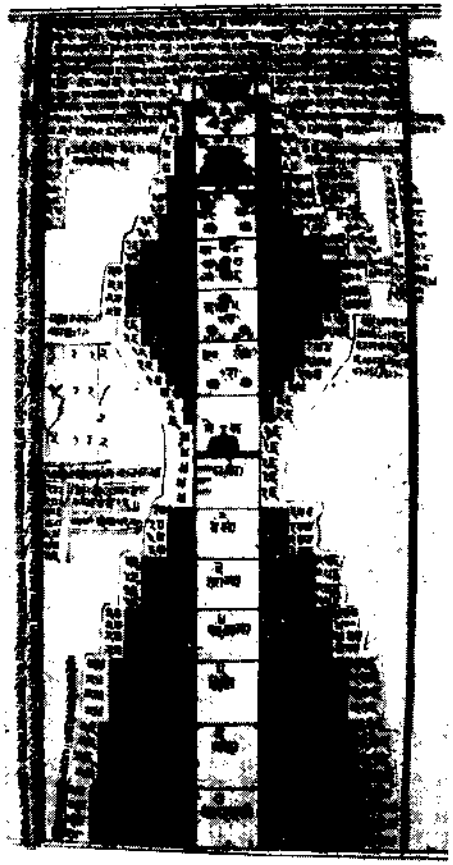

जैन विश्वस्वरूप का ''लोक पुरुष'' मॉडल

संघर्ष करते हुए जिस विज्ञान ने सदियां गुज़ार दीं और विजयी बना वह विज्ञान अब उनके साथ आसानी से समझौता करने के लिए राजी नहीं होगा और हो भी क्यों? आज विज्ञान की विजय पताका फहरा रही है। मगर जैन धर्म का इतिहास विज्ञान और अध्यात्म के बीच समन्वय का इतिहास है, इसलिए वह दोनों को एक कर सकता है। समकालीन विश्व जैन धर्म के तत्त्वों को स्वीकार कर विश्व के दुःखों का समाधान कर सकता है।

जैन धर्म आध्यात्मिक रूप से वैज्ञानिक है या कहें कि वैज्ञानिक रूप से आध्यात्मिक दर्शन शास्त्र है। उसका 'अकारत्रय' का संदेश-अहिंसा अपरिग्रह, अनेकांतवाद - आज की अनिवार्यता है। मगर स्वयं जैनों को आधुनिक विज्ञान के संदर्भ में अपने प्राचीन शास्त्र ग्रंथों को समर्पण भावना से अन्वेषणात्मक अनुसंधान के साथ समझना होगा और नए युग के प्रकाश में उनकी व्याख्या करनी होगी तभी वे विश्व को विश्वास दिला सकते हैं कि जैन दर्शन में ही भविष्य की आशा है।

15

15. विश्व शांति

हम मनुष्यों ने 20 वीं सदी में जितनी लड़ाईयां लड़ीं, जितना अपने साथियों का संहार किया, उतना उससे पहले कभी नहीं किया। 20 वीं सदी दो-दो महायुद्धों की गवाह रही है। युद्ध, कोरिया, वियतनाम, चेचन्या, बोस्निया, आयरलैण्ड, चीन, भारत, पाकिस्तान, इज़राइल, फिलिस्तीन, इराक़, अर्जेंटीना, कोलंबिया, दुनिया के लगभग हर हिस्से में लड़े गए। यह वही सदी है जिसमें मुस्लिम, ज्यू, क्रिश्चियन, ट्यूट्सिस (Tutsis), हुटूस् (Hutus), सर्बस् और क्रोशियाई सबने अपने पड़ोसियों को भी मार डाला। कभी प्रजाति के नाम पर, कभी चमड़ी के रंग के नाम पर। छः लाख ज्यू गैस चेम्बर में झोंक दिए गए और जब दक्षिण एशिया में आज़ादी का संघर्ष हुआ था 3 लाख हिंदू, मुस्लिम, सिख छुरा घोंपकर या टुकड़े-टुकड़े कर मार डाले गए।

20 वीं सदी में तथाकथित सभ्य राष्ट्रों ने लाखों करोड़ डॉलर खर्च कर सैनिक अकादमी का निर्माण किया, जहां शिष्ट युवा मस्तिष्कों को हत्यारी मशीनों के रूप में ढाला गया। अमरिका ने ज़ापान पर अणु बम गिराकर लाखों, करोड़ों आदमी, औरतें, बच्चे एक पल में मार डाले। वह थी सत्ता के भूखे, लालची, उच्छृंखल, घृणा करने वाली ग़ुलामी की सदी। 20 वीं सदी के लिए कोई कैसे गर्व कर सकता है?

हम अब नई सदी में, नई सहस्राब्दी में हैं। क्या नई सदी कुछ अलग होगी? क्या 21 वीं सदी में विश्वशांति के लिए कोई जगह होगी? कुछ संभावना नज़र तो आती है। मगर हमारे इतिहास का बोझ बहुत भारी है। मानव जाति का पूरा इतिहास ही युद्धों से, ग़ुलामी से और अन्य समस्त जीवों के प्रति अकल्पनीय क्रूरता से भरा है। 20 वीं सदी में तो हम एक-दूसरे को अधिक तत्परता से, अधिक कौशल से मार डालने में और सक्षम हो गए हैं। हमने अपनी प्रतिभा का उपयोग नए-नए हथियारों की खोज में, हथियारों का ढेर लगाने में, बड़े पैमाने पर विनाश के लिए किया है। हमारी बुद्धिमानी इस हद तक पहुंच गई है कि हम एक यात्री जेट विमान का उपयोग लोगों को नष्ट करने, उनके घर-संपत्ति को बर्बाद करने के लिए कर रहे हैं। फिर हम 21 वीं सदी को अन्य से अलग कैसे बता सकते हैं।

हर एक समकालीन विचारक के लिए, विश्व शांति का मुद्दा एक अहम मुद्दा है। मगर क्या हम शांति सम्मेलनों से, शांति उत्सवों से, सड़कों पर प्रदर्शनों से, अणु अस्त्रों के विरोध में मोर्चा निकालने से, राजनीतिज्ञों पर दबाव बनाने से शांति ला सकते हैं?

"कभी कोई अच्छा युद्ध नहीं हुआ, और न ही कोई शांति बुरी थी।"
- बेंजामिन फ्रैंकलिन, 11 सितंबर, 1783

क्या संयुक्त राष्ट्रसंघ में दिए गए भाषणों से शांति आएगी? क्या एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र पर प्रतिबंध या बलपूर्वक कब्जा करने से या दबाव डालने से बात बन सकेगी? लग तो यही रहा है कि राष्ट्र इसी तरह युद्ध करते रहेंगे, पहले से भी कहीं अधिक क्रूरतापूर्वक पाशविक ढंग से तब तक, जब तक कि मनुष्य घृणा, लोभ, लालच, वासना और अहंकार के कारण युद्ध के लिए भड़काया जाएगा। फिर हम कैसे विश्व शांति की आशा कर सकते हैं।

युद्ध के मूल कारण

जब से मनुष्य ने सीधे खड़े होकर चलना सीखा है, तबसे हम युद्धों के साथ ही चलते आ रहे हैं। यह कहना अपने आपको ठगना होगा कि युद्ध के कारणों का विश्लेषण करने से युद्ध नहीं होंगे। हम यह भी नहीं कहना चाहते कि जैन धर्म या किसी और धर्म के पास जादू की छड़ी है जिसे घुमाकर सैनिकों को, आतंकवादियों को एकाएक जमाकर बर्फ़ बना दिया जा सके।

"देखो, उसका संहार और जीत जहां थमती है,
वह बनता है निर्जन एकांत, कहता है शांति है।"
- लॉर्ड बायरन, द ब्राइड ऑफ एब्रीडोज़, छंद 20

फिर भी सैनिकों और आतंकवादियों का सूक्ष्म अध्ययन, विश्लेषण करने पर, लड़ाई के कारणों की छानबीन करने पर हमें ज्ञात होगा कि इसका दूरगामी समाधान है, वैसे समाधान पहले भी सफलतापूर्वक आजमाए जा चुके हैं और अगर आज भी व्यापक तरीके से आजमाया जाए तो उम्मीद है कि विश्व बचाया जा सकता है। ऐसी उम्मीद शायद आशावादी लग सकती है, मगर उम्मीद छोड़ बैठना गंभीर लापरवाही होगी।

हर युद्ध का कोई विशेष कारण होता है। पुराने ज़माने में राजा अपने राज्य का विस्तार करने के लिए आसपास, किसी कमज़ोर राज्य को दबोच लेता था। धर्म के अति उत्साही लोग, सेना संगठित कर जबर्दस्ती 'विधर्मियों' का अपने धर्म में धर्मांतरण का अभियान चलाते थे। राजनीति में, संगठन बनाकर विरोधियों को बंदूक की नोंक पर झुकने को विवश किया जाता था। युद्ध के लिए कारण कोई भी हो, युद्ध थमता तब है, जबकि एक पक्ष हार जाता है। इसलिए नहीं कि उसे अब युद्ध के कारण में विश्वास नहीं रहा बल्कि इसलिए कि और लड़ते रहने के लिए उसके पास ताक़त नहीं बची। इस प्रकार अस्थायी शांति तो हो जाती है। हर कोई सोचता है कि फ़ौजी ताक़त के कारण लड़ाई रुक गई है, यानी शांति शक्ति के संतुलन में है, आतंकवाद के संतुलन में है। मगर फिर से अस्त्र-शस्त्र बनाए जाते हैं, तैयारियां होने लगती हैं और शांति

तभी तक रहती है जब तक कि एक पक्ष मान बैठता है कि उसकी फ़ौज दुश्मन की फ़ौज से ज्यादा ताक़तवर हो गई है।

'वे उजाड़ते हैं और कहते हैं शांति है।'

तैतस, ईसवी सन् 55

केवल युद्ध के ही नहीं किंतु तमाम संघर्षों के प्रारंभ होने के तत्कालीन कारण अलग-अलग हो सकते है। मगर मूल कारण एक समान ही होता है। प्रत्येक पक्ष अपना कारण 'न्यायोचित' या 'सुरक्षात्मक' मानता है और शत्रु का कारण 'अन्याय' या 'आक्रमण' मानता है। न्यूयार्क स्थित दो मीनारों पर हमला, जहां तीन हज़ार से भी अधिक निर्दोष लोग मारे गए या फिर भारत की संसद पर हुआ आक्रमण, ऐसे कृत्य आतंकवादी हैं। यह किसी भी समझदार व्यक्ति के मन में गुस्सा और दु:ख ज़रूर पैदा करेगा। लेकिन जवाब में बदला क्या सही होगा? क्या महात्मा गांधी ने, शांति-अहिंसा के इस महान नेता ने, नहीं कहा था- 'आंख के बदले आंख लेने से तो सारा विश्व ही एक दिन अंधा हो जाएगा।' क्या यह किसी ज्ञानी का सूत्रवाक्य था या किसी आदर्शवादी की बेवकूफी?

पशु की जन्मजात स्वाभाविक प्रकृति है क्रोध! परंतु मनुष्य की बुद्धिमानी क्रोध को विवेक में बदलने में है, बजाय इसके कि क्रोध हम पर हावी हो जाए, हम उसको अपने वश में कर लें। क्रोध से पैदा ऊर्जा और आवेश बदले की भावना में परिणत नहीं होना चाहिए, इससे हिंसा और बढ़ेगी। यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि ऐसी घटनाओं से शोक और क्रोध दोनों बढ़ जाते हैं, पर हमें प्रयत्नपूर्वक दोनों को अपने वश में कर उन्हें विवेक और बुद्धिमानी में बदलना चाहिए। ऐसा कहना आसान है। चित्त को स्थिर करना बहुत ही कठिन है लेकिन असंभव भी नहीं है। चित्त की स्थिरता व्यक्ति के और समुदाय के स्तर पर पैदा की जा सकती है। अपने मन को नियंत्रण में रखना, आत्मनियंत्रण के द्वारा भावनाओं पर नियंत्रण रखना बिलकुल संभव है। चित्त पर नियंत्रण करने का प्रशिक्षण दिया जा सकता है। तीर्थंकरों ने सदियों पहले से आत्मनियंत्रण की शिक्षा दी है, चित्त की स्थिरता, आत्मसंयम और आत्मशांति की शिक्षा दी है। अर्थात मन की भावनाओं को कैसे बुद्धिमानी से विवेक में बदला जा सकता है यह जैनों ने सिखाया है, क्योंकि बिना विवेक के, संघर्ष, मनमुटाव बढ़ते ही रहेंगे, तब हम एक-दूसरे को, दुनिया को बर्बाद करते रहेंगे। इसके विपरीत हम विवेक से काम लें तो हम स्थिति को अच्छी तरह समझ सकेंगे। अपने साथियों का, तमाम दुनिया के जीवों का ख़याल रखेंगें, उनका स्नेह-सम्मान रखेंगें। क्या यह संभव है? यदि हां, तो यह कैसे किया जा सकता है?

पहला शांति आंदोलन

लगभग 8000 वर्ष पहले रिखवदेव ने (ऋषभदेव ने) इसी विषय पर चिंतन किया था। मनुष्य की मनुष्य के प्रति क्रूरता देखकर वे विचलित हुए होंगे, विचलित होकर उन्होंने संभव है, विश्व का पहला शांति सम्मेलन

शुरू किया। उन्हें ज्ञात हुआ था कि युद्ध का और कोई कारण जो भी रहा हो, उसकी वास्तविक शुरुआत मन में ही होती है। विश्व शांति के लिए शुरुआत भी मन से ही करनी होगी। मानव मन में संगीन परिवर्तन लाना, मानव-व्यवहार में परिवर्तन लाना बहुत कठिन है। रिखवदेव जानते थे कि यह परिश्रम का काम है, मगर असंभव नहीं है। मनुष्य चित्त को प्रशिक्षण देना अनुशासित करना, संभव है। केवल मनुष्य के लिए ही नहीं सभी प्राणियों के लिए, जीव मात्र के लिए करुणा, आदर, प्रेम भावना उत्पन्न की जा सकती है। आत्मानुशासन से, शांतिपूर्ण सभ्य संस्कृति का विकास किया जा सकता है। इस विश्वास को लेकर राजा रिखव ने 'तपस्वी जीवन' को अंगीकार किया, शेष जीवन आत्मसंयम, अनुशासन और शांति की खोज में व्यतीत किया। वर्षों एकांतवास में रहने के बाद, साधना से मन पर संपूर्ण विजय प्राप्त करके, उन्होंने शांति आंदोलन की शुरुआत की। लोगों को शिक्षा दी कि आंतरिक शांति और विश्व में शांति, ध्यानयोग, गहन चिंतन-मनन और अनुशासन से प्राप्त की जा सकती है।

रिखवदेव का शांति आंदोलन आज जैन धर्म के रूप में जीवित है। आज दुनिया में लगभग एक करोड़ जैन हैं। अपने पूरे इतिहास में उनका केंद्र बिंदु आत्मानुशासन रहा है। आत्म-अनुशासन के लिए उनकी आचरण संहिता निर्धारित है (1) अन्य जीवों को कम से कम दुख देना और प्राणी मात्र के लिए प्रेम रखना (अहिंसा), (2) अपनी ज़रूरतें कम से कम रखना, कम से कम संग्रह करना और उसका ममत्वभाव कम करना (अपरिग्रह), (3) कम से कम संघर्ष, विवाद करना। दूसरों के विचार को, दृष्टिकोण को उसी एक 'सत्य' का ही भिन्न पहलू समझकर स्वीकार करना (अनेकांतवाद)। इस प्रकार भगवान रिखव ने अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकांतवाद सिद्धांतों का 'अकारत्रय' विकसित किया। भगवान महावीर ने उनको परिष्कृत किया (छठीं सदी ई.पू.) और इन्हीं सिद्धांतों ने उथल-पुथल भरे भारत के इतिहास में धर्म के नाम पर एक भी युद्ध के बिना जैन धर्म को जीवित रखा।

वर्तमान युग में शांति

जैन इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि आंतरिक शांति से ही विश्व में शांति संभव है। उनका 'अकारत्रय' का सिद्धांत आंतरिक शांति के लिए कठोर परीक्षण से गुज़रा परिष्कृत, संशोधित सूत्र है। एक छोटे-से शांतिपूर्ण समाज की रचना में वे सफल हुए हैं मगर यह सूत्र क्या विश्व शांति के लिए लागू किया जा सकता है? अगर यह सूत्र लागू हो सकता तो पृथ्वी के अस्तित्व की रक्षा की आशा भी इससे की जा सकती है। जैनों का यह कर्तव्य बनता है कि पुरे विश्वास से इस संभावना को खोजें, आवश्यक हो तो संशोधन करें और पूरे विश्व का ध्यान इस ओर आकृष्ट करें। विश्व शांति की समस्या बहुत गंभीर, जटिल समस्या है। एक छोटा-सा जैन समुदाय अकेला इसका भार वहन नहीं कर सकता। जैन स्वयं अपनी शक्ति का, अपनी कमज़ोरी का लेखा-जोखा लें और रिखवदेव ने विश्व शांति

केवल मनुष्य के लिए ही नहीं, जीव मात्र के लिए, सभी प्राणियों के लिए करुणा, समादर भावना मनुष्य के मन में उत्पन्न की जा सकती है। आत्म-अनुशासन से शांति-संस्कृति का विकास किया जा सकता है।

की जो पहल की थी, उसका अन्य धर्म निष्ठाओं के साथ ताल-मेल बैठाएं। जैनों के लिए प्रेरणा के रूप में एक बहुत अच्छा उदाहरण सामने है, जो महात्मा गांधी ने प्रस्तुत किया था। उन्होंने रिखवदेव के अहिंसा सिद्धांत और प्रेम को राजनैतिक संघर्ष में प्रयोग किया, जिसका समूचे विश्व पर बहुत असर हुआ, विश्वव्यापी प्रभाव पड़ा। मार्टिन लूथर किंग और नेलसन मण्डेला जैसे नेताओं ने महात्मा गांधी से प्रेरणा लेकर उन जैन सिद्धांतों का अपने आंदोलन में सफलतापूर्वक प्रयोग किया।

प्राय: एक प्रश्न कई बार पूछा जाता है- क्या सन् 1930 और 1940 का गांधीजी का सत्याग्रह और शांति का तरीका 21वीं सदी की हिंसक दुनिया में सफल होगा? उत्तर स्वयं प्रश्न में ही निहित है। यदि तब सफल था तो अब क्यों नहीं होगा? पिछले पचास सालों में क्या बदला है? वास्तविक बदलाव तो हमारी संस्कृति में, हमारी मानसिकता में, मन की गढ़न में आया है और हिंसा का भी अब स्विकार हुआ है। पिछले पचास सालों में हमारा मन इस तरह बन गया है कि हम अधिक हिंसा अपनाने लगे हैं। इस बदलाव के लिए हमें कारण ढूंढ़ने की ज़रूरत नहीं है। फिर भी सच्चाई तो यही है कि समाज के मन की गढ़न में संगीन बदलाव आया है और मानव-मन में शांति की दिशा में भी ऐसा संगीन बदलाव संभव है। यह तथ्य जानते हुए हम कल्पना करें कि आज की हमारी दुनिया कितनी सुंदर होती अगर पचास साल पहले हम युद्ध की मशीनें बनाने, अणु-अस्त्रों के ढेर लगाने और सैनिक अकादमी बनाने के स्थान पर शांति का चयन करते। इसी तरह हम यह भी कल्पना करें कि आज से पचास साल बाद हमारी सभ्यता का क्या हाल होगा अगर हम इसी तरह हिंसा से अपना सर्वनाश करने में लगे रहे? रिखवदेव और गांधीजी की तकनीक की सफलता पर प्रश्नचिह्न लगाकर हम अपनी सामूहिक कमज़ोरी, हमारी कमज़ोर मानसिकता को ही ज़ाहिर करते हैं। कम से कम अब तो हम सच्ची शांति के मिशन में जुट जाएं, शांति-स्थापना को अपने जीवन का लक्ष्य बना लें!

आम जनता की मनोवृत्ति के परिवर्तन पर शांति आश्रित है। इसलिए हमारा केंद्रबिंदु, अंतर धर्म-निष्ठा की मैत्री पर, सामंजस्य पर होना चाहिए। यह बहुत प्रभावकारी होगा। धर्म का मनुष्य के मन पर, उसकी भावनाओं पर बहुत अधिक प्रभाव होता है। धर्म के पास अपने अनुयायियों को युद्ध और शांति की मूलभूत शक्ति को समझाने के साधन हैं। क्या धार्मिक नेताओं को समझाया जा सकता है कि वे अपने अनुयायी समाज तक शांति का संदेश पहुंचाएं? जैनों के पास अनेकांतवाद के रूप में बहुत सशक्त साधन है जिसकी सहायता से वे शांति और धैर्य से अंतरनिष्ठा संवाद (Inter faith dialogue) में शामिल हो सकते हैं। इस तरह के संवादों के माध्यम से जैन अन्य धर्मियों को अपनी प्राथमिकताओं की समीक्षा के लिए तैयार कर सकते हैं। क्या जैन 'अकारत्रय' की प्रभावशीलता को प्रत्यक्ष कर सकेंगे और अन्य धर्मों के साथ मिलकर शांति के लिए आंदोलन को गतिमान बना सकेंगे ?

आज के विचारक के लिए विश्व शांति एक गंभीर मुद्दा है। वह अभिनव आध्यात्मिकता का कारक-घटक भी है। विशेष रूप से युवा वर्ग बेचैन है, शांति की खोज में है। आणविक अस्त्रों का भंडार, धार्मिक कट्टरता, आतंकवाद ने उन्हें हताश कर दिया है। उनकी हताशा सड़कों पर विरोध प्रदर्शन, शांति मोर्चा आदि में स्पष्ट

है। पूरे विश्व में कई शांति संगठन बने हैं। यहां तक कि संयुक्त राष्ट्रसंघ ने भी अगस्त 2000 में 'न्यू मिलेनियम मल्टी फ़ेथ पीस कान्फ्रेन्स' के नाम से न्यूयार्क मुख्यालय में संगठन बनाया है। विरोध प्रदर्शन, रैली, मोर्चा और सम्मेलनों आदि ने हथियारों की होड़ पर, आणविक शस्त्र भंडार पर, विश्व का ध्यान तो आकृष्ट किया है मगर दुनिया के उद्दंड रवैये पर उसका बहुत कम असर हुआ है।

सर्व धर्म शांति अकादमी

सम्मेलन, तरह-तरह की रैलियों, विरोधी प्रदर्शनों आदि से समस्याओं पर विश्व का ध्यान आकृष्ट करने में थोड़ी बहुत सफलता मिलती है, मगर शांति स्थापित करने के लिए यह सब बहुत कम है। चूंकि सर्वसामान्य जनता की मनोवृत्ति में शांति के लिए मूलभूत परिवर्तन अनिवार्य है, हमारा प्रयास लोगों के मन को प्रशिक्षित करने, शांति के प्रयासों के लिए तैयार करने पर केन्द्रित होना चाहिए।

सरकार हज़ारों करोड़ डॉलर प्रतिवर्ष फौजी अकादमी पर खर्च करती है ताकि वह हमारे नौजवानों के मन को हत्या करने वाली मशीन के रूप में ढाल सके। हम शांति चाहनेवाले भी टैक्स के ज़रिये उन्हें वेतन देते हैं। जब तक यह अभिवृत्ति पूरी तरह बदल नहीं जाती, हम विश्व शांति की आशा कैसे कर सकते हैं?

यदि जैन स्वयं आश्वस्त हो जाएं कि उनका 'अकारत्रय' का सिद्धांत विश्व शांति के लिए लागू किया जा सकता है तो जैन संगठनों के लिए पहला क़दम होगा, विश्व में 'सर्व धर्म शांति अकादमी' संस्थाएं स्थापित करने की संभावनाओं को तलाशें। इस विषय में वे अपनी अनाक्रामक संवाद शैली, वाक् कौशल (अनेकांतवाद) का भरपूर उपयोग कर सकते हैं। शांति आंदोलन में सहयोगी अपने साथियों को समझा सकते हैं कि अहिंसा की शुरुआत प्रशिक्षण से, आत्मानुशासन से और स्वयं अपने मन-चित्त से होती है। रिखवदेव का संदेश था, युद्ध तो एक लक्षण है, लालच, लालसा, अहंकार और घमण्ड उसके कारण हैं। हमारा दुर्बल मन इन सभी हिंसक भावनाओं का स्रोत है, यह समझाना बहुत कठिन नहीं है। अन्य धर्मों में भी समान धारणाएं हैं। शांति का सच्चा अन्वेषक बड़ी प्रसन्नता से विभिन्न धारणाओं का मेल कर सकेगा, मन को शिक्षित करने के महत्त्व को समझेगा और ये भी समझेगा की भावनाओं को हम नियंत्रित करें, बजाए इसके कि भावनाएं हम पर नियंत्रण करें।

क्या हम मानव मन को सशक्त और स्वनियंत्रण के लिए प्रशिक्षित कर सकते हैं? मेरा विश्वास है, कर सकते हैं। यदि हमारी सैनिक अकादमी नौजवानों के मन को प्रशिक्षित कर उन्हें हत्यारी मशीनों के रूप में ढालती हैं, जान लेने और जान देने वाले योद्धा बनाती है तो क्या शांति अकादमी उन्हें संभ्रान्त शांति राजदूत नहीं बना सकेगी? शांति अकादमी को हर धर्म निष्ठा में शांति के लिए पहल कर लोगों को प्रशिक्षित करना चाहिए कि वे 'अकारत्रय' और बहुधर्म निष्ठा का मेल कर सच्चे शांतिदूत बनें। जैन समाज की पूरे विश्व में एक विशिष्ट क्षमता प्रसिद्ध है। वह है मंदिरों के निर्माण के लिए चंदा उगाहना और सुंदर मंदिर बनाना। मेरी उनसे प्रार्थना

है कि 21 वीं सदी में रिखवदेव और भगवान महावीर को सम्मान देने के लिए शांति अकादमी को वे अपने मंदिर मानें। समकालीन जैन समाज में अक्सर आलोचना के विषय होते हैं कि उनमें लंबे समय की योजनाओं के संगठन, कौशल, दूरदृष्टि, लगन, उत्साह, और इच्छाशक्ति की कमी होती है। यदि ऐसा है तो वे पहल करके, आगे बढ़कर विश्व के मुख्य धार्मिक संगठनों के साथ मैत्री-सौहार्द्र स्थापित कर अपनी कमज़ोरी को, अपने पर लगे आरोपों को निराधार साबित कर सकते हैं।

जैन वैसे भी सैंकड़ों सदियों से रिखवदेव का मार्ग अनुकरण करते हैं। स्वदेश, भारत की सीमाओं में रहकर अब तक उन्होंने यह मार्ग उन्हीं तक ही सीमित रखा है। अब वे उत्तर अमेरिका और यूरोप में बस गए हैं- ये दोनों खंड सैनिक-शक्ति में प्रबल हैं। वहां व्यक्तिगत और विश्व स्तर पर शांति स्थापना के लिए जैनों का कौशल सर्वाधिक आवश्यक है। यहां, ज़रूरत है कि श्रावक शांति कार्यकर्ता बने। यहां के मुख्य धारा के धर्मों के साथ सहयोग करते हुए रिखवदेव के उत्तराधिकारी उनके मार्ग को 'बहुधर्म शांति अकादमी' के रूप में सत्य को साकार बना सकते हैं और इस प्रकार विश्व के अस्तित्व बनाए रखने की आशा भी जगा सकते हैं।*

विश्व शांति के महान ध्येयकार्य को पूरा करने के लिए सहयोगी कार्यकर्ता बनकर क्या वे 'शांति की संस्कृति' के निर्माण में योगदान नहीं देंगे?

---

* गुजरात सरकार ने 26 दिसंबर 2001 में अहमदाबाद में एक जैन सम्मेलन में अहिंसा विश्वविद्यालय की स्थापना का इरादा ज़ाहिर किया था। आशा है स्थानीय जैन समाज शांति के लिए विश्वविद्यालय स्थापना की पहल करेगा और बढ़ावा देगा। गुजरात गांधी की भूमि और अधिकांश जैनों का घर है।

"भगवान महावीर सम्मान देने के लिए- "शांति अकादमी" को जैनों अपना शांति मंदिर माने।"

16

16. अहिंसा और शाकाहार

एक मिली-जुली विरासत

लगभग प्रत्येक मुख्य धर्म अहिंसा की शिक्षा देता है। ज्यू और क्रिश्चियनस् के अनुसार ईश्वर ने 'Ten Commandments' (दस आदेश) में कहा है - 'तुम हत्या नहीं करोगे' कितना सीधा और सरल आदेश है अपने अनुयायी को। इस्लाम में पवित्र कुरान की शिक्षा है - प्यार, भाईचारा, रहमदिली। कुरान के एक सौ चौदह अध्यायों में हर अध्याय की शुरुआत इस वाक्य से होती है- "अल्लाह के नाम पर ! जो कृपालु है, रहीम है। उसकी शिक्षा है, अल्ला उनसे प्यार नहीं करेगा जो ख़ुदा के बंदों से प्यार नहीं करते।"

इतिहास में एक समय ऐसा भी आया, जब उच्च वर्गीय हिंदुओं ने ईश्वर के नाम पर पशु बलि छोड़ दी। वे अहिंसात्मक कर्मकाण्ड करने लगे। हिंदू साधु-संतों ने यज्ञों में पशु हत्या की निंदा की। भगवान महावीर के समकालीन भगवान बुद्ध ने आदेश दिया कि करने योग्य कर्मों के अंतर्गत इन बातों से बचना है- चोरी, कामुकता और हत्या।

'अहिंसा और जीव मात्र के लिए दया वास्तव में स्वयं अपने प्रति ही दया है, क्योंकि ऐसा करके हम स्वयं पापों से और उसके परिणामस्वरूप होने वाले दुःखों से अपनी रक्षा करते हैं और स्वयं अपना कल्याण करते हैं।' - महावीर समन सुन्तम् 151

कई धर्म, पूर्ण शाकाहार अथवा आंशिक शाकाहार का समर्थन करते हैं। उदा. ईसाईयों के लिए इशु ख्रिस्त के पुनरूत्थान महोत्सव (Lent) के चालीस दिन के व्रत में मांसाहार निषिद्ध है। कुछ हिंदू विशुद्ध शाकाहारी हैं, जैसे कि कुछ बौद्ध भिक्षु भी। हिंदू, बौद्ध और जैन धर्म शास्त्रों ने बारंबार बल दिया है कि सच्चरित्र व्यक्ति आत्म संयम करते हैं। मांसाहार नहीं करते, न ही शराब पीते हैं।

'बुद्ध का शिष्य स्वयं हत्या नहीं करेगा, दूसरों को हत्या के लिए प्रेरित नहीं करेगा। यथोचित रूप में हत्या नहीं करेगा, हत्या की प्रशंसा नहीं करेगा, हत्या देखकर प्रसन्न नहीं होगा, जादू-टोना अथवा यंत्रों से हत्या के लिए प्रेरित नहीं करेगा। हत्या के लिए कारण, स्थिति, पद्धति या कर्म उत्पन्न नहीं करेगा और जानबूझकर किसी जीवित प्राणी को नहीं मारेगा।'

-बौद्ध धर्म की प्रथम मुख्य शपथ

सभी शास्त्र हत्या की निंदा करने में एकमत हैं। हर धर्म की नैतिक आचरणसंहिता का मूल आधार शास्त्र है। यदि सभी शास्त्रों में हिंसा के लिए एक समान संदेश है तो फिर अहिंसा की नैतिक संहिता भी सभी धर्मों में समान होनी चाहिए। फिर अंतर क्यों? जैन अहिंसा के लिए इतने प्रतिबद्ध हैं कि वे एक सूक्ष्म कीट की या सांप जैसे ख़तरनाक जीव की, या जंगली जानवरों की भी हत्या नहीं करते। जबकि हम देखते हैं कि कुछ धर्मों में केवल आहार के लिए ही नहीं, किंतु शिकार, मनोरंजन के लिए भी जीव हत्या की स्वीकृति है। क्यों कुछ धर्मों के अनुसार युद्ध करना, स्त्री, पुरुष, बच्चों को मारना, वह भी धर्म के नाम पर, ईश्वर के नाम पर, सही है ?

शास्त्र की व्याख्या

मेरे विचार में अंतर इसलिए है कि शास्त्रवचन और उसका अर्थ लगाने में बहुत अंतर है। भले ही हम मानें कि शास्त्र पूर्ण निर्दोष ब्रह्म, ईश्वर, ईश्वर के माने गए पुत्र या पैगंबर के वचन हैं या सर्वज्ञान संपन्न (केवली) के हैं, किंतु सच्चाई तो यह है कि उन्हें ग्रहण करने वाले अपूर्ण, अधूरे, अधकचरे हैं और उससे भी अधिक अधकचरे लोग उसकी व्याख्या करते हैं, उसका अर्थ लगाते हैं। शास्त्रों के लिखनेवाले तो मूल उपदेशकार जैसे पुर्ण ज्ञानी नहीं होते और अपनी ग्राह्य शक्ति के अनुसार लिखते हैं। उदा. 'टेन कमाण्डमेण्ट्स' के तीन पाठांतर हैं। (1) बाइबल, (2) एक्सोडस, (3) ड्यूटेरोनोमी और तीनों में ही इनकी भिन्न व्याख्याएं हैं - ज्यू, प्रोटेस्टंट, ऑर्थोडाक्स, रोमन कैथोलिक, ल्यूथेरन लोगों द्वारा की गई अहिंसा की व्याख्याएं फिलहाल उपलब्ध हैं। इन्हीं व्याख्याओं से प्रत्येक धर्म की विश्व-दृष्टि और नैतिक आचरण का निरूपण होता है। अहिंसा और शाकाहार ये व्याख्याएं विभिन्न धर्मों के लिए विभिन्न अर्थ रखती हैं, क्योंकि जो लोग इन शब्दों का अर्थ लगाते हैं, वे या तो अहिंसा का सच्चा अर्थ समझते ही नहीं या फिर वे अपने शास्त्र का गलत अर्थ लगाते हैं और विश्व संबंधी धारणा को भी स्पष्ट, सही समझ नहीं पाते। यहां कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं।

मैं ईसाई पादरियों की और ननस् (ईसा की सेविकाएं) की बहुत इज्जत करता हूं। वे निःस्वार्थ भाव से, दया और करुणा से दुनिया के लाखों ग़रीब, बीमार, मरणासन्न बेघरबार लोगों की सेवा करते हैं। कुछ लोग तो पशुओं के लिए आश्रय स्थल चलाते हैं या संत फ्रान्सिस ऑफ असीसी के पदचिह्नों पर चलकर पशु रक्षण का सेवाकार्य करते हैं। प्रायः प्रत्येक धर्म में इनके समान दयालु लोग होते हैं। लेकिन इन्हीं जैसे दयालु लोग जब खाने की मेज़ पर भोजन करने बैठते हैं तो उनकी दयालुता कहां चली जाती है ? उनके सामने भोजन में मुर्गे, बकरे का मांस या बछड़े का गोश्त, बोटी आदि परोसा जाता है तो वे खाने का आनंद ले ही कैसे सकते हैं ? शिकार के नाम पर जीव हत्या कैसे कर सकते हैं ? ईश्वर के नाम पर धर्मयुद्ध, पशुबलि, जेहाद जैसी घटनाओं को न्यायोचित कैसे मान लेते हैं ? कैसे उनकी अंतरात्मा मरने और मारने की गवाही देती है?

मैंने अपने निकट के मित्र से इस विषय में बात की। हालांकि बात करने का वह मौक़ा उचित न था। मेरे मित्र कैथोलिक पादरी हैं। हम दोनों एक भोजनालय में खाना खा रहे थे। मैंने ठंडे फलों का सलाद मंगवाया था और मित्र ने बछड़े के मांस का व्यंजन !

''डॉ. परीख, इतने अच्छे रेस्टारंट में आकर मांसाहार के बदले आप केवल फलाहार कर रहे हैं ? आप नहीं जानते आप क्या छोड़ रहे हैं ?'' पादरी महोदय ने खुद बात चलाई।

'छोड़ रहा हूं ? जो चीज़ मैंने कभी खाई ही नहीं उसे छोड़ना कैसा ?'

''बस यही तो बात है। आप जानते तक नहीं कि गरमागरम भुनी हुई मांस की बोटी खाने का क्या मज़ा है? बिलकुल जन्नत का लुत्फ़ समझिए।''

''फादर, मैं तो एक साधारण आदमी हूं। आत्म-नियंत्रण और समस्त जीवों के प्रति दया रखने वाले जैन परंपरा के घर में पलकर बड़ा हुआ हूं। लेकिन मेरी तो समझ से बाहर की बात है कि कैसे आप जैसा भगवान का अनुयायी - एक प्रीस्ट, एक बेक़सूर बछड़े के कोमल मांस का मज़ा ले सकता है? क्या वह बछड़ा आपके ही समान आपके ईश्वर की सुंदर रचना नहीं है?''

'जी हां, डॉ. परीख ! बछड़ा ईश्वर की रचना तो है ही। उसी तरह जैसे बाकी और दुनिया है। लेकिन ईश्वर ने यह सारा हमारी खुशियों के लिए बनाया है। हमारे आहार के लिए बनाया है।'

'तुम हत्या नहीं करोगे' - इस शास्त्र वचन का एक पादरी द्वारा ऐसा अर्थ मुझे तो जंचा नहीं।

फिर कई सालों तक मेरी पादरी साहब से मुलाक़ात नहीं हुई। एक दिन संयोग से जीव समर्थक रैली में उनसे भेंट हुई। मिलते ही उन्होंने बताया कि वे अब पूरी तरह शाकाहारी हैं, जानवरों से प्राप्त दूध, दही, चीज़, मक्खन आदि सभी चीज़ें भी उन्होंने छोड़ दी हैं। उनकी मुस्कुराहट में से एक सभ्य, सुसंस्कृत व्यक्ति का चेहरा झांक रहा था।

बुद्ध का संदेश है ''किसी जीवित प्राणी को नही मारना।'' कई बौद्ध धर्मीय, बुद्ध के इस संदेश का अर्थ इस प्रकार लगाते हैं ''बौद्ध मांस आहार कर सकते हैं, पर वे स्वयं जीव हत्या नहीं करेंगे।'' उन्होंने तो यहां तक कहा कि बुद्ध स्वयं मांसाहारी थे। भगवान जब नेपाल में धातु का काम करने वाले कारीगर, अपने अनुयायी, छुंदा के घर भोजन कर रहे थे तब भोजन में सुअर का सूखा मांस था'' (शास्त्र में बुद्ध की मृत्यु का वर्णन है। उसमें भगवान द्वारा अंतिम दिन सेवन किए गए पदार्थ के लिए प्रयुक्त शब्द का पाली भाषा में अर्थ एक तरह का खाने लायक मशरूम (वनस्पति/सब्जी) है, जो नेपाल में और उत्तर-भारत में खाई जाती है। और दूसरा अर्थ है सुअर का गोश्त) इस्लाम में और जुडाइज़म में भी ईश्वर की आज्ञा है- 'तुम मारोगे नहीं' और ईश्वर के समस्त जीवों से स्नेह रखोगे, इसका अर्थ लगाया गया है कि ''प्राणियों को सुखी जीवन और पीड़ा रहित मृत्यु देना यही केवल हमारा उनके प्रति दायित्व है।'' शायद ऐसे ही अर्थ के कारण 'कोशर' और हलाल शब्दों के प्रयोग होने लगे।

पशुओं के प्रति क्रूरता

क्रूरता की क्या परिभाषा हो सकती है? हमें अक्सर बताया जाता है कि वधशालाओं में प्राणियों की हत्या दयालुता से की जाती है। हत्याकांड में दयालुता कैसी? अपने लाभ के लिए एक मनुष्य को बिना वेदना पीड़ा के मारना क्या मनुष्यता, दयालुता कही जा सकेगी? फिर क्यों दो दिन के मुर्गी के लाखों बच्चे, मांस पीसने की मशीन में हररोज़ पीसे जाते हैं? या केकड़े को जीवित ही खौलते गरम पानी में उबालकर पकाया जाता है? क्यों कुछ ही दिनों के कोमल, दूध पीते बछड़े को उसकी मां से छीनकर भुनी बोटियों की शक्ल में किसी के खाने की टेबल पर परोसा जाता है। क्या यह सब क्रूरता नहीं है? क्रूरता-अक्रूरता के बीच कहां सीमा-रेखा खींची जाएगी? केवल संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रतिदिनि निम्न पशु वधशाला में काटे जाते हैं।

ढोर	-	1,30,000
बछड़े	-	7,000
सुअर	-	3,60,000
मुर्गी	-	2,40,0000

(स्रोत - जे.पेडर झेन : "यह केवल मांस के लिए नहीं, लोशन के लिए है।"
न्यूयार्क टाइम्स, मई 12, 1996 से लेकर, द बुक ऑफ कम्पेशन में उद्धृत,
संपादन पी.सी. चित्रभानु और पी.के. शाह, अक्टूबर, 2000)

अगर हम उक्त मात्रा में वधशालाओं से प्राप्त सामग्री खाते हैं तो क्या हम हत्या की ज़िम्मेदारी से यह कहकर बच सकते हैं कि "हमने खुद तो मारा नहीं है, किसी दूसरे ने हत्या की है, फिर हम दोषी कैसे ?"

जैन संहिता

इस विषय में जैन अपने शास्त्र का क्या अर्थ निकालते हैं? जैन शास्त्रों में हिंसा और उसके परिणाम बहुत ही स्पष्ट रूप से लिखे हैं। जैसा कि नीचे दिए गए जैन शास्त्र ग्रंथों के उदाहरणों से ज्ञात होता है -

"हिंसा पाप कर्म करने वाले अपराधी के लिए सदैव हानिकारक, पीड़ादायक होती है, क्योंकि वह उसकी आत्मा के मोक्ष मार्ग का उल्लंघन करती है।" आयरंग सुत्तम् 1.1.2

"समस्त प्राणी जीना चाहते हैं, न कि मरना।" इसलिए सयाने को सलाह दी जाती है कि वह किसी जीवित प्राणी को पीड़ा देने के भयानक पाप से दूर रहे। दस वैकालिक सूत्र 6/11

"यह जानते हुए कि तमाम बुराईयां और दुःख जीवित प्राणियों को पीड़ा पहुंचाने से होता है और आगे यह जानते हुए कि इससे अंतहीन शत्रुता और घृणा ही बढ़ती है, हिंसा हमारे बहुत बड़े भय का मूल कारण है। एक बुद्धिमान मनुष्य जो जाग्रत है, यथार्थ को जानता है, उसे ऐसे पाप कर्मों से दूर रहना चाहिए।" सुयगदंग सुत्तम् 1.10.21

"केवल हत्या का इरादा भी कर्मबंध का कारण है। तुम चाहे मारो या न मारो, वास्तविक आशय ही तो कर्मबंध की प्रकृति है।" समन सुत्तम् 154

जैसा कि हम इन उद्धरणों से जान सकते हैं, जैन नीति शास्त्र संहिता उनके यथार्थ की अवधारणा पर आधारित है। इस अवधारणा के अनुसार विश्व में असंख्य जीव (आत्मा) हैं, अपने विशुद्ध रूप में प्रत्येक आत्मा सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान और अनंत है। मगर सांसारिक जीवात्माएं अशुद्ध हैं और जन्म-मृत्यु के दु:खदायी चक्र से निरंतर गुज़रती हैं - अपने कर्मों के कारण। कर्म इस जन्म के और विगत जन्मों के भी। प्रत्येक संसारी आत्मा का अंतिम लक्ष्य है जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति (मोक्ष) पाना। हमारी ही तरह वनस्पति और पशु प्राणी भी जीवन के सांसारिक दु:खों से गुज़रते हैं। उनका बाह्य स्वरूप जो भी हो उनकी आत्मा भी मूलत: हमारी आत्मा के समान होती है और मोक्ष पाने में समर्थ होती है। अत: वे सब आदर के पात्र हैं। हम मानव प्राणी, प्राणी जगत का ही एक अंश हैं। हममें सोचने-समझने की, तर्क करने, चयन करने, हिसाब लगाने और योजना बनाने की, अपने कार्यक्रम का निर्धारण करने की विशेष क्षमता है जो शेष प्राणी जगत नहीं कर सकता, किंतु हम मानव विवेक और बुद्धि के द्वारा सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् आचरण से मोक्ष की ओर प्रगति कर सकते हैं। अहिंसा हमारा सम्यक् आचरण है। हमारा यह नैतिक दायित्व है कि हम समस्त जीवों की रक्षा करें क्योंकि हम मानव ही सम्यक् चयन कर सकते हैं, उपयुक्त चुनाव कर सकते हैं।

हमारा यह नैतिक दायित्व है कि हम समस्त जीवों की रक्षा करें क्योंकि हम मानव ही सम्यक् चयन कर सकते हैं, उपयुक्त चुनाव कर सकते हैं।

हिंसा क्या है?

हिंसा से जैनों का क्या तात्पर्य है? यह महत्त्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य बात है कि जैनों ने हिंसा को दो मूल भागों में विभाजित किया है, एक प्रत्यक्ष रूप से वध करना, घायल करना (द्रव्य हिंसा) और दूसरी हिंसा, वध करने या घायल करने की इच्छा, इरादा! यह होगी भाव हिंसा। हमारे दैनिक जीवन में हम जाने-अनजाने दूसरों को दु:ख पहुंचाते हैं। हमारा इरादा हो न हो मगर शारीरिक रूप से मौखिक रूप से हम दूसरों को दु:ख देते हैं। ऐसी हिंसा पहचानना आसान है, क्योंकि हमारी हिंसा का शिकार व्यक्ति घायल होकर हिंसा का परिणाम तत्काल भोगता है। मौखिक रूप से भी हम अगर किसी का अपमान करते हैं, उसका मन दुखाते हैं तो यह भी हिंसा है, ऐसी हिंसा समझने में आसान है और यह द्रव्य हिंसा का उदाहरण है। मगर उसे क्या कहें जब कोई व्यक्ति अपने मन में घृणा को छुपाए, आपसे आपके मुंह के सामने मीठी-मीठी बातें कर रहा है, आपकी तारीफ़ कर रहा है? वह प्रत्यक्ष रूप से या शब्दों से आपका मन दु:खी नहीं कर रहा, आपको कोई चोट नहीं पहुंचा रहा, बल्कि उसकी बातों से आपको ठंडक-सी महसूस हो रही है, लेकिन मन में वह आपके लिए दुर्भावना रखता है, बुरा सोचता है, क्या वह व्यक्ति हिंसा कर रहा है? दूसरे का बुरा सोचना भी जैनों के लिए हिंसा है। यह भाव हिंसा है। जैनों के लिए यह अधिक गंभीर स्वरूप की है और संभवत: अधिक हानिकारक प्रकार की हिंसा है।

शारीरिक हिंसा निश्चित रूप से सदा मानसिक हिंसा के साथ ही होगी, क्योंकि उसमें हमारे मन के बुरे विचार और दुर्भावनाएं जुड़ी होती हैं।

वैसे शारीरिक हिंसा में निश्चित रूप से मानसिक हिंसा, हमारे बुरे विचार और दुर्भावना के रूप में होती ही है।

कोई भी कृत्य मानसिक, शाब्दिक या शारीरिक रूप से जानबूझकर या अनजाने में दूसरे जीव को दु:ख देता है या हमारे अपने चुने गए मोक्ष पथ को बाधित करता है, वह कृत्य हिंसा है।

हमारी मानसिक हिंसा दूसरे को दु:खी करे न करे मगर उसमें स्थित भावना और वासना (क्रोध-द्वेष आदि कषाय) कार्मिक कणों को आकृष्ट कर हमारी आत्मा के लिए कर्मबंध तो होगी। यदि हमारा उद्देश्य अंतत: सब कर्मों से आत्मा को मुक्त करना है तो हमारी मानसिक हिंसा उसमें उल्टे बाधक होगी, आत्मा को और दृढ़ता से कर्म बंध में जकड़ेगी और इस तरह हमारा अहित होगा। कोई भी कृत्य मानसिक, शाब्दिक या शारीरिक रूप से जानबूझकर या अनजाने में दूसरे जीव को दु:ख देता है या हमारे अपने चुने गए मोक्ष पथ को बाधित करता है, वह कृत्य हिंसा है। इसी अर्थ में हिंसा को व्यवहार हिंसा (Pragmatic violence) और निश्चय हिंसा (Definitive violence) के रूप में भी वर्गीकृत किया गया है। मोटे तौर पर द्रव्य हिंसा को व्यावहारिक माना गया है जबकि 'भाव हिंसा' अधिक गंभीर वास्तविक स्वरूप की हिंसा है। जैसा कि हम शास्त्र में निम्नलिखित उदाहरणों से जान सकते हैं-

"एक छोटा कीड़ा किसी सावधान, सजग साधु के पैरों तले कुचले जाने से मर सकता है लेकिन चूंकि व्यवहार की दृष्टि से इसमें न कोई आसक्ति है न घृणा (वासना) तो किसी प्रकार का कर्मबंध नहीं होगा। जैसे वस्तु पर प्रत्यक्ष अधिकार न हो लेकिन; लिए आसक्ति (मोह) को, शास्त्र में परिग्रह माना गया है। इसी तरह वासना कर्मबंध का कारण है न कि कार्य, यदि वह वासना से रहित है।" **प्रवचनसार 3.16**

"वासना के साथ प्राण लेना हिंसा है।" **- तत्त्वार्थ सूत्र 7.8 या 7.13**

किसी कृत्य से प्राणी मरे न मरे पर वह निश्चित रूप से हिंसा है यदि हत्यारे ने बिना संयम के कार्य किया है। यदि आत्मसंयमी व्यक्ति सावधानी से कार्य कर रहा है तो केवल चोट लगने से कर्मबंध नहीं होगा। **- प्रवचन सार 3.17**

स्मरणीय शब्द

भाव हिंसा - हिंसा का उद्देश्य
द्रव्य हिंसा - शारीरिक/मौखिक हिंसा
एकेन्द्रिय - एक इंद्रिय वाले जीव
निश्चय हिंसा - प्रणपूर्वक हिंसा
पंचेन्द्रिय - पांच इन्द्रियों वाले जीव
स्थूल हिंसा - एक से अधिक इंद्रिय वाले जीवों की हिंसा
सूक्ष्म हिंसा - एकेन्द्रिय जीव की हिंसा

जैन मानते हैं कि हमारे जीने की प्रक्रिया में कुछ जीवों का नाश होता ही है। हवा जिसमें हम सांस लेते हैं, पानी जो हम पीते हैं, आहार जो हम करते हैं, ज़मीन जिस पर हम चलते हैं, हर चीज़ अत्यंत सूक्ष्म कीटाणुओं से भरी है। ऐसे में हिंसा अपरिहार्य है। जो मुख्य बात ध्यान देने की है, वह है कि प्राणियों के पास विवेक नहीं है, मनुष्य के पास है। हम विवेक के साथ सम्यक् चयन कर सकते हैं। चयन शक्ति है तो क्या हम, पूरी तरह न सही, कम से कम मात्रा में जीवों की प्राण-हानि, पीड़ा देना, ऐसा नहीं कर सकते? सांस हमें लेनी ही है तो हम हवा में व्याप्त सूक्ष्म कीटाणुओं को सांस द्वारा लेना कम कर सकते हैं। इसी कारण कुछ जैन साधु/साध्वियां नाक पर पट्टी पहनते हैं। पानी हमें पीना ही है, क्या हम पानी के सूक्ष्म जंतुओं की संख्या कम नहीं कर सकते? इसलिए जैन लोग पानी छानकर-उबालकर

पीते हैं।* यह है उनका सम्यक् चयन।

यह जानते हुए, जीने की प्रक्रिया में हिंसा (द्रव्य हिंसा) अनिवार्य है, जैन हिंसा का वर्गीकरण कुछ और तरीक़े से भी करते हैं। उदाहरणार्थ- प्राचीन जैन दार्शनिक वैज्ञानिकों ने जीव कितने इंद्रियवाला है इस जीव-विज्ञान के आधार पर जीवों का वर्गीकरण किया है। मनुष्य और कुछ अन्य जीव पंचेन्द्रिय हैं (पांच इंद्रिय युक्त) कुछ चार इंद्रिय वाले, कुछ तीन इंद्रिय वाले आदि। जीवों में निम्नतम स्थिति में एक इंद्रिय वाले जीव - एकेंद्रिय जीव मिलते हैं। एकेंद्रिय जीवों को छोड़कर, अन्य जीवों के प्रति भाव हिंसा अथवा सोद्देश्य हिंसा का भी कठोर निषेध है। किंतु एकेन्द्रिय (निम्नतम श्रेणी के कीट) कीटों के प्रति द्रव्य हिंसा की, यदि अपरिहार्य है, तो अनुमति है, बशर्ते कि हिंसा आवश्यक सावधानी के साथ की जाए। इस प्रकार एकेंद्रिय जीवों की हिंसा सूक्ष्म हिंसा कहलाती है और एक से अधिक इंद्रिय वाले जीवों की हत्या स्थूल हिंसा, बड़ी हिंसा मानी जाती है।

शाकाहार

भोजन करना अपने आप में हिंसा कर्म है। मगर हिंसा को हम, कम तो कर ही सकते हैं। हमने शाकाहार चुना है, इसका अर्थ ही हमने प्राणी हिंसा न करना चुना है। हमने अन्य प्राणियों के प्रति सहानुभूति स्वीकार की है, जो हमारी ही तरह भय, खुशी, सुख, साहस, प्रेम, तिरस्कार और क्रोध का अनुभव करते हैं। हमारी ही तरह पशु भी अपनी पांच इंद्रियों द्वारा सीखते हैं, ज्ञान प्राप्त करते हैं। यदि हम ऐसे उच्च विकसित मगर असहाय मूक जानवरों के प्रति दयालु नहीं हो सकते तो क्या हम किसी कम भाग्यशाली मनुष्य के प्रति सचमुच संवेदनशील या दयाभाव रख सकते हैं?

इस संबंध में जैनों से अक्सर शाक-भाजी खाने का भी औचित्य पूछा जाता है। क्या इसमें हत्या नहीं है? यहां भी वही विवेकपूर्ण चयन की बात है। मार्ग दर्शक सिद्धांत है- कम से कम तकलीफ़ देना और जान न लेना। अब हमें यह सावधानीपूर्वक चुनना होगा कि किस प्रकार की शाक-सब्जी लें? उदाहरणार्थ- जैन जड़वाली सब्ज़ी नहीं लेते। इसलिए कि जड़ से उखाड़ने पर प्राय: पौधा ही नष्ट हो जाता है। भारत में बरसात का मौसम ऐसा है जब वनस्पतियां एकाएक भरपूर मात्रा में हरी-भरी हो जाती हैं। बाकी पूरे साल सूखे के बाद वर्षाकाल उनके लिए अनुकूल मौसम होता है। प्रत्येक वनस्पति अपना जीवन-चक्र बरसात के चार महीनों में पूर्ण करती है। इस मौसम में वनस्पति की विकास अवधि में उसे नष्ट करना एक बच्चे की बढ़ती हुई ज़िंदगी को नष्ट करना है। वनस्पति की फलने-फूलने की इस अवधि में जैन हरी सब्जी नहीं खाते। फल भी पकने के बाद ही तोड़ना पसंद करते हैं। कच्चे तोड़कर, पेड़ को नुक़सान पहुंचाना अनुचित मानते हैं। फलों के बीज चूंकि पेड़ों को उपजाते हैं इसलिए वे कई बीजों वाले फल की अपेक्षा एक ही बीज वाला फल खाना पसंद करेंगे, जिससे बीज का एक ही पेड़-संभाव्य पेड़ नष्ट हो, अनेक नहीं। बहुत बीजों वाले फल से एक से अधिक संभाव्य पेड़ नष्ट होंगे।

* जल से उत्पन्न सूक्ष्म जीवाणु उबलते पानी में मर जाते हैं। यह द्रव्य हिंसा है किंतु सूक्ष्म जीवाणुओं की कम हिंसा के भाव से की गई है अन्यथा उबालकर न मारने पर पानी में जीवाणुओं की संख्या कई गुना अधिक होगी।

अंत में अहिंसा के विषय में एक वार्तालाप, जो माना जाता है कि महावीर स्वामी और उनके एक शिष्य के बीच हुआ था, यहां दिया जा रहा है। आशा है पाठकों को रुचिकर लगेगा।

शिष्य - भगवन्, मैं समझ गया कि प्राणी को कम से कम कष्ट देना और न मारना अहिंसा का सर्वोच्च सिद्धांत है। इसलिए मुझे प्राणी का वध नहीं करना चाहिए, उसका मांस नहीं खाना चाहिए। मगर किसी शिकारी द्वारा ताज़ा मारा पशु मिले तो क्या मैं ऐसे पशु के मांस का एक अंश ले सकता हूं?
महावीर- तुम कभी वध नहीं करोगे या अन्य के द्वारा मारे जाने के लिए कारण नहीं बनोगे।
शिष्य - यदि किसी दुर्घटना से मारा गया हो तो?
महावीर - वह भी निषिद्ध आहार है, मेरे प्रिय श्रावक।
शिष्य - ऐसा क्यों भगवन्? मैंने तो न स्वयं मारा है, न घायल किया। वह तो दुर्घटना से मरा?
महावीर - नहीं प्रिय श्रावक, इसलिए कि मनुष्य की लालसा उसे अपने भले के लिए बहुत चतुर बनाती है। इसीलिए लालसा के कारण वह कई दुर्घटनाएं उत्पन्न करेगा।

जैनों की हिंसा विषयक शास्त्रीय परिभाषा, हिंसा का उपवर्गीकरण, उनकी यह शिक्षा कि 'हत्या का उद्देश्य (भाव हिंसा) भी उतनी ही गंभीर स्वरूप की हिंसा है,' इसका जैन समाज की मानसिकता पर गहरा असर है। इसी असर के कारण जैन समाज एक शांतिप्रिय समाज बना है। इसी कारण वे अहिंसा के सिद्धांत का हज़ारों वर्षों से पालन करते आ रहे हैं। यह भी कहा जा सकता है कि जैनों के अहिंसा के सिद्धांत के प्रभाव से भारत में हिंदू धर्म के अंतर्गत एक विचारशील समाज ने भी पशुबलि प्रथा का त्याग कर शाकाहार अपनाया है।

अगले अध्याय में हम देखेंगे कि जैनों का अहिंसा सिद्धांत, अनेकांतवाद और अपरिग्रह सिद्धांत तीनों मिलकर सामाजिक एवं आर्थिक न्याय को बढ़ावा देने, पर्यावरण की ज़िम्मेदारी निभाने के लिए किस प्रकार प्रयुक्त हो सकते हैं।

17

17. एक कार्य योजना

आधुनिक विचारक नई आध्यात्मिकता को जीवन शैली के रूप में परिभाषित करते हैं, जिसमें पृथ्वी के भविष्य की, हमारे पर्यावरण की, मानव अधिकारों की और समस्त प्राणी मात्र की स्वतंत्रता और कल्याण की सुरक्षा का ध्यान है। उनके लिए सम्यक् चरित्र का अर्थ है सभ्यता के सामने मौजूद समस्याओं का समाधान और उसके लिए सक्रियता। आज हमारी अधिकांश समस्याएं क्रोध, अहंकार, धोखाधड़ी, और लालच जैसी वासनाओं से उत्पन्न हैं। हमारा सुझाव है कि जैन मार्ग में इन समस्याओं को हल करने की व्यवस्था है। अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकांतवाद के द्वारा उक्त समस्याएं सुलझाई जा सकती हैं। हमने अहिंसा पर विशेष रूप से अपना ध्यान केन्द्रित किया है (अध्याय 16) क्योंकि हमारी अधिकांश समस्याएं प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हमारी हिंसात्मक मनोवृत्ति से जुड़ी हैं। आइए, हिंसा के मूल-वास्तविक कारणों को जानें।

1. अहिंसा अभिनव आध्यात्मिकता का मुख्य तत्त्व है। विश्व के कई स्थानों में कई समकालीन विचारकों ने, सामाजिक कार्यकर्ताओं ने अहिंसा का काम हाथ में लिया है। यूरोप में, उत्तर अमेरिका और विश्व के कई अन्य भागों में शाकाहार को बढ़ावा देने वाले पशु कल्याण संगठन (भारत में पिंजरापोल या पशुओं का आश्रम जैसे) काफ़ी संख्या में बढ़ रहे हैं।

2. हिंसा से अहिंसा की ओर जाने के लिए चाहे व्यक्ति स्तर पर हो या समाज स्तर पर आत्मसंयम और सोच में, विचार पद्धति में, भारी परिवर्तन लाने की ज़रूरत है। इसलिए जैन अध्यात्म में आत्मानुशासन सदियों पुराना प्रभावकारी साधन है जिसने समस्त समाज को अहिंसात्मक जीवन शैली अपनाने के लिए प्रेरित किया है।

3. समाज में प्रभावात्मक ढंग से बदलाव लाने के लिए व्यक्तियों के बीच या समुदायों के बीच संवाद स्थापित होना बहुत ज़रूरी है। सामाजिक परिवर्तन के लिए सभी एकमत हों यह ज़रूरी नहीं है। अलग राय रखने वाले समूह भी मिलकर इस दिशा में काम कर सकते हैं। बशर्ते हमारी बातचीत आक्रामक न हो, हमारा रवैया अड़ियल न हो, बगैर डराए, धमकाए हम अहिंसात्मक ढंग से अपना पक्ष रखें। अंतर-समुदायों के बीच संवाद करने में जैन स्वभावतः काफ़ी कुशल होते हैं क्योंकि उन्हें अपनी सांस्कृतिक विरासत में ही अनेकांतवाद (दूसरे के पक्ष को सहानुभूति पूर्वक समझना) अहिंसा और आत्मसंयम की शिक्षा प्राप्त हुई है।

चुनौती

अभी वर्षों पहले निकट गतकाल में महात्मा गांधी और मार्टिन लूथर किंग जैसे नेताओं ने समाज में अन्याय और दुष्ट प्रवृत्तियों का विरोध करने के लिए अहिंसा को साधन बनाया था, उसमें उन्हें आशातीत सफलता भी मिली, उसी के ज़रिए वे सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तन भी ला सके। महात्मा गांधी को जैन गुरु श्रीमद् राजचंद्र मेहता से प्रेरणा और मार्गदर्शन मिला। जोसफ़ 'ओ' कॉनेल [21] ने संकेत किया है कि "जब हम जैनों को और अन्य लोगों को गांधी पर जैन प्रभाव की बात करते हुए सुनते हैं, तो हम यह पूछ सकते हैं कि क्या जैनों पर भी गांधी का प्रभाव पड़ा? विशेष रूप से क्या ऐसा कोई प्रमाण है कि गांधी जी के प्रभाव से, मानव जीवन के अर्थपूर्ण सार्वजनिक मुद्दों को हल करना, या बुराई का अहिंसात्मक विरोध करना (केवल विचारगत निष्क्रिय अहिंसा नहीं), जैनों के नैतिक आचरण का अंग बना है।" उत्तर के रूप में ओ' कॉनेल महोदय की जैन समाज को चुनौती थी। "आप व्यक्तिगत रूप से और सामुदायिक रूप से, ख़तरे में पड़ी अपनी पृथ्वी के अहिंसात्मक नेतृत्व के लिए वैश्विक संवाद में युगांतरकारी नेता बनें।" [22]

ख़तरे में पड़ी पृथ्वी की चुनौती तो आज सभी धर्मों के सामने है। उपर्युक्त समस्याओं के संदर्भ में जैन समाज के लिए यह एक प्रासंगिक चुनौती है। सीधे सरल शब्दों में आज विश्व, जैन समुदाय के चार वर्गों से-साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका से एक सीधा सवाल कर रहा है कि "अहिंसा, अनेकांतवाद और अपरिग्रह का आपको चिरकाल से अनुभव है। उस अनुभव के द्वारा आप विश्व की समस्याओं का समाधान करने का कुछ तो प्रयत्न कर ही सकते हैं। जब आप इन सिद्धांतों की बात करते हैं तब क्या आप व्यक्तिगत रूप से या सामुदायिक रूप से अपने सिद्धांतों को साधन बनाकर विश्व की सहायता करने के लिए तैयार हैं? या फिर आप केवल हवा में ही बात कर रहे हैं, कृति के रूप में उसका कोई अर्थ हो न हो।

दुनिया चतु:स्तरीय जैन समाज से एक सीधा सवाल कर रही है। जैनों का दीर्घकालिक अहिंसा, अनेकांतवाद, अपरिग्रह का अनुभव विश्व की कुछ समस्याओं को हल कर सकता है? आप जब इन सिद्धांतों की बात करते हैं, तब क्या आप सिद्धांतों की मदद से सहायता करने के लिए तैयार हैं या फिर आपकी बातें सिर्फ़ हवा में ही हैं या उनका कोई मतलब भी है?

भाव हिंसा के संबंध में (मानसिक हिंसा) जैनों की धारणा समकालीन समस्याओं की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। विश्वशांति, सांप्रदायिक हिंसा, पशुओं के प्रति क्रूरता, पर्यावरण नाश आदि समस्याओं का सीधे हमारे मन से हमारी मानसिकता से संबंध है। हमारी करुणा और हिंसा के प्रति संवेदनशीलता से संबंध है। इन समस्याओं का समाधान करने के लिए एक पूरी पीढ़ी की मानसिकता को बदलना होगा। हमें जन साधारण

(21) जोसफ़ ओ' कॉनेल जैन कॉन्ट्रीब्यूशन टू करंट एथिकल डिस्कोर्स इन जैन डॉक्ट्रिन एण्ड प्रैक्टिस : एकेडेमिक परसेप्टिव, टोरांटो, सेंटर फॉर साउथ एशियन स्टडीज़ यूनिवर्सिटी ऑफ टोरांटो, 2000, पृष्ठ 215

(22) जोसफ़ ओ' कॉनेल द्वारा 'जैना' के नवम् बिएनिअल कान्वेशन ऑफ द फेडरेशन ऑफ जैन एसोसिएशन्स् इन नॉर्थ अमेरिका (जैना), जुलाई 1997 के भाषण से।

में यह संवेदनशीलता जगानी होगी कि हिंसा से जो पीड़ा हमें होती है उतनी ही पीड़ा दूसरों को भी होती है। हिंसा कितने गंभीर स्वरूप की है, इसका निर्णय करने में 'भाव हिंसा' या मानसिक भावना ज्यादा महत्त्वपूर्ण मानी गई है। प्रत्यक्ष हिंसा की अपेक्षा भाव हिंसा पर जैनों ने अधिक बल दिया है जिससे जैन समाज ने एक अहिंसक और परानुभूतिपूर्ण जीवन शैली अंगीकार की है। जैनों के समक्ष एक बहुत बड़ा कार्य है- यह तकनीक विश्व की दृष्टि के सामने लाना। यदि उन्हें इसमें सफलता मिलती है तो मानवता की और इस धरती की बहुत बड़ी सेवा होगी और ऐसे पुण्य कर्मों से मोक्ष मार्ग में भी उनकी अच्छी प्रगति होगी।

एक कार्य योजना

ओ' कॉनेल की चुनौती से धारणा बनती है कि जैन या तो सामाजिक मुद्दों को भूल ही गए हैं या फिर सामाजिक मुद्दों में वे कभी उलझे ही नहीं। यह सच नहीं है। जैन शास्त्रों में बार-बार अहिंसा के सकारात्मक पहलू पर विश्व प्रेम के रूप में ज़ोर दिया गया है, जिसमें सामाजिक कार्य के लिए दान देना या दूसरों की सहायता करना शामिल है। उदाहरणार्थ-

"सत्पात्र को, उचित सत्कार्य के लिए दान देने वाला दाता आध्यात्मिक रूप से लाभान्वित होता है।"

- तत्त्वार्थ सूत्र 7.33

"थोड़ा-सा धन दानार्थ अर्जित करें और उसे एक सत्पात्र को (या अच्छे कार्य के लिए) दें, दिया गया यह छोटा-सा दान भी जीव के लिए आध्यात्मिक रूप से बहुत फलदायी होता है, उसी तरह जैसा कि वृक्ष का एक छोटा-सा बीज अच्छी माटी में बोने से कालांतर में सघन शीतल छांह देता है।"

- श्रावकाचार 116

शास्त्रों में चार प्रकार के करुणादान का उल्लेख है, करुणादान केवल मनुष्यों के लिए ही नहीं बल्कि प्राणी मात्र के कल्याण के लिए भी है। करुणादान इस प्रकार हैं - (1) अन्न दान, (2) औषधि दान, (3) आश्रय दान, संकट से, आक्रमण से, भयभीत आदि कराने से और (4) पुस्तक दान अथवा उपयोगी ज्ञान का दान। जैनों को बताया गया है कि प्राणी मात्र को उक्त दान से दानियों की स्वयं की आध्यात्मिक प्रगति में सहायता मिलती है और ये उनके अहिंसा, अपरिग्रह व्रत के अंतर्गत हैं। जैन समाज पर इस संदेश का काफ़ी असर है। जैन समाज मानव कल्याण में तत्पर, परोपकारी, दानशील, समाज है। पूरे भारत में हज़ारों संगमरमर के कलात्मक सुंदर जैन मंदिर इसका प्रमाण हैं। यही नहीं, कई शिक्षा संस्थाएं, धर्मार्थ अस्पताल एवं चिकित्सालय, पशु आश्रय स्थल और पशु-पक्षियों के अस्पताल, पक्षी अभारण्य, यात्री विश्राम स्थल और दीनों के लिए निःशुल्क भोजन, ये सभी जैनों के दान से चल रहे हैं।

जैन निश्चित ही दया, धर्म कार्य के प्रति गंभीर हैं, जैसे भूखे को भोजन, घायल-बीमार पशु-पक्षियों की चिकित्सा, देखभाल, निःशुल्क औषधि वितरण, ज्ञान प्रसारण आदि। मगर इन समस्त दान-धर्म कार्यों के

पीछे भावना या प्रेरणा कितनी सच्ची और नि:स्वार्थ है कहना कठिन है। ठीक उसी तरह जैसे ईसाईयों द्वारा विकासशील देशों में किया जाने वाला सेवा कार्य धर्म परिवर्तन कार्य माना जाता है। वैसे ही 'दान' आदि के पीछे जैनों का उद्देश्य ''दूसरों का दु:ख दूर करना नहीं बल्कि अपनी ही आत्मा की मुक्ति का साधन'' है, ऐसा प्राय: जैनेतर लोगों का मानना है। जैन स्वयं ही ऐसी आलोचना के कारण हैं क्योंकि ऐतिहासिक दृष्टि से भी जैनों की शायद ही किसी सामाजिक कार्य में भागीदारी रही हो सिवा इसके कि वे दान, आर्थिक सहयोग दें। सेवा कार्य के लिए जैन स्वयंसेवक बनें और विश्व की वर्तमान समस्याओं के निराकरण की योजनाओं में सक्रिय रहें, तब कहा जा सकता है कि जैनों का दान सच-मुच ही दूसरों का दु:ख दूर करने के लिए है और जैन अभिनव आध्यात्मिकता से जुड़े हैं।

विशेष रूप से भारत से बाहर रहने वाले जैन अभिनव आध्यात्मिकता के प्रति सजग हो रहे हैं और वैश्विक समस्याओं के समाधान के लिए कार्यरत सामाजिक संगठनों के साथ स्वयंसेवक के रूप में कार्य करने के लिए जागृत हो रहे हैं। उन लोगों के लिए, जो सोच रहे हैं कि कैसे, कहां से, क्या काम शुरू किया जाए, नीचे एक सूची दी जा रही है जिसमें विभिन्न क्षेत्रों में व्यक्ति और संगठन काम कर रहे हैं ताकि समाज में परिवर्तन नज़र आए।

आपकी उम्र, आर्थिक स्थिति, देश, समाज आदि जो भी हो, प्रस्तुत सूची आपका अपने कार्य का एक कोना बनाने में, अपनी जगह बनाने में आपकी मदद करेगी, जहां से आप अपनी और एक नए परिवर्तन की शुरुआत कर सकेंगे। यह भी हो सकता है कि आप जिस क्षेत्र में रुचि रखते हों, उसी से संबंधित कोई संस्था पहले से आपके पड़ोस में कार्यरत हो तो आप उससे जुड़कर स्वयंसेवक की हैसियत से काम कर सकते हैं। नहीं तो आपकी रुचि का क्षेत्र जो आपको महत्त्वपूर्ण लगता हो, पर आपके पड़ोस में (जैन या ग़ैर-जैन) ऐसी संस्था न हो तब भी आप एक स्वयं संचालित संस्था आरंभ कर सकते हैं, अपने समाज में लोगों को प्रेरित कर सकते हैं। निम्न सूची के कई विषयों पर और अधिक जानकारी आपको इंटरनेट पर मिल सकती है- http:/ envirolink.netforchange.com। जो लोग सचमुच समस्याओं को हल तो करना चाहते हैं, काम करना चाहते हैं मगर उन्हें किसी का सहयोग नहीं मिल रहा है, ऐसे लोगों के लिए मैं ''व्यक्तिगत कार्य योजना'' दे रहा हूं, जिससे आप अकेले ही कुछ कार्य कर सकें। चाहे जो हो, सामाजिक परिवर्तन के लिए जैनों को विरासत में 'अकारत्रय' के रूप में जो प्रभावकारी साधन मिले हैं, उनसे वे निश्चित ही उक्त चुनौती को स्वीकार कर सकते हैं। उस दिशा (जॉन ओ' कॉनेल की चुनौती) में कार्य कर सकते हैं और दुनिया को बता सकते हैं कि विश्व का प्राचीनतम धर्म - जैन धर्म-अभिनव आध्यात्मिकता की समकालीन धारणाओं के साथ सामंजस्य स्थापित कर सकता है।

समाज सेवा के लिए गतिविधियां

वे क्षेत्र जिनके विषय में अधिक जानकारी प्राप्त कर मैं और भी अधिक क्रियाशील हो सकता हूं।

क्षेत्र	गतिविधि	मेरी रुचि अधिक/कम	
पशुओं के प्रति क्रूरता			
पशु उद्योग	पशु उद्योग का स्थान, उनमें पशुओं की स्वच्छता से संबंधित व्यवस्था, देखभाल, हार्मोन का उपयोग, दूषित पर्यावरण, भूमिजल प्रदूषण।		
दुग्ध व्यवसाय	दूध निकालने की मशीनें, पशु-आहार, बछड़ों एवं नर पशुओं का वध।		
मुर्गी पालन व्यवसाय	मुर्गी पालन के लिए उपयुक्त जगह, रखरखाव, पशु आहार के लिए नरमुर्गी की हत्या (चूज़ों की) करना, मुर्गियों की चोंच काटना, मनुष्य आहार में मुर्गी		
पशु परिवहन	वध स्थल ले जाते समय पशुओं के साथ क्रूरता।		
वधशालाएं	वध की प्रक्रिया (मारने का तरीका) पशुओं के वध के कारण सहजात-पदार्थों का (By-Products) उपयोग, मांस व्यवसाय का अर्थशास्त्र।		
कामकाजी पशु	कृषि क्षेत्र में काम योग्य पशु, परिवहन के लिए उपयोगी घोड़े, ऊंट, बैल, हाथी, कुत्ते, सर्कस के जानवर, घुड़दौड़, मनोरंजन के लिए काम करने वाले पशु-भालू, बंदर रीछ आदि।		
शिकार, मछली पकड़ना, उत्पादार्थ जानवर पकड़ना	अवैध शिकार, वन्य जीवन, नष्टप्राय प्रजातियों की रक्षा, जाल में पकड़ना, सील मछली के बच्चों के सिर पर डंडा मारकर हत्या, खाल के लिए, फर के लिए जीव हत्या, व्हेल मत्स्य मारना मत्स्योद्योग।		
प्रयोगशाला के पशु, जीव	दवाई के शोधकार्य में, अंतरिक्ष में प्रयोग हेतु, प्रयोगशालाओं में प्राणियों की चीर-फाड़।		

क्षेत्र	गतिविधि	मेरी रुचि अधिक/कम	
पशु रक्षा, आश्रय स्थान अभयारण्य	पिंजरा पोल, गौशालाएं, बीमार पशुओं के अस्पताल, पक्षी अस्पताल आदि जंगल, तालाब, कीटनाशक दवाएं, पर्यावरण		
वन्य आवास	वन, झील, कीटनाशक, अभयारण्यों का परिस्थिति की तंत्र		
पर्यावरण से संबंधित मुद्दे			
कृषि	मिट्टी संरक्षण, रासायनिक खाद से भूमि-मिट्टी की हानि, खरपतवारनाशक, कीटनाशक द्रव्यों का भूजल में रिसना, उतरना। बीजों का आनुवंशिक परिवर्तन, कृषि नीति।		
वायु प्रदूषण	इंजिनों तथा वाहनों का धुआं, प्रदूषक पदार्थ, उद्योगों द्वारा उत्पन्न प्रदूषक, वैकल्पिक ऊर्जा, सलफर डायोक्साइड एवं नाइट्रस ऑक्साइड गैसों का (वायु में) मात्रा स्तर, ग्रीन हाउस प्रभाव, पर्यावरण संबंधित कानून एवं नीति, भूमंडलीय तापमान में वृद्धि।		
उद्योगों की जवाबदेही	उद्योगों द्वारा दूषित उत्सर्जन, रासायनिकों का स्तर, श्रमिकों और समुदाय के लिए सुरक्षित वातावरण, नैतिक मूल्यों पर आधारित आचरण, पर्यावरण का अर्थशास्त्र, नैतिक मापदंडों पर निवेश, औद्योगिक कचरा।		
ऊर्जा	ऊर्जा संरक्षण, सूर्य/वायु/भूगर्भिक ऊर्जा, ऊर्जा संबंधी कानून।		
शिक्षा	पर्यावरण शिक्षा, पास-पड़ोस की स्वच्छता योजना, पर्यावरण सुरक्षा के प्रति जागरूकता, बच्चों में पर्यावरण संबंधी चेतना अनुशासन उत्पन्न करना।		
वन/जंगल	वर्षावन (Rain forests) पर्यावरणीय व्यवस्था, वन्य प्राणियों के प्राकृतिक आवास, वनों का संवर्धन, अवैध कटाई से वनों की रक्षा, मानवी अतिक्रमण, जैव-विविधता, स्वयंपोषित वानकीकरण।		

क्षेत्र	गतिविधि	मेरी रुचि अधिक/कम	
अनुवंशिकता अभियांत्रिकी	स्वास्थ्य विषयक मुद्दे, विकासशील देशों के सीमान्त किसानों पर इसका प्रभाव, इस विषय पर क़ानून।		
हरियाली अभिकल्प	शहरी विकास, शहरों में उद्यान एवं खेल के मैदान, वृक्षारोपण, वृक्ष संरक्षण।		
भूमि प्रदूषण	रासायनिक द्रव्यों का फैलाना, उद्योग क्षेत्र की भूमि पर प्रदूषक, घरेलू कचरा और उसके फेंकने का, एकत्र करने का उपयुक्त स्थान।		
पर्यावरण संबंधित कानून	पर्यावरण संबंधित कानून एवं नीति, पर्यावरण विषयक कानून लागू करना, न्याय, अंतर्राष्ट्रीय मुद्दे।		
जल प्रदूषण	पेयजल, जल जीवन पर प्रभाव, जल संरक्षण, महासागरों का दोहन, भूमिगत जल में रासायनिक एवं प्रदूषकों का रिसाव, जलस्तर, भूजल संरक्षण।		
मानवीय मुद्दे			
बाल कल्याण	अनाथाश्रम, बालाश्रम, बाल-विक्रय, बाल-अधिकार, घर से भागे बच्चे, अश्लील साहित्य एवं कला।		
मानव स्वास्थ्य	नि:शुल्क / सस्ती चिकित्सा, चिकित्सा और देखरेख, सस्ती दवाईयां। शुद्ध जल, वायु, स्वच्छता, तमाखू, शराबखोरी, मादक पदार्थ, नशीले पदार्थ, मां का स्वास्थ्य, मानसिक रूप से अविकसित बच्चे। बच्चे की देखभाल एवं स्वास्थ्य, दीर्घकालीन चिकित्सा सुविधा, अपंगता, वृद्धजनों के लिए आवास एवं देखभाल।		
मानव अधिकार	मानव गरिमा, जातिवाद, जातिभेद, राज़नैतिक और धार्मिक विश्वासों की स्वतंत्रता, न्याय व्यवस्था, ग़रीब अकिंचन लोगों के अधिकार, मृत्युदण्ड, राष्ट्रों एवं जनता का शोषण, मूलभूत अधिकार एवं भ्रष्टाचार।		
प्राकृतिक विपदाएं	पूर्व तैयारी - आपातकालीन स्थिति के लिए तत्काल एवं दीर्घकालीन राहत कार्य, धन संग्रह, स्वयंसेवकत्व।		

क्षेत्र	गतिविधि	मेरी रुचि अधिक/कम	
वैश्वीकरण	कुछ राष्ट्रों का आधिपत्य / बहुराष्ट्रीय निगमों की शक्तियां नैतिक मूल्यों से रहित व्यापार, ग़रीब देशों से संपन्न राष्ट्रों की ओर संपत्ति का जाना और श्रम शोषण।		
अंतर-धर्म संवाद	कट्टरता, सांप्रदायिक संघर्ष, अनेकांतवाद, विविध धर्मों की जानकारी, परिचय, सहयोगात्मक योजनाएं / आतंकवाद।		
शहरी/ग्रामीण जीवन	आवास, ग़रीबी, लंगर, अन्नछत्र, साक्षरता, उपयुक्त प्रौद्ययोगिकी, शहरी प्रदूषण, कचरा प्रबंधन, उद्यान एवं खेल के मैदान, शालाएं, कृषि में प्रगति।		
शाकाहार	शाकाहार के विषय में जनशिक्षा, पशुओं के प्रति क्रूर व्यवहार पर ध्यानाकर्षण, बलि एवं कर्मकाण्ड के लिए पशु-वध, स्वास्थ्य, प्राणी अधिकारों, शाकाहारी व्यंजनों की शिक्षा, शाकाहारी भोजनालय एवं अल्पाहार गृहों की व्यवस्था, शाकाहार को बढ़ावा देना, शाकाहारी उपाहार गृहों के लिए स्थान उपलब्ध कराना।		
हिंसा	हिंसा के लिए कारण: रहने के स्थान की तंगहाली, संचार माध्यम, आय का असमान वितरण, आर्थिक विषमता, राजनैतिक स्थिति, कट्टरता, हथियारों द्वारा नियंत्रण-कानून, शिकार एवं मछली मारने का शौक, जनता को हिंसा के प्रति संवेदनशील बनाना, अहिंसा की शिक्षा, हिंसा पीड़ितों को परामर्श, पुनर्व्यवस्थापन, तनाव नियंत्रण, योग ध्यान प्रचार, महिलाओं पर अत्याचार।		
युद्ध	शस्त्रों की होड़, आणविक मुद्दे, अस्त्रों का व्यापार, हथियारों के भूमिगत सौदागरों का पर्दाफाश, राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय नीतियां, राजनैतिक संवाद को बढ़ावा, रक्षा-बजट, कर-द्रोह, अंतर-धर्म-संवाद, बहुधर्म-शांति संवाद, शांति-अकादमी।		
विश्व-संस्कृति	विभिन्न संस्कृतियों की रक्षा, जाति, वर्ण विद्वेष, वर्ग गत संघर्ष, आदिवासी युद्ध, जाति विशेष का सफ़ाया करना।		

यदि आधुनिक अर्थ में हम सचमुच ही आध्यात्मवादी हैं तो इस सूची में दिए गए कार्यक्षेत्रों में से किसी में भी हम काम कर सकते हैं। कुछ मामलों में तो जैन संगठन और संस्थाएं पहल करके योजनाओं को कार्यान्वित कर सकती हैं। असल में 'जैना' नामक अमेरिका स्थित संस्था- 'The federation of Jain Association of North America' ने मानव कल्याण की कुछ योजनाएं पहले से ही शुरू की हैं। उक्त योजनाओं में यदि कुछ सेवाभावी प्रतिबद्ध व्यक्तियों को छोड़ दें तो आम जनता की भागीदारी केवल सहयोग राशि देने तक ही सीमित है। स्वयंसेवा भावना या प्रत्यक्ष समर्पण भावना से व्यक्तिगत परिश्रम, समय देना और प्रयास करना, इनका अभाव है।

विश्व के अनेक जैन संगठन चाहें तो स्वयंसेवा भाव से, स्वेच्छा से कार्य के प्रति निष्ठा रखते हुए बहुत कुछ परिवर्तन ला सकते हैं। विश्व विख्यात जैन श्रावक, डॉ. एल.एम. सिंघवी भारत के ब्रिटेन में हाई कमिश्नर थे, ने सन् 1997 में संपन्न 'जैना' अधिवेशन, टोरांटो में अपने अध्यक्षीय भाषण में, परिस्थितिकी का मुद्दा उठाते हुए युवा जैन समाज को संबोधित करते हुए आह्वान किया था -

''जैन युवा परिस्थितिकी संगठन की स्थापना करें, उसका नाम हो 'इकोलॉजी स्काउट्स' जो पर्यावरण की रक्षा के लिए समर्पित संगठन रहे।'' ''पारिस्थितिकी स्काउट्स के साथ एक नया आंदोलन शुरू किया जाए जिसमें युवक/युवतियां मिलकर पर्यावरण संबंधी शिक्षा का कार्यक्रम बनाएं, उसमें बाह्य गतिविधियां, पारिस्थितिकी, पर्यावरण दर्शन की नई पगडंडियां खोजें, वृक्षारोपण, वन संरक्षण, वन्य प्राणी जीवन रक्षा और वन्य जीवन एवं जैव विविधता जैसे विषयों पर काम हो। मैं चाहूंगा कि जैन लोग इस नए विश्वव्यापी आंदोलन में सबसे आगे रहें। यह आंदोलन केवल जैनों तक ही सीमित नहीं होगा बल्कि जैनों की पारिस्थितिकी और पर्यावरण से आत्मीयता के दर्शन को आगे और बहुत आगे बढ़ाएगा।''

- डॉ. एल. एम. सिंघवी, भारत के ब्रिटेन अवस्थित हाई कमिश्नर, जैना के 1997 वार्षिक अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण से उद्धृत। टोरांटो, कनाडा।

डॉ. सिंघवी ने जैन समाज का जो आह्वान किया, वह शायद अभिनव आध्यात्मिकता के साथ जैनों के संबंधों के प्रति सचेत किए जाने की शुरुआत थी। कुछ लोगों ने शायद व्यक्तिगत रूप से इसका प्रत्युत्तर भी दिया हो लेकिन जैन संगठनों और समुदायों ने मिलकर सामूहिक रूप से कार्य अभी भी शुरू नहीं किया है और न ही कार्य के प्रति कोई रुचि या जागरूकता व्यक्त की है। यह संभव है कि यदि श्री सिंघवी के संदेशानुसार कार्यान्वयन हो तो जैन अभिनव आध्यात्मिकता के आंदोलन में सबसे आगे रहेंगे। सौभाग्यवश जैनों के पास अहिंसा और अपरिग्रह के रूप में सशक्त साधन है और सक्षम व्यवस्था भी है, जो जनता को यह संदेश पहुंचा सके।

ईसा पूर्व 600 में भगवान महावीर ने जैन धर्म में सुधार किया। उन्होंने जैन समाज को चार श्रेणियों में विभाजित किया। साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका (सामान्य स्त्री-पुरुष)। साधुओं को आदेश दिया कि वे हमेशा भ्रमण करते रहें और सर्वसाधारण जनता को अध्यात्म के संबंध में मार्गदर्शन देते रहें। भगवान ने साधु श्रेणी के प्रमुख आचार्यों को विशेष अधिकार देते हुए समय-समय पर शास्त्र की व्याख्या करने के लिए

भी कहा। जैन समाज में साधु एवं सामान्य जनों के बीच घनिष्ठ संबंध होता है। दोनों में परस्पर निर्भरता होती है। आम जनता जहां आध्यात्मिक मार्गदर्शन के लिए साधुओं पर निर्भर होती है, वहीं साधु समाज भी अपने अस्तित्व के लिए जनता पर निर्भर रहता है। यह व्यवस्था एक प्रकार से बहुत उत्तम व्यवस्था है, जिसमें नित्य विकासशील विश्व की आवश्यकता के अनुसार साधु समाज के आचार्य शास्त्रों की व्याख्या करते हैं और संदेश में जो परिवर्तन होते हैं, उन्हें आम जनता तक पहुंचाते हैं। इसी प्रकार जैन आचार्य तथा साधु समाज के लोग नई आध्यात्मिकता के संदेश वाहक बन सकते हैं। आम लोगों में समीक्षात्मक दृष्टि उत्पन्न कर सकते हैं, जो आंदोलन की दृष्टि से पर्यावरण, सामाजिक एवं आर्थिक न्याय से संबंधित मुद्दों से जुड़ी हो। इस प्रकार जैन धर्म को फिर से ऊर्जावान बनाने की क्षमता जैन साधुओं में है।

व्यक्ति के लिए कार्य योजना

दूसरे अध्याय में हम देख चुके हैं, समस्त जीवों के लिए दया, परानुभूति, ये जाग्रत आत्मा की विशेषता है। आप में दूसरों के लिए सहानुभूति, दूसरों का ख़याल, दूसरों की सहायता की भावना पैदा होना निश्चित ही आपके आध्यात्मिक प्रगति के चतुर्थ गुणस्थान पर पहुंचने का संकेत है। विश्व में परिवर्तन लाकर उसे सुंदर बनाने का, सबके सुख का आश्रय स्थल बनाने का सपना आप देखते होंगे। शायद ऐसा सपना दूसरों के लिए एक कामना मात्र हो और अति आदर्शवाद का रूप हो। ऐसे काम में आपके साथ शामिल होने वाला कोई साथी न हो, मगर आप हताश न हों, क्योंकि तब भी आप अपने सपने की एक छोटी-सी शुरुआत जरुर कर सकते हैं। चाहे सारे विश्व में परिवर्तन आप न ला सकेंगे, लेकिन आपके पास-पड़ोस के चंद लोगों की दुनिया आप जरूर सुंदर और सुख का आश्रय स्थल बना सकते हैं। वह कैसे? हमारी एक योजना आपको बता सकती है। इस योजना को चाहें तो हम 'सहृदय-संबंध' कह सकते हैं। यह योजना सीधी सरल योजना है। उसमें बहुत कम धन की ज़रूरत है, अगर हुई तो। शायद आप वृद्ध, ग़रीब हों या उतने पैसे वाले न हों, शहर में हों या गांव में रहते हों। आप चाहे कोई भी, कहीं भी हो। आप ऐसी योजना में जरूर कामयाब हो सकते हैं।

आप कहीं भी रहते हों, किसी न किसी वृद्ध या ग़रीब से तो टकराते ही होंगे, जो ज़रूरतमंद हो। उसे कोई भिखारी कह सकता है, कोई बेघर कहेगा। हो सकता है काम पर जाते समय या मंदिर के रास्ते पर या कहीं और रोज़ आप उसे देखते हों। अगली बार जब आप उसे देखें तो उसके बारे में आपकी क्या सोच है, इस पर ग़ौर करें। यह मानकर कि आप कर्म सिद्धांत में विश्वास रखते हैं तो आप निम्न चार तरीक़ों में से किसी एक के माध्यम से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करेंगे।

(1) आपकी सुस्त प्रतिक्रिया - 'कर्म सिद्धांत' के बारे में आपकी ग़लत और संकीर्ण सोच हो सकती है "यह व्यक्ति अपने बुरे कर्मों का परिणाम भुगत रहा है, भुगतने दो, उसे भोगना ही चाहिए। मैं इसमें क्या कर सकता हूं?"

(2) आपकी उदासीन प्रतिक्रिया- ''ये तमाम दुनिया ऐसे ही दीन- दुःखी लोगों से भरी है। मेरे कुछ करने से उसमें कोई फ़र्क पड़ने वाला नहीं। यहां से खिसक लेने में ही भलाई है!

(3) आपकी उदार प्रतिक्रिया- एक या दो सिक्के आप उसके कटोरे में डाल देंगे। आपकी आत्मा संतुष्ट होगी कि ''चलो इस 'दान' से कुछ पुण्य ही मिलेगा। मेरी मुक्ति के काम आएगा।''

(4) आपकी आध्यात्मिक प्रतिक्रिया- मेरे अच्छे कर्मों से मुझे यह अवसर मिला है कि इस असहाय की ज़िंदगी में मैं कुछ बदलाव ला सकूं, इससे उसका दुःख कुछ तो दूर होगा ही मेरे पाप कम करके कुछ पुण्य भी कमा लूंगा।

ऐसी एक सच्ची आध्यात्मिक प्रतिक्रिया में और क्या किया जा सकता है? आप किस तरह उस असहाय की ज़िंदगी में बदलाव ला सकते हैं। 'सहृदय संबंध' आपको रास्ता दिखाएगा। * यह एक पंच स्तरीय योजना है- एक असहाय मनुष्य को अपनाने की। असल में यह प्रक्रिया एक मानवीय संबंध स्थापित करने की, इंसानियत का रिश्ता जोड़ने की है, न कि क़ानूनी अर्थ में गोद लेने की। इसका स्तर आप अपनी सुविधा के अनुसार चुन सकते हैं। आप किसी भी स्तर पर रुक सकते हैं लेकिन हर हालत में आपको सावधान रहना है।

(1) नमस्कार संपर्क - उस असहाय बूढ़े, अकेले इंसान के पास ठिठककर प्रेम से उसे नमस्कार करें, नरमी के साथ। नमस्कार रोज़ करें और थोड़े दिन रोज ऐसा संपर्क साधने के बाद फिर कोशिश करके उसका नाम जानें, फिर नाम लेकर, सीधे उसकी आंखों में देखकर, नमस्कार करें। आप उसकी आर्थिक मदद करें, न करें, मगर शुरू में असमंजस की स्थिति आप दोनों के बीच होगी। वह असहाय इंसान रोज़ देखता है, कितने ही लोग पास से गुज़र जाते हैं। कभी कोई पैसा दो पैसा उसकी तरफ फेंक भी देते हैं। मगर कोई चलते-चलते उसके पास रुके, उसका नाम जाने, हाल जाने, यह बात उसके लिए बिलकुल नई और कभी न सोची बात होगी। हो सकता है वह शख़्स जिसकी मदद करने की आप कोशिश कर रहे हैं, वह उसकी ज़िंदगी में इस तरह की दखल देने की कोशिश पसंद न करे। वह आपकी नीयत पर शक़ भी कर सकता है। दूसरी यह बात भी हो सकती है कि कुछ व्यक्तिगत कारणों से आप उसके साथ संपर्क जारी रखना पसंद न करें और कोई दूसरे असहाय व्यक्ति ढूंढ़ना चाहें। कुछ भी हो उसके साथ हर व्यवहार में, हर क़दम पर स्पष्ट व्यवहार, खुला दिमाग रखें, सावधान रहें।

(2) चाय सम्पर्क - जब आप इस व्यक्ति के साथ सामान्य महसूस करें, तब आप दूसरी सीढ़ी पर चढ़ सकते हैं। अब वक्त है कि जब आप उसे गरम चाय का प्याला और खाने को दे सकते हैं। अगर वह आपकी चाय मंज़ूर करता है तो समझिए उसे आप पर भरोसा है। अब आप उसके मन में गहरे झांककर तलाश कर सकते हैं, उसके बारे में जान सकते हैं ताकि आप उसकी मदद कर सकें, उसकी 'तकलीफ़ें' दूर करने की

* परिकल्पना - डॉ. अहमद मोतिअर की, (टोरांटो, कनाडा) ''इंटरफेथ इन एक्शन ग्रुप'' के सहयोग से विकसित।

कोशिश कर सकें। शायद उसके पास कोई हुनर, कोई कौशल न हो, अपने आप पर भरोसा न हो, जरा भी पढ़ा-लिखा न हो, उसके घर-परिवार की कुछ समस्याएं हों, अपनी सेहत से परेशान या फिर कोई मानसिक समस्या हो। ऐसी कई समस्याएं हो सकती हैं। जितने असहाय लोग, उतनी ही समस्याएं। हमेशा याद रहे कि आप भाग्यशाली हैं, आपकी समस्याएं, उसकी समस्याओं से बहुत कम गंभीर स्वरूप की हैं। तभी वह सड़क पर है और आप नहीं हैं। उसकी परेशानियां जान लीजिए। आप अपना पूरा समय लें। उसकी परेशानी को दूर करने के उपाय सोचने के लिए आप वक्त ले सकते हैं। यदि हो सके तो अपने किसी मित्र से बात करें, शायद उनके पास मदद की कोई राह हो या युक्ति जिससे उसकी मदद की जा सके।

(3) भोजन का संपर्क - अब तक आपको अंदाज़ा हो गया होगा कि आप कैसे उसकी मदद कर सकते हैं, जिससे उस असहाय व्यक्ति की ज़िंदगी में कुछ बदलाव आ सके। मगर बात तब तक नहीं बनेगी, जब तक आपके इस नए मित्र में आपके लिए पूरा भरोसा पैदा नहीं होता या वह खुद अपने सुधार के लिए प्रयत्न नहीं करता। शायद आपने उसे पढ़ना-लिखना सिखाना तय कर लिया हो या उसके इलाज के लिए पैसे देना मंज़ूर किया है या एक छोटी-मोटी नौकरी तलाशने में मदद की बात की हो। उसकी समस्याओं के जो भी आपके समाधान, हों, अब समय आ गया है कि आप अपने इस नए मित्र के साथ एक-एक उसकी कर समस्याओं पर चर्चा करें। मनुष्योचित सम्मानपूर्ण व्यवहार करें। कोई एक दिन तय करें। पास के किसी भोजनालय में ले जाएं, ज़रूरी हो तो कुछ ढंग के कपड़े ले दें, उसे साफ़-सुथरा होकर तैयार रहने को कहें, साथ भोजन करने ले जाएं, सादा सुस्वादु भोजन कराएं। हो सकता है, यह उसके लिए ढंग से भोजन करने का पहला ही अवसर हो, लेकिन उसे महसूस कराएं कि वह भी कोई है। अब उसके भविष्य के बारे में बात करने का समय है। उसे मालूम होना चाहिए कि वह आपकी योजना समझ रहा है और अपनी ज़िम्मेदारी उठाने के लिए तैयार है। उसकी चिंताओं को, आशंकाओं को, भय को ध्यान से सुनें, आपकी योजना के संबंध में उसकी जो शंका, संदेह के कारण हों, उन्हें भी ध्यान से सुनें। आपके लिए ये मामूली बातें हो सकती हैं मगर उसके लिए काफी मायने रखती हैं। उससे पूछें कि उसकी आशंकाओं को दूर करने के लिए वह और आप मिलकर क्या कर सकते हैं। उसकी सलाह मानें, उसे छोटा महसूस न होने दें।

(4) संकट और तूफ़ानी दिन का संपर्क - भोजन के दिन आपने और उसने जो योजना तय की थी, उसमें बात कितनी आगे बढ़ी यह देखना होगा। वैसे सीधे-सरल ढंग से, बिना किसी कठिनाई के, प्रगति होना शायद मुश्किल हो, लेकिन उसके प्रयत्नों में क्या कमी रही, यह जानना आपके लिए मुश्किल नहीं होगा। समय-समय पर उसकी सहायता के लिए आप तैयार रहें, ताकि उसका जोश ठंडा न हो जाए। अगर आपको उसमें इच्छाशक्ति की बिलकुल ही कमी नज़र आए या उसकी ओर से ख़ुद की हालत ठीक करने की ज़रा भी कोशिश, पहल न दिखाई दे, तो आपको इसी बात से संतोष करना होगा कि आप एक इंसान की ज़िंदगी में कुछ पल खुशियों के लाए, फिर योजना छोड़ दें। अगर आपकी योजना को कोई समुचित प्रतिफल, उत्तर मिलता है, सचमुच कुछ प्रगति दिखाई देती है, तो आप उसकी आगे मदद कर सकते हैं, मगर सावधानीपूर्वक। इसका मतलब यह कि जब उसके जीवन में एकाएक कुछ नए संकट आएं या तूफ़ान आए तो वह आपसे समय

लेकर संपर्क कर सकता है। आप उसे बता सकते हैं कि संकट के समय वह आपसे कहां, कब, कैसे संपर्क कर सकता है। उसे समझाएं कि अब तक आपने क्यों ऐसे संपर्क की सुविधा उसे नहीं दी। अगर आपकी राय में, उसने योजना के अनुसार प्रगति की है तो आप दोनों ही अब आख़िरी संपर्क के लिए तैयार है।

(5) उच्चस्तरीय संपर्क - अब तक आपके मित्र ने किसी हद तक कौशल प्राप्त कर लिया है और एक बेहतर ज़िंदगी, ढंग की सम्मानपूर्ण जीवन शैली उसने अपनाई है। अब उसकी पूरी कहानी अपने मित्रों, अपने साथियों को आप सुना सकते हैं। उसके लिए नौकरी ढूंढ़िए या उसकी मदद के लिए धन संग्रह कीजिए, छोटा-मोटा धंधा व्यवसाय शुरू करवाइए। रहने के लिए एक उपयुक्त स्थान दिलवाइए और उसके परिवार से उसको मिलवाइए।

यह एक व्यक्ति के स्तर पर की गई छोटी-सी योजना थी। योजना आर्थिक न्याय के क्षेत्र में थी। आप शायद सोचेंगे कि इस योजना से विश्व की समस्याओं पर ज़रा-सी भी खरोंच तक नहीं लगेगी पर सच्चाई तो यह है कि आपने अपनी कोशिशों से एक पूरी दुनिया बदल डाली है, दुनिया एक इंसान की, जिसे आपने संवारा है। आपने उसकी कल्पनाओं को रोशन किया है। जिन्होंने आपके कार्य को, इस योजना के माध्यम से देखा है, उन्हें भी ऐसे काम के लिए प्रेरणा मिलेगी। जिस जीव को आपने ज़रा-सा धक्का देकर आगे बढ़ाया है, न जाने वह ऊपर उठकर किस ऊंचाई को छू ले।

उक्त विस्तृत विवरण से आप जान सकेंगे कि आपकी रुचि के अनुसार अन्य कार्यक्षेत्र के लिए उक्त योजना के समान आप भी एक योजना बना सकते हैं। सूची में क्या ऐसा कोई कार्यक्षेत्र है, जिसे लेकर आप गंभीरता से सोचें। क्या आपके लिए वह इतना अर्थ रखता है कि आप उसके लिए ज़रूर कुछ करें। तब तो आपको किसी का इंतज़ार करने की ज़रूरत ही नहीं है कि दूसरा कोई आपके साथ आए, आकर आपकी मदद करे, तब जाकर आप कोई काम शुरू करें। यदि आपको आपकी योजना सचमुच महत्त्वपूर्ण लगती है और आपको उस काम में विश्वास है तो बढ़िए और एकल व्यक्ति कार्ययोजना की रूपरेखा बनाइए। शुरुआत में हो सकता है आपका मज़ाक उड़ाया जाए, विरोध हो, कठिनाई आए, जिससे आप निराश हों। फिर भी यदि आपका काम सहृदयता, करुणा, दया और ईमानदारी का है, सच्चा-नेक है तो और भी लोग आपके साथ जरूर शामिल होंगे, कार्य के लिए पैसा आएगा और आप एक नई क्रांति शुरू करेंगे। यह ज़रूर है कि अगर आप के पड़ोस में कोई संगठन पहले से ऐसा काम कर रहा हो तो आप उस संगठन से मिलकर काम कर सकेंगे। इससे आपकी ऊर्जा का और भी अच्छा उपयोग होगा। नहीं तो आप अपनी बात, अपना उद्देश्य संगठन को या मित्र मंडली को बताकर, औरों को भी बताकर उन्हें अपने साथ शामिल कर सकते हैं।

ऐसे कार्य से जैनियों को केवल प्रति उपकार, दायित्व निर्वाह ही नहीं करना है बल्कि उनके पास ऐसे साधन हैं, ऐसी प्रभावकारी कला है, जिससे वे 21वीं सदी के कुछ सवालों का, कुछ समस्याओं का हल खोज सकते हैं। यह उनके लिए एक अवसर है- योजना बनाने का, तैयारी करने का और अपने अतीत का गौरव पुनः प्राप्त करने का। प्रश्न है, "क्या चतुःस्तरीय जैन संघ के पास ऐसी योजना के लिए आवश्यक प्राणशक्ति है?"

व्यक्तिगत कार्य योजना की सावधानियां

- हर कोई व्यक्ति मदद नहीं चाहता।
- हमेशा सावधान रहें, ख़ुद को संकट में न डालें।
- यथा संभव अपने मित्र के साथ रहें।
- आप अपनी सुविधाएं पूर्ववत रखें।
- ऐसे वादे न करें, जो पूरे न कर सकें।
- दया-करुणाभाव रखें, तरस नहीं।
- अपनी सीमा रेखा अच्छी तरह जान लें।
- किसी का धर्म या राजनैतिक पक्ष बदलवाने की कोशिश न करें।
- हमेशा धन से सहायता करना सही नीति नहीं है।
- आपका टेलीफ़ोन नंबर या निवास पता न दें।
- जान लें कि हर कोई अपनी परिस्थिति बदलना नहीं चाहता।
- संपर्क अनुभवों की अपनी निजी डायरी रखें।
- मित्रों या अपने संगठन को योजना में शामिल करने की कोशिश करें।
- दूसरे आपकी योजना में रुचि न लें तो इसके लिए आप मन से तैयार रहें।
- इस अनुभव से आपको कितनी आध्यात्मिक शक्ति मिली इस बात का आप ध्यान रखें।

इतिहास और साहित्य

खंड 5 : पूर्वावलोकन

प्राचीन भारतीय काल का लिखित विवरण बहुत कम मात्रा में उपलब्ध है। प्राचीन भारतीय इतिहास के लिए हमें अन्य स्रोतों पर निर्भर रहना होता है, जैसे कि परंपरागत जनश्रुति, धार्मिक साहित्य, पुरातत्त्व और मानविकी शास्त्र आदि। किंतु ऐसे व्यापक स्रोतों से प्राप्त निष्कर्ष काफ़ी भ्रामक हो सकते हैं। यही जैन धर्म के आरंभिक इतिहास के साथ हुआ। प्राय: जैनेतर लेखकों द्वारा, ग़लत स्रोतों द्वारा निष्कर्ष निकाले गए, यहां तक कहा गया कि "जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म एक ही धर्म हैं और दोनों हिंदू धर्म की शाखाएं हैं।" "दोनों बहुत आदि कालीन जड़ात्मवादी व्यवस्था के हैं।"

सौभाग्यवश भारत, पाकिस्तान, पश्चिमोत्तर स्थित अफ़गानिस्तान में जैन धर्म के आरंभिक काल के इतिहास के विषय में हमें काफ़ी साफ़ तस्वीर अब मिलती है। जैन जनश्रुतियों के साथ उक्त जानकारी, प्राचीन हिंदू, बौद्ध साहित्य और प्राचीन पुरातत्त्व एवं मानविकी शास्त्र से संबंधित साहित्य, सबको मिलाकर जैन इतिहास की एक निश्चित स्पष्ट तस्वीर अब हम बना पाते हैं। अध्याय 18 में भगवान महावीर से पूर्व की तस्वीर है। इसमें इतिहास के कई ग्रंथों में 'पूर्ण सत्य' के नाम पर जो ग़लत जानकारी थी, उसके परिप्रेक्ष्य में सच्चाई को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। नए संशोधन पर आधारीत इतिहास जैनों की कई अनुश्रुतियों को प्रमाणीत करता है और कई अन्य मान्यताओं का खंडन भी करता है। मगर इसे जैनों के अतीत के विश्वासों का खंडन न समझा जाए।

अन्य धर्म के समान जैन धर्म में भी सुधार के कई प्रयत्न किए गए, जिससे बड़े संप्रदाय भी बने। इसका विवरण अध्याय 19 में है। इसकी किसी सामग्री को कटु विच्छेद या फूट का परिणाम न माना जाए बल्कि बारंबार किए गए सुधारों के परिणामस्वरूप जैन धर्म को उसके मूल रूप में रखने का प्रयास मान जाए।

बाइबल या क़ुरान के समान एक खंड में नहीं, जैन धर्मशास्त्र कई खंडों में है। उसका संक्षिप्त अवलोकन 20 वें अध्याय में किया गया है।

18

18. जैन धर्म : भगवान महावीर से पहले

एक आम विश्वास है कि भगवान महावीर से पहले जैन धर्म नहीं था। यह सत्य भी है और मिथ्या भी। सत्य इसलिए कि 'जिन' शब्द जिससे जैन शब्द की व्युत्पत्ति हुई, वह भगवान महावीर के काफ़ी बाद का शब्द है। फिर भी आज जिस परंपरा और दर्शन का जैन अनुसरण करते हैं और भगवान महावीर ने अपने समय किया था, वह स्वयं भगवान महावीर से कई सौ वर्ष पूर्व की है।

जैन मान्यता एवं जनश्रुति

जैनों का विश्वास है कि जैन सनातन (अनादि) धर्म है। यह विश्वास उनकी मूल धारणा के अनुरूप है। उनकी मूल धारणा है कि काल अखंड है और चक्रगतिक है। उसमें हर चक्र में एक अवधि चढ़ाव की ओर, और एक अवधि उतार की ओर है। हर अवधि के चौथे खण्ड (दु:खी-सुखी काल) में चौबीस तीर्थंकर जन्म लेते हैं, जो आत्म शुद्धि और मोक्ष मार्ग की शिक्षा देते हैं। अखंड काल के अंतर्गत चूंकि असंख्य चक्र रहे हैं, जैनों का तर्क है कि अखंड चक्र के हृदय स्थान में उनका जैन धर्म है। उनका विश्वास है कि हम फिलहाल उतार काल (अवसर्पिणी अवधि) के पांचवें खण्ड में हैं और मानव जाति के लिए यह स्थिति उतराई की-नीचे की ओर जारी रहेगी जब तक कि छठे खण्ड में महानाश में अंत नहीं होता। महानाश की घटना हज़ारों वर्ष बाद शुरू होगी और फिर से नए चक्र (उत्सर्पिणी अवधि) का चढ़ाव भाग शुरू होगा।

जैनों के इस विश्वास का प्रमाण तो इतिहास और पुरावशेष ही दे सकते हैं। इतिहास और पुरावशेष दोनों साधन दुर्भाग्य से उनका विश्वास स्वीकार करने या अस्वीकार करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। जैन धर्म के इतिहास और पुरातत्त्व की प्राथमिकता को और जटिल बना देता है यह तथ्य कि जैन धर्म अल्पसंख्यक समाज का होने के कारण इतिहासकारों ने उसकी तरफ़ बहुत कम ध्यान दिया है। 19वीं सदी के आरंभ में जब पाश्चात्य इतिहास वेत्ताओं ने जैन धर्म का अध्ययन शुरू किया तब भ्रमवश उन्होंने यही समझा कि जैन और बौद्ध धर्म दोनों हिन्दू धर्म की शाखाएं हैं। अधिक अध्ययन के बाद यह धारणा बदली, मगर फिर भी उन्हें

बुद्ध और भगवान महावीर के जीवन में काफ़ी समानता दिखाई दी और जल्दबाज़ी में उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि दोनों एक ही व्यक्ति का जीवन चरित्र है और जैन धर्म बौद्ध धर्म का एक प्रकारांतर मात्र है। यह ग़लती भी बाद में समय रहते सुधारी गई, लेकिन फिर भी एक ग़लत धारणा रह गई कि बुद्ध की भांति भगवान महावीर भी एक नए धर्म-जैन धर्म के संस्थापक थे।

पाश्चात्य विद्वानों ने 19 वीं सदी के अंत में एवं 20 वीं सदी में जैन इतिहास का गंभीरतापूर्वक अध्ययन किया और अधिकांशत: हरमन जेकोबी[23] के अन्वेषणात्मक प्राथमिक अध्ययन के कारण पाश्चात्य जैनोलॉजिस्ट विद्वानों की एक ज्ञान विभूषित शृंखला ने पुरातत्त्व, इतिहास, साहित्य और धार्मिक सामग्री को परस्पर जोड़कर एक इतिहास रचा। वह आज हमारे सामने जैन धर्म का प्रशंसनीय इतिहास है। उन विद्वानों में से हैं इंडोलॉजिस्ट जे.पी. भुहलर, जस वर्गीस, कारपेंटिअर, जेम्स फर्ग्यूसन, ए. ग्युरिओनाट, एन. आर. गुसेव, हर्टल, हर्लवे, कुहन बी.सी. लॉ, ई. ल्यूमन, जे. ई. वान लूज़ेन, डी. ल्यू, लुई रेनों, एडवर्ड पी. राइस, बी. ए. सालेटोर, वॉल्टर शूब्रिंग, विन्सेन्ट स्मिथ, ई. डब्ल्यू. थॉमस, अल्बेख्त वेबर विलसन, मॉरिस विंटरनिट्ज़ और हेनरिक ज़िमर। भारतीय विद्वानों ने भी जैन इतिहास को समझने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। उनमें से उल्लेखनीय हैं - बी. सी. भट्टाचार्य, ए. एम. घाटगे, बनारसीदास जैन, कामताप्रसाद जैन, जगमंदर लाल जैनी, एच. आर. कपाड़िया, पी. सी. नाहर, एच. डी. सांकलिया, चिमनलाल जे. शाह और ए. एन. उपाध्ये।

इन विद्वानों के अध्ययन से पुष्टि होती है कि चौबीसवें तीर्थंकर महावीर, तेईसवें पार्श्वनाथ और बाइसवें नेमीनाथ ने इस पृथ्वी पर विचरण कर मोक्ष मार्ग की शिक्षा दी। आज भी जैन समाज उनकी शिक्षा का अनुकरण करता है। तीर्थंकर नेमीनाथ ने गुजरात में प्रचार किया और वे कृष्ण के चचेरे भाई थे। पार्श्वनाथ और महावीर बिहार में आध्यात्मिक गुरु के रूप में प्रसिद्ध थे। पार्श्वनाथ का जन्म ई.पू. 850 और भगवान महावीर का जन्म 599 ई.पू. है। उक्त तीनों, वर्तमान चौबीस तीर्थंकरों की शृंखला में अंतिम तीन हैं। जैन परंपरा के अनुसार प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव (रिखवदेव) हैं।

जैन साहित्य में रिखवदेव और उनके काल[24] का विस्तार से वर्णन मिलता है। उसमें उनके जन्म, माता-पिता, उपलब्धियां और उनके मोक्ष प्राप्ति की स्थिति तक पहुंचने का उल्लेख है। इस कारण अधिकांश जैन मानते हैं कि रिखवदेव सभ्यता युग के जनक थे। मानव को सर्वप्रथम कृषि विद्या का ज्ञान रिखवदेव ने दिया। उन्होंने ही भटकने वाली अस्थिर घुमन्तू मानव जाति को सभ्य और स्थिर बनाया। उन्होंने एक समान व्यवस्था दी, विवाह एवं परिवार की संस्था बनाई। कानून, न्याय की व्यवस्था की। उन्होंने अपना राज्यसिंहासन त्याग दिया। समस्त सांसारिक भोग सामग्री का परित्याग किया और तपस्या, आत्मसंयम का जीवन व्यतीत

23. जेकोबी एच 1- भद्रबाहु का कल्पसूत्र लिपजिग, 1879. 2- भगवान महावीर और उनके पूर्ववर्ती इंडियन एंटीक्वेरी, 1880. 3- जैन सूत्र पार्ट 1- (1884) पार्ट 2 (1895)

24. जम्बूद्वीप प्रज्ञापति : एक जैन उपांग शास्त्र ग्रंथ।

किया, जिसके द्वारा उन्होंने अनंतज्ञान, सर्वज्ञान प्राप्त किया। उन्होंने ही शिक्षा दी कि सुख या दु:ख का मूल कारण हमारे कार्मिक बंध हैं और यह भी कि कर्मबंध से छुटकारा-मुक्ति, आत्मशुद्धि से ही संभव है। आत्मशुद्धि, ध्यान, प्रायश्चित और आत्मसंयम से ही होती है। यही वह मार्ग है जिसका आज जैन अनुकरण करते हैं और इसी मार्ग को वे रिखवदेव के उत्तरदान में प्राप्त संपत्ति मानते हैं, रिखवदेव वर्तमान के कालचक्र के आध्यात्मिक आदी गुरु हैं। जैन साहित्य में काल गणना के घटक आज से भिन्न हैं (जैसे वर्ष, माह, दिन आदि)। इसलिए यह कहना मुश्किल है कि रिखवदेव ने किस कालाविधि में उपदेश दिया। जैनों का हिसाब बिलकुल सही भी हो सकता है- रिखवदेव हज़ारों वर्ष पूर्व थे और जैन धर्म लाखों साल पुराना है।

सिंधु घाटी सभ्यता

आधुनिक पुरातत्त्वीय खुदाई, रिखवदेव के जीवन चरित्र, उनका समय (काल), उनकी उपलब्धियों के, उनकी शिक्षा के संबंध में कुछ संकेत दे सकती है। हाल ही की खुदाई में अफ़गानिस्तान में मिले और पाकिस्तान में सिंधु घाटी के उत्तर तक फैले हिस्सों में अनाज के दाने ईसा पूर्व 6500 साल पुराने होने का दावा वैज्ञानिकों ने किया है। कुछ पुरातत्त्व वेत्ताओं के अनुसार दक्षिण एशिया में [25] अनाज की पैदावार का काल लगभग 7000 ईसा पूर्व माना गया है और शायद भारत के उपमहाद्वीप में कृषि का यह सबसे पुराना प्रमाण है। भारत में हड़प्पा और मोहन जोदाड़ो की खुदाई में मूर्तियां भी निकली हैं। पद्मासन में ध्यानमुद्रा में स्थित नग्न छोटी मूर्तियां और सील (मुहर) मिली हैं। कुछ मूर्तियां खड़ी कायोत्सर्ग स्थिति में भी हैं। इन मुद्राओं का आज भी जैन परंपरा में विशिष्ट स्थान है। इन मुद्राओं के आधार पर कुछ इतिहासकारों ने सुझाव दिया है कि संभवत: आत्मसंयम और ध्यान के द्वारा आत्मशुद्धि हो सकती है यह दर्शन सिंधु घाटी सभ्यता के दौरान लगभग 5000 वर्षों पहले रहा होगा।[26] अस्तु, इन निष्कर्षों की उचित जांच अभी शेष है।

सिंधु घाटी के नगरवासियों द्वारा नगर निर्माण, विकसित खेती, पूर्णतया विकसित वाणिज्य, समुद्री व्यापार, लिपि का आविष्कार इन सबसे प्रतीत होता है कि वे अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण काल में लगभग 2000 वर्ष रहे। पुरातत्त्व विभागीय उत्खनन से ज़ाहिर है कि यह सभ्यता लगभग 2,80,000 वर्ग मील क्षेत्र में (पश्चिमी यूरोप से बड़ा क्षेत्र) 1800 बस्तियों की आबादी की थी।

मेरठ में आलमगीर, जो गंगा-यमुना के दो-आब में है, उसकी पुर्वीय सीमा थी। वर्तमान ईरान की सीमा से लगा सुतकाजेनदोर पर पश्चिमी सीमा थी। उसकी दक्षिणी सीमा अहमदाबाद के पास लोथल और मालवन (सूरत के पास, गुजरात) तक जाती थी हिमालय की तलहटी में स्थित रूपर (रोपड़), उनकी उत्तरी सीमा थी। इसका कोई प्रमाण नहीं कि यहां के लोग आक्रामक युद्धों में व्यस्त रहे हों। मगर यह स्पष्ट है कि उनके पास पीतल के हथियार जैसे तलवार, तीर- कमान, भाले, कुल्हाड़ी, कृपाण थे। हड़प्पा के बडे.नगरों में,

25. कुल्के एच एण्ड राथेरमण्ड डी.: ए हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, रूपा एण्ड कंपनी, दिल्ली 1993, पृष्ठ 5
26. कुल्के एच एण्ड राथेरमण्ड डी.: ए हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, रूपा एण्ड कंपनी, दिल्ली 1993, पृष्ठ 20

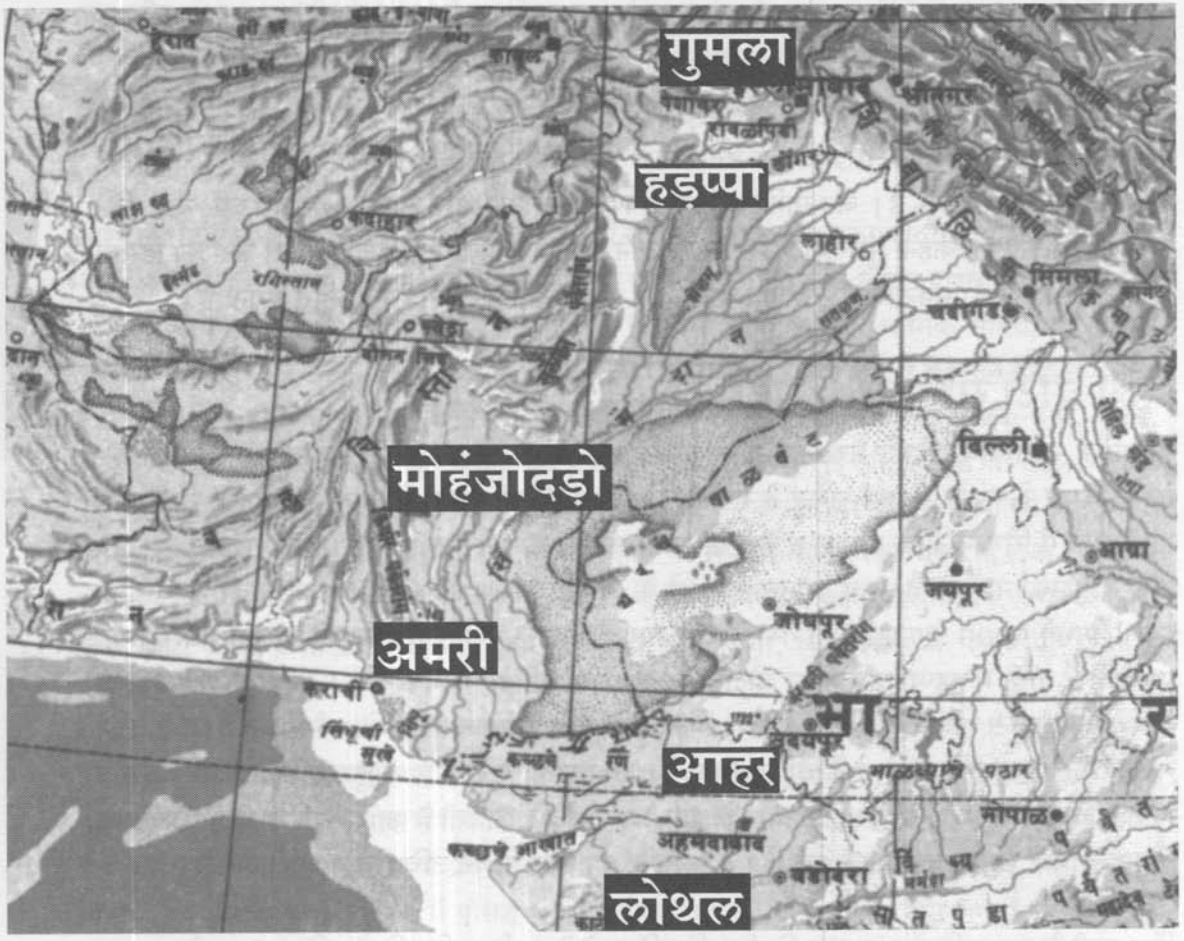

चित्र 18.1 : आज से 5000 साल पहले आर्यों से भी पूर्व सिंधु घाटी सभ्यता के कुछ महत्त्वपूर्ण शहर।

जिसकी आबादी 80,000 के लगभग थी, चारों तरफ दीवार थी, परंतु दीवारों से यह नहीं लगता कि वे शत्रुओं के बाहरी आक्रमण से रक्षा के लिए थीं, बल्कि लगता है उनका उपयोग प्रवेश के समय पूछताछ के लिए व्यापार, वाणिज्य या कर के लेन-देन के लिए चौकी के रूप में रहा होगा। खुदाई से प्राप्त कुछ मुहरों पर तपस्वी साधुमुनीओं की साफ छाप अंकित है। कुछ मिट्टी की मूर्तियां मिली हैं जिनमें देवी की छवि भी अंकित है। इससे प्रतीत होता है कि उस समय मिश्र संस्कृति थी, जिसमें ध्यान, तपस्या, आत्मसंयम युक्त जीवन के माध्यम से आत्मा की शुद्धि का प्राध्यान्य था और देवी-देवताओं का भी स्थान था।

सिंधु घाटी सभ्यता के संबंध में हमारी आज तक की जानकारी यहां प्रस्तुत है-

(1) उनकी सभ्यता के विकास के अंतर्गत एक सामाजिक निर्देश था जिसमें विवाह, परिवार, विधि-कानून, न्याय, और शासन की व्यवस्था थी।

(2) उनकी जीवन शैली शिष्ट, सभ्य, नागरी थी। लोक स्वास्थ्य, स्वच्छता की दृष्टि से स्नानगृह आदि की उत्तम व्यवस्था थी। मकान बड़े-बड़े और ईंटों के बने होते थे। गांवों की रचना नगर रचना की भांति ही व्यवस्थित, सुनियोजित थी। उनकी जीवन शैली शहरवासी की शैली थी।

(3) वे पढ़ना-लिखना जानते थे। उनकी लिपि मिली-जुली थी, जिसमें ध्वनि संकेत और चित्रात्मक शैली दोनों का समावेश था। वह दाहिनी तरफ से बाईं ओर लिखी जाती थी।

(4) वे खेती करना जानते थे। रेखांकन, शिल्पकला, मूर्तिकला, आभूषण बनाना, मिट्टी के बर्तन बनाना आदि कलाओं में, कारीगरी में निपुण थे।

(5) सोना, चांदी, तांबा, पीतल (लोहा नहीं) आदि धातुओं के वे जानकार थे। उक्त धातुओं से निर्मित चीज़ें मेसोपोटेमिया, ईरान और मध्य एशिया तक निर्यात होती थीं।

(6) पुरातत्त्वीय प्रमाण मिलते हैं कि वे काष्ठ और पत्थर से बने औजारों का उपयोग करते थे। मगर उनके पास रक्षात्मक साधन जैसे ढाल, कवच, शिरस्त्राण आदि नहीं थे। इससे जाना जा सकता है कि उनकी जीवन शैली आक्रामक नहीं बल्कि शांतिपूर्ण थी। युद्ध नहीं होते थे। लोगों को लड़ने नहीं जाना होता था। उनकी कोई सेना नहीं थी और न ही सैनिक कार्यवाही का, विजय का, सैनिकों को बंदी बनाए जाने का या एक व्यक्ति द्वारा अन्य को मारे जाने का एक भी विवरण नहीं मिलता। आरंभिक काल से ही हिंसा का कोई संकेत नहीं मिलता।

(7) पालतू पशुओं में बैल, गाएं और हाथी होते थे (अश्व नहीं) उनकी मुहरों पर उक्त पशुओं के चित्र होते थे और शायद जाति दलों के प्रतीक चिह्न भी।

(8) कुशल कारीगरी और व्यापार के कारण सिंधु घाटी सभ्यता का विस्तार मेसोपोटेमिया के क्षेत्रफल से दोगुने विशाल प्रदेश तक था, लेकिन सैनिक अधिकार का नामोनिशान नहीं था।

(9) उनका समाज मातृ सत्ता प्रधान समाज था।

(10) अध्यात्म की दृष्टि से ध्यान धारणा के द्वारा आत्मशुद्धि में उनका विश्वास था। वे आत्मा के पुनर्जन्म में विश्वास करते थे।

पल भर का अनुमान

यह अच्छी तरह जानते हुए कि मेरी कल्पना, केवल एक अनुमान है, मैं हरप्पन पुरातत्त्वीय तथ्यों का (जिसकी मुख्य जानकारी ऊपर दी गई है) एक तर्कबद्ध अर्थघटन देना चाहूंगा। जो सत्य प्रतीत हो, स्वीकार्य हो ऐसा अर्थघटन करना चाहता हूं। मैं जानता हूं, मेरा अनुमान विवादास्पद होगा फिर भी मेरे अनुमान का उद्देश्य चर्चा के लिए नए आयाम, नए स्रोत खोलना है। इस आशा के साथ कि एक विशिष्ट सभ्यता दूसरों के समक्ष अपनी जिस सांस्कृतिक छवि का प्रतिक्षेपण करती है, उसे देखने-समझने की एक गहरी अंतर्दृष्टि मिल सके। हड़प्पा के सिंधु घाटी सभ्यता कालीन लोगों में ध्यान-योग-अहिंसा आदि संन्यासी तपस्वियों के अभ्यास द्वारा आत्म संयम पर आधारित मोक्ष मार्ग के अनुकरण का प्रयत्न था।

खुदाई में प्राप्त सामग्री के संबंध में काफ़ी रोचक बात जो नज़र आई और वह विवादास्पद भी होगी, वह यह कि यदि रिखवदेव द्वारा कृषि की खोज की जैनों की बात को आगे बढ़ाकर खुदाई में मिले अनाज के दानों की तारीख से जोड़ा जाए (जिसे हड़प्पा सभ्यता कहा जाता है) तो हम रिखवदेव का समय ईसा पूर्व 6500 (आजसे 8500) साल लगा सकते हैं। यह निष्कर्ष और अधिक पुष्ट होता है जब हम सिंधु घाटी सभ्यता की सील-मुहरों का अध्ययन करते हैं। उन मुहरों पर ध्यानस्थ व्यक्तिओं की जो आकृति अंकित है वो जैन परंपरा की ध्यान प्रतिमा से मिलती-जुलती है। जैन दृष्टिकोण से जो विवाद है वह यह है कि जैन मान्यता के अनुसार रिखवदेव का समय हड़प्पा सभ्यता के काफ़ी पहले का है। दूसरे शब्दों में कहें तो ऐसे सुझाव से (कि रिखवदेव 6500 ईसा पूर्व में थे) परंपरागत जैन मान्यता जुड़ती नहीं।

जैन समाज द्वारा इस ऐतिहासिक खोज पर चर्चा करना या इसे स्वीकार करना कठिन है। उनका कहना है कि केवल एक सदी में जो इतिहासकार यह मानने से भी इनकार करते हैं कि जैन धर्म एक पृथक धर्म है वही अब रिखवदेव का समय 6500 ईसा पूर्व बता रहे हैं। जैनों की मान्यता है कि उनका धर्म नित्य सनातन (अनंत) है और इसी कारण इतिहासकारों की 'कारीगरी' से परे है। फिलहाल हमें यह बात उसी तरह मान लेनी चाहिए जिस तरह हिंदू संशोधक मानते हैं कि हड़प्पा या सिंधु घाटी सभ्यता शिव (प्रोटोशिव) सभ्यता की थी। यह हिंदुओं का दावा भी उतनी ही विश्वास की धारणा है और उसी तरह मान्य होनी चाहिए जैसे जैन धर्म और रिखवदेव की समकालीनता। उपलब्ध शास्त्रीय आधारों पर हम सिर्फ इतना ही कह सकते हैं के रिखवदेव आज से कम से कम 8500 साल पहले वर्तमान थे।

कुछ मुहरों से प्रमाण मिलते हैं, जिनसे लगता है कि वे ऐसी मूर्तियों की पूजा करते थे जिसकी पहचान संभवत: रिखवदेव* से की जा सकती है। हड़प्पा की खुदाई में प्राप्त मूर्तियों में जो बात विशिष्ट है और हमारा ध्यान

* हड़प्पा में प्राप्त ध्यानस्थ मूर्ति हिंदू देवता शिव की नहीं हो सकती, क्योंकि हिंदु धर्म आर्यों के आगमन के (1500 ई.पू.) बाद शुरू हुआ और आत्मा, ध्यान आदि धारणाएं बहुत समय बाद हिंदू धार्मिक साहित्य में आईं। तो संभव है के वो आदीवासी, द्रावीड मुद्राधारक तपस्वी मुर्ती- जिसे Priest-King नामसे इतिहासकार पहचानते है- शायद राजत्याग करने वाले साधु रिखव की हो।

आकृष्ट करती है, वह है उन मूर्तियों में बारीकियां। उसकी मुखाकृति से स्पष्ट है कि आकृति आर्येत्तर है, किंतु भारत के मूलनिवासी (आर्यों से पूर्व) द्रविड़ों से** काफी समानता रखती है। इस संदर्भ में प्रमाण यद्यपि बहुत सीमित हैं फिर भी उनसे ज्ञात होता है कि द्रविड़ों में योगी-तपस्वियों के प्रति आदर सम्मान था। (सील, मुहरें आदि) और जैसी कि जैनों में परंपरा रही है, जिसके अनुसार सर्वप्रथम रिखवदेव ने ध्यान को आध्यात्मिक अभ्यास के रूप में परिचित कराया। कृषि के बारे में सिखाया और बिलकुल भिन्न स्वरूप की सामाजिक व्यवस्था (दक्षिण एशिया में) होना ये सब तथ्य आर्य सभ्यता से बिलकुल भिन्न थे। तब क्यों न हम सिंधु घाटी सभ्यता के लोगों को रिखवदेवीय (ऋषभीय) कहें।

आर्यों का आगमन

आर्यों का मूल स्थान कैस्पियन सागर के आसपास रहा होगा। (कैस्पियन सागर खारे पानी के समुद्र है जो चारों ओर अज़रबैजान, रशिया कजाकिस्तान, तुर्कमेनिस्तान और ईरान के भूमि से घिरे हुए है। ईरान शब्द का वास्तविक अर्थ होता है आर्यों का देश।) लगभग 1500 ईसा पूर्व मध्य एशिया से उन्होंने सिंधु घाटी पर आक्रमण किया। जैन परंपरा के अनुसार आक्रमण जैनों के नवें तीर्थंकर पुष्पदंत के बाद (चित्र पान 177) हुए थे। रिखवदेवीय अपने पड़ोसियों के साथ शांति से रह रहे थे। इसकी पुष्टि, लड़ाई हुई हो ऐसा कोई प्रमाण नहीं। सागर की लहरों की तरह उमड़ते, लगातार देशांतर कर रहे, अस्त्र-शस्त्र से सज्जित आर्य सेना से लड़ने का अहिंसक रिखवदेवीय लोगों को कोई मौक़ा ही न था। अधिकतर बचे हुए 'रिखवदेवीय' लोग पूर्व दिशा में स्थलांतर कर गए। गंगा तट पर छोटे-छोटे राज्यों में, जनपदों में, बस गए और वे जो सिंधु घाटी में रह गए आर्यों के द्वारा दास बनाए गए। कालांतर में रिखवदेवीय, आज के बिहार प्रदेश में रहने लगे।

1500 ईसा पूर्व में आर्य जीवन शैली की हम एक तस्वीर देखें। बाद की कई सदियों में आर्यों के द्वारा रचित वेदों से (सबसे प्रथम लिखित आर्य साहित्य) जो जीवन शैली ज्ञात होती है, उससे ज्ञात होता है कि :

(1) आर्यों की जीवन शैली ग्रामीण घुमन्तू चरवाहों की मैदानी जीवन शैली थी।
(2) वे प्राय: वनों में छोटे-छोटे समूह बनाकर बांस की झोपड़ियों में रहते थे। फूस की छत से झोपड़ी ढंकी हुई रहती थी।
(3) सोना, तांबा, पीतल और लोहे का उपयोग जानते थे। (चांदी और सीसा नहीं)
(4) उनके हथियार आक्रामक और सुरक्षात्मक दोनों प्रकार के होते थे। वे रथ, कवच, शिरस्त्राण और नाखूनों का कोट पहना करते थे।

** आर्य काफी बाद में 1500 ईसा पूर्व भारत आए। उन्होंने स्थानीय निवासियों को अपने अधीन बनाया। आर्यों के साहित्य में स्थानीय लोगों का बहुत अपमानजनक शब्दों में उल्लेख किया गया है। जैसे दस्यु, असुर, राक्षस आदि। हमने रिखवदेवीय शब्द का प्रयोग उनकी धार्मिक साधना की दृष्टि से किया है। द्रविड़ियन शब्द तो बहुत बाद में बना और दक्षिण भारत के लोगों के लिए प्रयुक्त है। हड़प्पा से प्राप्त सील-मुहरों पर जो मानवाकृति है वह आज के द्रविड़ियन लोगों से मिलती है। इससे लगता है संभवत: वे भारत के मूल निवासी रहे होंगे।

(5) घोड़ा उनका पालतू जानवर था। युद्धों में उससे काम लेते थे। अन्य पालतू जानवरों में गाय और भेड़ होती थी।

(6) लेखन कला और अन्य कलाओं में उनकी कोई उपलब्धि नहीं थी। सिंधु घाटी में स्थिर एवं स्थायी होने के पश्चात ही मौखिक रचनाएं की थीं।

(7) अध्यात्म के क्षेत्र में प्रकृति की स्तुति से वरदान प्राप्त करने और अग्नि की पूजा तक उनकी आध्यात्मिकता सीमित थी। स्फूर्ति के लिए सोमरस पान करते थे।

(8) उनके मंदिरों में पूजा की जाने वाली प्राकृतिक और कार्य संपन्न कराने वाले (अभिलाषा, कामना पूर्ण करने वाले) देवताओं की थी। ऐसी पौराणिक प्रतिकृतियां ईरान, ग्रीस और रोम में भी थीं।

(9) उनकी धर्म संबंधी मान्यताओं में आत्मा और एकेश्वरवाद को स्थान न था। मगर भारतीय उपमहाद्वीप में स्थायी होने के बाद उन्होंने बहुत शीघ्र यहां की धार्मिक भावनाओं को आत्मसात् किया।

(10) स्थानीय कृष्णवर्णीय, काले रंग के निवासियों से संपर्क न हो इसलिए उन्होंने अपना धर्म आर्य लोगों तक ही सीमित रखा। वंश परंपरा, वंशक्रम की प्रथा का पूरी तरह पालन करते थे। अपने नाम के साथ पिता का नाम पीढ़ी-दर-पीढ़ी लगाते थे। इस कारण वंश परंपराएं बनीं- जैसे के सूर्यवंश और चंद्रवंश की संतानें सूर्यवंशी, चंद्रवंशी कहलाईं।

सिंधु घाटी सभ्यता और आर्य संस्कृति (1500 ईसा पूर्व) की तुलना करें तो एक तर्कयुक्त निष्कर्ष निकलेगा। वह यह कि ऋग्वेद की संस्कृति रिखवियों के बाद की है, और वह सिंधु घाटी की सभ्यता से असंबद्ध है। उसका स्वतंत्र मौलिक रूप और उद्गम स्थान भारत से बाहर था। इन तथ्यों पर गौर करें। नगरों में बसने वाले रिखवदेवीय लोगों की सांस्कृतिक जातिगत विशेषताएं, आर्यों की ग्रामीण अस्थिर भ्रमणशील घुमन्तू संस्कृति से भिन्न हैं और रिखवदेवीय लोगों की धार्मिक साधना, जैन साधना पद्धति के काफी निकट है। इन तथ्यों से यह बात प्रभावित एवं पुष्ट होती है कि जैन परंपरा आर्यों से पहले की आर्यपूर्व परंपरा है, जब यहां के मूल स्वदेशी लोग सिंधु घाटी में उत्तर पश्चिम भारत में रहते थे और उन्होंने मोहनजोदड़ो, लोथल, और हड़प्पा जैसे नगरों का निर्माण किया था।[27]

ब्राह्मण धर्म

हमने रिखवदेवीय लोगों का मूल सिंधु घाटी सभ्यता काल समय में निश्चित किया है। इसके प्रमाण के लिए पुरातत्त्व और जैन परंपरागत ज्ञान है। उनका इतिहास आर्यों के आगमन के 800 वर्षों के बाद के काल में केवल वैदिक साहित्य के दिए गए संदर्भों से और जैन शास्त्रों से जाना जा सकता है। देशांतरित आर्यों ने ऋचाओं की, मंत्रों की, रचना की, जो आगे जाकर नए आर्य धर्म का, ब्राह्मण धर्म का आधार बनीं। उनका संपूर्ण साहित्य तीन समूहों में विभाजित किया जा सकता है।

27. कुल्के, हरमन तथा रोथेरमंड, दितमार : भारत का इतिहास, 1993 (Kulke Herman Rothermond, Diethar, A History of India, Rupa Company, New Delhi, 1993)

(1) वेद - भारत में आर्यों के आगमन के कई सदियों की लंबी अवधि में रचे गए काव्य छंद एक संकलन के रूप में वेद साहित्य में प्राप्त हैं। वेद संहिता चार हैं

(1) ऋग्वेद, (2) यजुर्वेद, (3) सामवेद, (4) और अथर्ववेद। उनका रचनाकाल 1300 से 1150 ईसा पूर्व माना जाता है। ऋग्वेद सबसे पहला संकलन है, जिसमें वरुण, इंद्र, अग्नि, सूर्य जैसे देवों की स्तुति की गई है, जिसमें रिखवदेवीय लोगों को व्रतधर्मी (वे जो व्रत पालन करते हुए जीते हैं) या योगिन् कहा जाता है। जीवन का मर्म जानने-समझने की किसी दार्शनिक जिज्ञासा का संकेत ऋग्वेद में कहीं नहीं है। वर्ण व्यवस्था का कोई प्रमाण नहीं मिलता। हालांकि मूल, स्थानीय कृष्णवर्णीय लोगों को 'दस्यु' नाम से संबोधित किया गया है।[28]

(2) ब्राह्म सुत्र और आरण्यक सुत्र - वेदों में संलग्न कई विवरणात्मक कर्मकाण्डों की व्याख्याएं हैं जिन्हें ब्राह्म सुत्र और आरण्यक सुत्र कहा जाता है। इनकी रचना 1000 से 700 ईसा पूर्व तक मानी गई है। इन ग्रंथों में हम देवताओं की शक्ति में आर्यों के अविश्वास, संशय की भावना पाते हैं। ब्राह्म और आरण्यक सुत्रो में एक विशेष बात और लक्षित होती है, वेदों की छंदबद्ध रचनाओं से हटकर उनमें गद्य शैली का प्रयोग है। गद्य शैली में विस्तारपूर्वक यज्ञादि कर्मकाण्ड, बलिकर्म आदि की आवश्यकता पर बल देते हुए दिव्य कर्मकाण्ड को पूर्ण विधि-विधान से किए जाने का आग्रह है। यज्ञ कर्म संबंधी कर्मकाण्ड सर्वथा निर्दिष्ट रूप से ही किए जाएं अन्यथा छोटी-सी भी त्रुटि देवताओं के कोप को आमंत्रित करेगी, ऐसा स्पष्ट कहा गया है। यज्ञ कर्मकाण्ड के विशुद्ध विधि-विधान पूर्ण आयोजन में चूंकि ब्राह्मण ही उपयुक्त-योग्य हो सकते थे, शायद इसलिए यहां से उनके वर्चस्व की धारणा के साथ वर्ण-व्यवस्था का जन्म हुआ होगा। कर्मकाण्ड विशुद्ध रूप से, कौशलपूर्वक सिद्ध करने में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता के कारण उन्हें समाज में श्रेष्ठ माना गया।

यद्यपि ध्यान, योग, तपस्या, सामान्य जनता के लिए निर्देशित नहीं थे, फिर भी ब्राह्मणों में से कुछ प्रबुद्ध ब्राह्मणों ने समाज से दूर जाकर एकांत वनों में रहकर तप-साधना शुरू की थी। यह संभवत: रिखवदेवीय साधना पद्धति का अनुकरण रहा हो। मगर रिखवदेवियों से भिन्न उनका उद्देश्य घोर तपस्या के द्वारा अपने इष्ट देवों से अद्भुत दैवी शक्ति-सामर्थ्य प्राप्त करना था। यह हो सकता है कि वन में तपस्या करने वाले इन ऋषियों ने अपनी साधना पद्धति में रिखवदेव को आदर्श माना हो और इस प्रक्रिया में रिखवदेव, को महादेव,*

28. दाण्डेकर आर.एन. द ब्राह्मनिकल ट्रेडिशन : दि वेदिक पीरियड, इन सोर्सेस ऑफ इंडियन ट्रेडिशन, वाल्यूम 1 एमब्री. ए.टी. संपादक, कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, 1988.

* जैन रिखवदेव और हिंदू देवता शिव में काफी समानता है। जैसे रिखवदेव ने ध्यान, संयम, तप का अभ्यास किया था। हिंदू देवताओं में एक मात्र शिव हैं जिन्होंने तप संयम की विधि अपनाई थी। जैन मानते हैं कि रिखवदेव ने कृषि का आरंभ किया था और कृषि पशु के रूप में बैल का उपयोग किया, अत: बैल रिखवदेव का प्रतीक है। शिव का भी प्रतीक बैल है। अंत में रिखवदेव ने समाज छोड़कर हिमालय जाकर तपस्या की और कैलाश पर्वत पर मोक्ष प्राप्त किया। हिंदू भी कैलाश को शिव का निवास मानते हैं। हिंदू देवता शिव और कृष्ण नील वर्ण हैं, जो उनके द्रविड़ मूल की ओर संकेत करता है।

शंकरदेव, शुभ लाभदायी कर्मों का स्रोत, और शिव (पवित्र) माना हो। जो भी हो, लगता है संन्यासी ऋषियों ने इस प्रकार वैदिक धर्माचार में एक बहुत बड़े परिवर्तन की शुरुआत की। यह परिवर्तन, प्रकृति के काल्पनिक देवताओं (ऋग्वेद कालीन) से लेकर यज्ञ आदि में बलि कर्मकाण्ड तक (ब्राह्मण और आरण्यक) होते हुए अंत में मुक्ति/मोक्ष का रहस्यमय दर्शन उत्तर वैदिक साहित्य में स्पष्ट परिलक्षित होता है। उत्तर वैदिक कालीन साहित्य में वर्णित विश्वदर्शन और आर्यों के देशांतर-कालावधि के आरंभ की विश्वदर्शन धारणा में सर्वथा भिन्नता है। देवताओं की सर्वशक्ति संपन्नता में संदेह की भावना दिखाई देती है। उसके स्थान पर एक अपरिवर्तनीय नियम के प्रति एक निरंतर सजग दृष्टि है। अपरिवर्तनीय नियम यह कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म के लिए स्वयं उत्तरदायी है। न केवल इस जन्म में बल्कि बाद के जन्मों में भी। इस तरह कर्म और संसार (जन्म-मृत्यु) भारतीय धार्मिक चिंतन का मूल तत्त्व बन गए। उक्त तत्त्व आर्यों से पूर्व, भारत के मूल निवासियों के प्रभाव से आए, जिनके साथ आर्य अधिकाधिक घुल-मिल गए हों।[29]

"यह एक स्मरणीय बात है कि वेदों में, पहले के ब्राह्म सुत्रों में पुनर्जन्म के सिद्धांत का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है और ऐसा कोई कारण भी नहीं कि वैदिक कालीन आर्यों ने उसे माना हो। यह सबसे पहले आरंभिक उपनिषद् ग्रंथों में अपने अनगढ़ रूप में मिलता है - एक नए दुर्लभ सिद्धांत के रूप में। वह रिखवदेवीय साधुओं द्वारा अपने भावी होनहार शिष्यों को एक गूढ़ रहस्य के रूप में दिया गया। पुनर्जन्म के सिद्धांत की लहर पूरे उत्तर भारत में कैसे फैल गई इसका कारण बताना मुश्किल है। हो सकता है रिखवदेवीय में पुनर्जन्म का सिद्धांत पहले से ही किसी रूप में रहा हो।"

- आर.एम. दाण्डेकर सोअर्सेस ऑफ इंडियन ट्रेडिशन. सं. ए-टी-एम्ब्री द्वितीय संस्करण, खंड 1, कोलंबिया वि.वि. प्रेस, न्यूयार्क, 1988

हिंदुओं के महाकाव्य रामायण में (लगभग 1000 ईसा पूर्व) महान आर्य राजा राम, माता द्वारा वनवास दिए जाने पर वे मध्य भारत में विंध्य पर्वत शृंखला के दक्षिण वनों में रहते हैं। रामायण के अनुसार जब श्रीलंका का प्रतापी राजा रावण राम की पत्नी सीता का हरण करता है तब राम वानर सेना की सहायता से लंका पर आक्रमण कर, रावण को पराजित करते हैं। कवि की यह उक्ति, कि 'मुख्य वानर हनुमान के नेतृत्त्व में वानर सेना' तर्क रहित प्रतीत होती है। तर्क संगत स्पष्टीकरण यह हो सकता है कि राम ने स्थानीय वनवासी द्रविड़ों से सहायता ली हो। संस्कृत शब्द वन अर्थात जंगल और नर अर्थात् मनुष्य इस प्रकार वनवासी नर, वन्य नर, वानर हुए। रामायण काव्य का कवि आर्य था जो द्रविड़ों की सहायता स्वीकार करना नहीं चाहता होगा इसलिए उसने बड़ी आसानी से दोनों शब्द जोड़कर, जैसी कि संस्कृत भाषा की व्याकरणिक विशेषता है, वानर शब्द का प्रयोग किया। वानर अर्थात कपि, बंदर।

कवि ने लिखा है रावण शिव का भक्त था। वर्षों की तपस्या साधना के कारण विशिष्ट शक्तियां उसके पास थीं। हम पहले ही देख चुके हैं कि भारत के मूल आदिवासी रिखवदेवीय ध्यान, तपस्या आदि का अनुसरण करते थे। चूंकि आर्य साधु-संन्यासियों ने रिखवदेव का नाम 'महादेव' या शिव रखा था तो हो सकता है

29. Kulke Hermann Rothermond, Diethar, A History of India, Rupa Company, New Delhi, 1993 पृष्ठ 48.

जैन मान्यता के अनुसार जैन ईतिहास

तीर्थंकर	अंदाजन समय	कल्पसूत्र संदर्भ
24 वें महावीर स्वामी	ई.पू. 600 वर्ष	
23 वें पार्श्वनाथ	महावीर निर्वाण पूर्व250 वर्ष	7-21-169
22 वें नेमीनाथ	महा. नि. पू. 84,000 वर्ष	7-35-183
21 वें नमीनाथ	महा. नि. पू.5,84,000 वर्ष	7-36-184
20 वें मुनिसुरत	महा. नि. पू.11,84,000 वर्ष	7-37-185
19 वें मल्लिनाथ	महा. नि. पू.65,84,000 वर्ष	7-38-186
18 वें अरनाथ	महा. नि. पू. 1 हजार कोटी 6584000	7-39-187

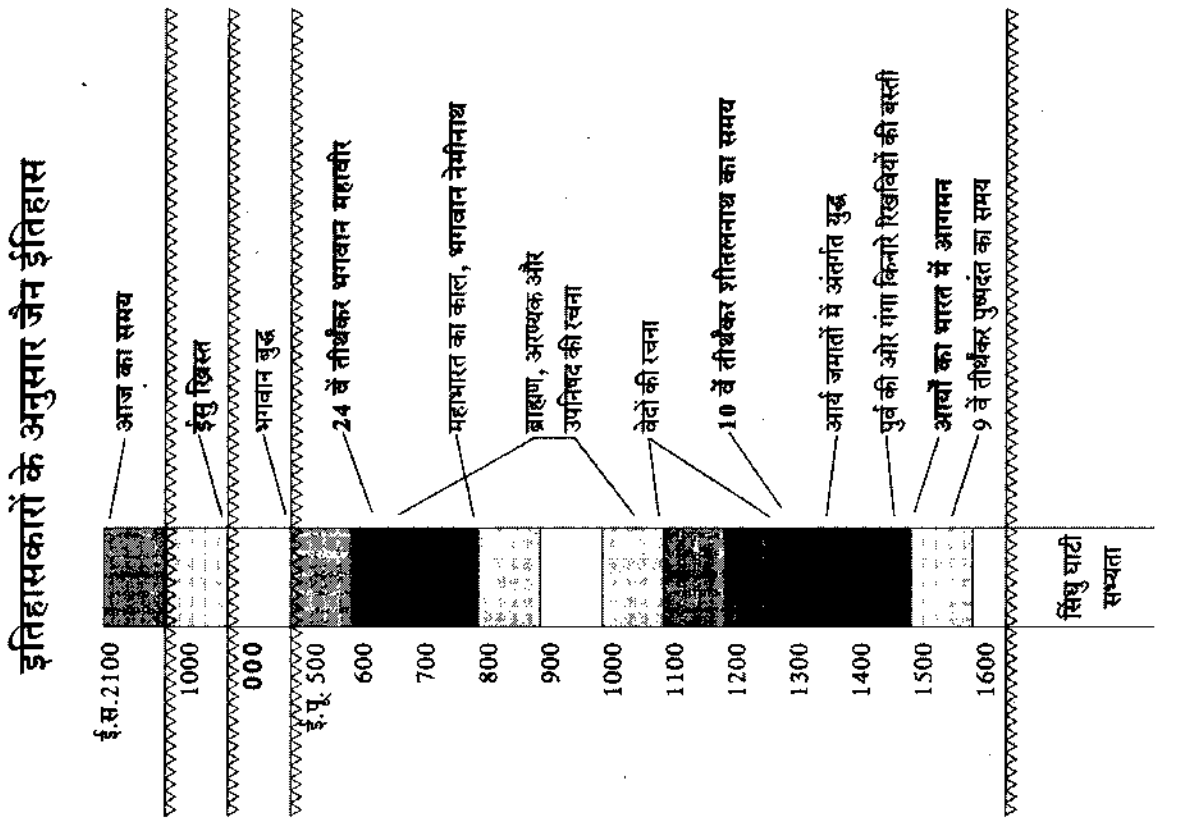

रामायण के कवि ने रावण को रिखवदेवीय मानकर उसे राक्षस के रूप में चित्रित किया हो। रामायण में आर्यों के नेता-राम, जैनों के बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत एक ही काल के प्रतीत होते हैं। उनके काल में ब्राह्मण (वैदिक) और श्रमण (तापस) व्यवस्था के बीच संभवत: मेल के, समन्वय के प्रयत्न किए गए हों।

(3) उपनिषद् (800 ई.पू. से 500 ई. पू.) उपनिषदों में रिखवदेवियों को अरहंत धर्मी (मुक्तात्मा के अनुयायी) नाम से संबोधित किया गया है। उपनिषदों में एक अरहंत धर्मी पार्श्व का (ई.पू. 877 से 777 ई.पू.) काशी के राजा के पुत्र के रूप में उल्लेख है, तथा दूसरे अरहंत धर्मी 'नेमी' के नाम का ज़िक्र है जो काले रंग वाले हिंदू देवता कृष्ण के रिश्ते में भाई बताए गए है। उपनिषदों में यज्ञ के बलि-कर्मकाण्ड की महत्ता की तीव्र प्रतिक्रिया मिलती है। ब्राह्मण लेखक श्रमणों के कर्म और संसार के दर्शन पर अधिक ध्यान देते प्रतीत होते हैं। पहली बार इस अवधि में उपनिषदों में आध्यात्मिक रहस्यवाद के दर्शन होते हैं। आत्मा और विश्वात्मा[30] की एकरूपता आध्यात्मिक रहस्यवादी विचारधारा के रूप में दिखाई देती है और पुनर्जन्म तथा शरीर छूटने पर आत्मा का दूसरे शरीर में प्रवेश, योग तपस्या एवं कठोर आत्म संयम के द्वारा आत्म शुद्धि की अवधारणा ब्राह्मणों की वैध, अधिकृत साधना के रूप में मिलती है। उदाहरणार्थ- मुंडक उपनिषद् में उल्लेख है कि बलि कर्मकाण्ड से न तो सत्य का ज्ञान होता है, न आध्यात्मिक मुक्ति-दोनों ही के लिए वह प्रभाव शून्य है।

"वे मूर्ख जो बलि कर्मकाण्ड में आनंद प्राप्त करते हैं, वे बारंबार जरा और मृत्यु के चक्र से गुज़रते हैं। जो वन में निष्ठा से तपस्या करते हैं, वे शांत-चित्त सत्य के ज्ञाता, भिक्षा वृत्ति से भ्रमण कर जीवन यापन करने वाले, वे सब वासनाओं से मुक्त हो जाते हैं और सूर्यद्वार से होकर वहां जाते हैं जहां निश्चित रूप से अनंत, अनादि अमर्त्य, नित्य आत्मा (आत्मन्)[31] का निवास है।"

आर्यों का पूर्व की ओर प्रस्थान

वर्तमान हिंदू धर्म का जन्म, विकास और उसका विभाजन 1500 ई.पू. से 700 ई.पू. ब्राह्मण धर्म से 800 वर्षों की कालावधि में हुआ। विभाजन मुख्यत: पुरोहित तंत्र, वर्ण व्यवस्था की ज्यादती के कारण हुआ जिसमें एक जाति को दूसरी जाति से नीच माना गया। यह विभाजन एक गंभीर समस्या बन गया जब आर्यों की फिर से हलचल बढ़ गई। इस बार उनका रुख पूर्व की ओर गंगा तट के मैदानों की ओर था। गंगा तट के निकटवर्ती रिखवीय गणराज्यों ने आर्यों को आगे बढ़ने से रोकने की बहुत कोशिश की, मगर आर्यों की शस्त्र सज्जित शक्तिशाली सेना, उनके घोड़ों, उनके रथों को रोकना संभव नहीं हुआ। आर्यों ने आसानी से गणराज्यों की लकड़ी की दीवारें, नगर के चारों ओर बनी प्राचीर आदि सब नष्ट कर डाला। वैदिक ऋचाओं में आर्यों के पूर्व की ओर प्रस्थान का, वर्णन है जिस में इन्द्र (पुरंदर) ने नगरकोट की दीवारें ध्वस्त कीं और अग्निदेव विश्वानरने सब कुछ जला दिया। आठवीं सदी ई.पू. आर्य सदानीरा नदी (अब गण्डक नदी) तक

30. छांदोग्य उपनिषद् 6.1-3, 12-14

पहुंच चुके थे। सदानीरा पटना शहर के उत्तर पूर्व की ओर है। अग्निदेव विश्वानर की सहायता उन्हें प्राप्त थी, जो आर्यों के आगे बढ़ने का मार्ग साफ़ करने के लिए रास्ते में सब कुछ जलाकर साथ चलते थे। शतपथ ब्राह्मण ग्रंथ में आर्यों के पूर्व की ओर बढ़ने का उल्लेख है। साथ ही राजकुमार विदेह माधव के द्वारा पटना के उत्तर पूर्व में स्थित विदेह की खोज का उल्लेख है। राजकुमार विदेघ माधह मार्ग के सब द्रविड़ राज्यों को भस्म कर आगे बढ़ते गए। सदानीरा नदी के पूर्व में स्थित मगध राज्य जीतना शेष था, और इसी कारण (आठवीं सदी के) ब्राह्मणों द्वारा उसे अशुद्ध समझा गया। यह वह स्थान था, जहां रिखवदेवीय, जिन्हें आर्यों द्वारा निगंथी (अनासक्त) कहा गया, सिंधु घाटी से सैंकड़ों वर्ष पहले निकालने के बाद स्थायी होकर बसे थे।

"तब से अग्निदेव, पृथ्वी को जलाता हुआ पूर्व की ओर बढ़ा। विदेह माधव ने उसका अनुसरण किया। अग्निदेव ने सब नदियों को जलाकर सुखा दिया। आज वह नदी जिसे सदानीरा कहा जाता है (आधुनिक गंडक नदी) उत्तर के पहाड़ों से बहती है जो अग्निदेव के जलाने से रह गई। उसे ब्राह्मणों ने पार नहीं किया। यह सोचकर कि अग्नि ने उसे जलाया नहीं, विदेह ने अग्निदेव से कहा - 'मैं कहां रहूं? इस नदी के पूर्व में तुम्हारा निवास हो"- अग्नि ने उत्तर दिया।
"अब सदानीरा के पूर्व में कई ब्राह्मण रहते हैं। ब्राह्मणों ने यज्ञबलि के माध्यम से अग्नि के द्वारा उसे शुद्ध कराया - हे अग्निदेव वैश्वानर अब आप दक्षिण में निगंथियों का देश शुद्ध करें।"

- शतपथ ब्राह्मण, अनुवाद जे. इगेलिंग सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट (1882-1900)

श्रमणों की पुन:जागृति

मगध राज्य को तो खतरा था ही, इस बार श्रमण धर्म भी संकट में था। बहुत से विद्वान मानते हैं कि ख़तरे के भय से भगवान महावीर द्वारा श्रमण धर्म का पुनरुत्थान हुआ। कुछ ही वर्षों के अंतर से गौतम बुद्ध द्वारा बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा हुई। उत्तर पश्चिम में आर्य सेनाओं के केन्द्रित होने पर निगंथियों ने सोचा होगा कि सशस्त्र संघर्ष के द्वारा आर्यों से युद्ध करना उनके लिए उचित नहीं। उन्हें अपनी अहिंसा की नीति में, उसकी नैतिक श्रेष्ठता में दृढ़ विश्वास था। उनका तपस्वी जीवन मनोबल बढ़ाने वाला था। फिर निगंथियों ने यह भी अनुमान लगाया होगा कि आर्यों की सेना में अधिकांश योद्धा क्षत्रिय वर्ण के हैं। ब्राह्मणों की तुलना में, वर्ण व्यवस्था में क्षत्रियों का स्थान दूसरा होने के कारण क्षत्रिय असंतुष्ट, नाराज थे। बल-सामर्थ्य एवं शक्ति-संपन्नता के बावजूद क्षत्रियों को निचला दर्जा दिया गया था जबकि ब्राह्मण का पुरोहित कर्म के कारण श्रेष्ठ - प्रथम स्थान था।

श्रमणों ने संभवत: इसी कारण द्वि-स्तरीय प्रति आक्रमण की योजना बनाई होगी। एक ओर, उन्होंने भगवान महावीर, गौतम और अन्य श्रमण नेताओं के माध्यम से अपने धर्म में नवजीवन का संचार किया और मोक्ष प्राप्ति तथा अनंत सुख की प्राप्ति श्रमण साधना द्वारा हो सकती है, इस पर ज़ोर दिया। अपनी नैतिक श्रेष्ठता को फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया। दूसरी ओर, उन्होंने आर्यों के सैनिक संगठन से क्षत्रियों को पद छोड़ने के लिए प्रोत्साहित किया होगा। उनका ज़ोर इस तर्क पर था कि श्रमण सब जीवों का समादर करते हैं। "श्रमण धर्म में कोई उच्च या नीच नहीं। सभी समान हैं। कोई भी, क्षत्रिय भी, श्रमण मार्ग का अनुसरण कर मोक्ष लाभ कर सकता है।"

यह बहुत महत्त्वपूर्ण ज़ोरदार संदेश था ऐसे प्रभावक संदेश से श्रमणों ने क्षत्रियों को आर्य धर्म से छूटकर श्रमणों की रक्षा करने में प्रवृत्त किया। ऐसा लगता है कि अहिंसा और जीवमात्र की समानता का श्रमण संदेश ब्राह्मणों के नैतिक भय का कारण रहा होगा। ब्राह्मण जो अब तक मांसाहारी थे, यज्ञ में बलि देकर मांस खाते थे, उन्होंने अब अहिंसा और शाकाहार अपनाकर श्रमणों का नीति श्रेष्ठता का दावा निष्प्रभ किया। अहिंसा हिंदू धर्म का मूल तत्त्व न होने से। हिंदू देवी-देवता फिर भी अस्त्र-शस्त्र से सज्जित रहे और यज्ञ में पशुबलि प्रथा को ब्राह्मणों का आशीर्वाद मिलता रहा। उपनिषद का तत्त्वदर्शन और श्रमणों का आचारसंहिता का सुंदर समन्वय केवल हिंदुओं के वैष्णव संप्रदाय में दिखाई देता है।

19

19. जैन धर्म : भगवान महावीर के पश्चात

जिन परिस्थितियों के कारण श्रमण धर्म के पुनरुत्थान के लिए हड़बड़ी और घबराहट फैली, उसके विषय में हम पिछले अध्याय में जान चुके हैं। आर्यों के आगमन के (1500 ईसा पूर्व) 800 वर्षों बाद आर्य सिंधु घाटी में बस चुके थे। उन्होंने प्रकृति पूजा से संबंधित विषय पर प्रचुर साहित्य-रचना की। उनका नुतन धर्म एक अभिजात दर्शन के रूप में ब्राह्मण धर्म में विकसीत हुआ।

ब्राह्मण धर्म-साहित्य के नवीनतम रूप, उपनिषदों में आत्मा संबंधी रिखवीय कल्पना, उसका पुनर्जन्म, तप-संयम द्वारा आत्म शुद्धि के तत्त्वों को सम्मिलित किया गया। ब्राह्मण धर्म के कारण एक तो कठोर जाति प्रथा विकसित हुई और दूसरी प्रथा, यज्ञ कर्मकाण्ड में पशु बलि दी जाने लगी, यज्ञ में देवताओं को प्रसन्न करने के लिए पशुओं के अलावा मानव बलि भी दी जाती थी[32] 'रिखवीय' गंगा किनारे के मैदानी इलाकों में बस चुके थे। वहां उन्होंने छोट-छोटे राज्यों की स्थापना की, नगर बसाए, मगर 700 ई.पू. में आर्यों ने उनके नगर जलाकर नष्ट कर डाले। बिहार-पूर्वी क्षेत्र में रिखवीयों का धार्मिक, आध्यात्मिक केंद्र था।

श्रमण धर्म की प्राथमिक नवरचना

श्रमणों के द्वारा किए गए सुधारों की सामाजिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का बिल्कुल सही आकलन संभव नहीं, क्योंकि ठोस प्रमाण बहुत कम मिलते हैं। फिर भी जिस मुख्य घटना के कारण सुधार करना पड़ा, वह घटना थी, आर्यों का पूर्व दिशा में श्रमण प्रदेश की ओर प्रस्थान। श्रमण परंपरा एवं धर्म का स्वरूप कठोर तपस्या का है। उसकी स्थापना जैन परंपरा के अनुसार प्रथम तीर्थंकर रिखव के द्वारा हुई थी। तेईसवें तीर्थंकर

32. आर्यों द्वारा द्रविड़ मूल के नाग एवं राक्षस वंश के लोगों की बलि देने की प्रथा थी जिसे पुरुषमेध यज्ञ कहा जाता था। अथर्ववेद, महाभारत, में इसके उदाहरण हैं। लेखक एन.आर. गुसेव की 'जैनिज़्म' किताब का अनुवाद अंग्रेज़ी में वाय.एस.रेडेकर, सिंधु पब्लिकेशन, मुंबई 1971, पृष्ठ 28. मूल पुस्तक : इंस्टीट्यूट ऑफ एंथनोग्राफी, अकादमी ऑफ साइंस, मास्को, 1970.

पार्श्वनाथ ने लगभग 850 ई.पू.,में साधुओं के लिए आचरण संहिता बनाई और कठोर आत्मानुशासन का आग्रह करते हुए कुछ सुधार करने का प्रयत्न किया था।

जैसे, उन्होंने समाज को संगठित किया और चार मूल व्रतों के पालन का आदेश दिया। (वे व्रत थे, दूसरों को आहत न करना, सत्याचरण, उतना ही लेना जितना दिया जाए और सांसारिक वस्तुओं का न्यूनतम संग्रह, अपरिग्रह) वैसे 700 ई.पू. में, आर्यों के पूर्व की ओर प्रस्थान करने से पहले तक, श्रमण दर्शन में सुधार करने की न तो आवश्यकता थी और न ही किसी तरह का उत्साह। मगर 700 ई.पू. के लगभग पूर्वी भारत में श्रमण धर्म के सुधार के कम से कम सात बार प्रयत्न किए गए। बौद्ध ग्रंथों में उनका विस्तृत विवरण दिया गया है।[33]

उक्त सात में से एक सुधार प्रयत्न **कश्यप** द्वारा किया गया। उन्होंने कहा, आचरण चाहे सदाचार का हो, या न हो, इससे आत्मा के पुनर्जन्म पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। क्योंकि कर्मफल तो मिलेगा ही। कर्म सिद्धान्त के प्रति कश्यप का इतना विश्वास था कि उनकी दृढ़ मान्यता थी कि कोई भी कर्म ऐसा नहीं है, जिसके परिणाम से बचा जा सकता है।

दूसरा सुधार प्रयत्न **मिक्खली गोसाल** द्वारा किया गया। मिक्खली ने 'आजीविका' पंथ की स्थापना की। उसने कश्यप के कर्म सिद्धान्त का समर्थन किया। एक नया शब्द गढ़ा, 'नियति' (प्रारब्ध) यानी ऐसा सिद्धांत जो पुनर्जन्म का कठोर नियमन करता है। उनका दृष्टिकोण सर्वथा भाग्यवादी था। उन्होंने दीक्षा दी कि आत्मा की नियति कर्मों के कठोर नियंत्रण में है और उसके लिए कुछ भी नहीं किया जा सकता।

तीसरा सुधार जो बौद्ध साहित्य में उल्लेखित है, वह **अजित केसकंबल** द्वारा किया गया है। केसकंबल पूरी तरह भौतिकवादी थे। उनका आत्मा में या ब्रह्माण्डीय शक्ति में विश्वास नहीं था। उनके विचार से सभी प्राणी चार तत्त्वों से निर्मित हैं-पृथ्वी (मिट्टी), जल, अग्नि, वायु। मरणोपरान्त मिट्टी, मिट्टी में, जल, जल में, अग्नि, अग्नि में, वायु, वायु में मिलकर सब समाप्त हो जाता है। न आत्मा, न पुनर्जन्म ! जैसी ज़िंदगी मिले, जीयो, आनंद से जीयो। मृत्यु के बाद कोई जीवन नहीं। आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि और उनकी विचारधारा में साम्य है, मगर इससे जीवन के सुख, दुख, असमानताएं, अन्याय इनका क्या स्पष्टीकरण हो सकता था? अत: समकालीन विचारकों ने, बुद्धिजीवियों ने तुरंत केसकंबल का भौतिकवाद निरस्त कर दिया।

चौथा सुधार **पकुध काच्चायन** का था। उनकी विचारधारा आगे जाकर हिंदू परंपरा द्वारा अपनाई गई और जिसने हिंदू वैशेषिक शाखा का निर्माण किया। उन्होंने मूल सात तत्त्वों की शिक्षा दी। उनके अनुसार भूमि, जल, अग्नि, वायु, सुख और दुख ये विश्व के मूलभूत सात तत्त्व हैं। ये तत्त्व न किसी के द्वारा बनाए गए हैं न ही किसी से शासित हैं। न इनका कारण है, न ये रचे गए हैं, न इनका स्रोत है, न ये नष्ट हो सकते हैं। एक तत्त्व के मूलभूत गुणों पर दूसरे तत्त्व का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

33. दिग्घ निकाय 1.47

पांचवे सुधारक थे **संजय बेलाठ्ठिपुत्त** इनका मानना था कि कोई भी संपूर्ण सत्य को नहीं जान सकता। सत्य तो मानव बोध से परे है। अत: सारे सिद्धांत जैसे कि ईश्वर के अस्तित्व के संबंध में, ईश्वर है या नहीं, से लेकर 'यथार्थ' आदि तक जितने सिद्धांत हैं, वे मात्र सिद्धांत ही हैं। अंत में उन्होंने बात, इस बात पर आकर ख़त्म की कि हम ईश्वर के अस्तित्व के विषय में या किसी ज्ञान या सत्य के विषय में चर्चा ही न करें।

छठे सुधारक थे **वर्धमान भगवान महावीर।** बौद्ध साहित्य में जिन्हें निगंठ्ठ नटपुत्त कहा जाता है। जैसा कि उनका दृष्टिकोण अनेकांतवादी था, उन्होंने अपने समकालीन सभी सुधारकों के तर्कों का अध्ययन किया और उन सभी तर्कों में से युक्तिसंगत तर्कों को अपने श्रमण दर्शन के संशोधित संस्करण में समाविष्ट किया।

भगवान महावीर की खासियत थी ईश्वर के अस्तित्व का इन्कार, जीव कर्मों के बंधन के नवतत्त्व और अनेकांतवाद। महावीर के विचार और उन्होंने किया हुआ श्रमण धर्म का पुनरूत्थान आज भी जैन धर्म के स्वरूप में मौजूद है।

अंतिम सुधारक भगवान महावीर के लगभग साठ वर्ष बाद **गौतम बुद्ध** हुए। उन्होंने भी औरों की तरह ईश्वर के अस्तित्व को नहीं माना। मोक्ष की कामना में तपस्या का अभ्यास किया, किंतु क़ठोर तपस्या छोड़ दी, क्योंकि उनकी राय में कठोर तप अतिरेक है, असंतुलित है और इसलिए उसे छोड़कर उन्होंने मध्य मार्ग अपनाया। उन्होंने भी आत्मा की अमरता को अस्वीकार किया।

अन्य और कई सुधार के प्रयत्न हुए किंतु श्रमण परंपरा के जैन धर्म और बौद्ध धर्म ही आज तक रहे। भगवान महावीर ने जहां विगत के साथ संबंधों को माना और संबंध बनाए रखे, वहां बुद्ध ने श्रमण धर्म से अपने संबंधों की जड़ें काट लीं और एक नए धर्म की स्थापना की। इसलिए भगवान बुद्ध माने गए 'धर्म संस्थापक, और 'भगवान महावीर' श्रमण परंपरा के - जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर !

भगवान महावीर

भगवान महावीर का जन्म 599 ई.पू. कुंडल ग्राम, बिहार में हुआ। बिहार उन दिनों श्रमण धर्म का केन्द्र था। उनके पिता सिद्धार्थ एवं माता त्रिशला राज परिवार के थे। श्रमण धर्म के अनुयायी थे। उन्होंने अपने पुत्र का नाम वर्धमान रखा। राजकुमार वर्धमान तीस वर्ष की उम्र में राज्य का त्याग कर आत्म शुद्धि के द्वारा मोक्ष की कामना से समीप स्थित वन में चले गए। वहां वन में उन्होंने कठिन तपस्वी जीवन बिताया और बारह वर्षों के बाद बयालीस वर्ष की उम्र में सर्वज्ञता प्राप्त की। जैनों का विश्वास है कि मन पर पूर्ण नियंत्रण पाने से सभी प्रकार के घातिया, मोहनीय आदि कर्मों से छुटकारा होता है, तब कहीं अनंतज्ञान की प्राप्ति होती है। अपने मन पर नियंत्रण पाना मनुष्य की श्रेष्ठतम विजय है। तभी तो 'महावीर' अर्थात महान विजेता की उपाधि से समाज ने उनको सम्मानित किया। अपने तापस जीवन के अनुभव उन्होंने लोगों को सुनाए। भगवान महावीर

को 'अर्हंत,' यानी विजेता (जिसने जीता) उपाधि दी गई। इसी से आगे जाकर 'जैन' शब्द उनके अनुयायियों के लिए प्रयुक्त हुआ।

भगवान महावीर ने पार्श्वनाथ द्वारा निर्दिष्ट तापस के उपयुक्त आचरण संहिता में संशोधन करते हुए ब्रह्मचर्य व्रत को जोड़ा। आजीवन मृत्युपर्यंत (527 ई.पू.)* वे 'आत्म शुद्धि के लिए जैन मार्ग' का उपदेश देते रहे। भगवान महावीर के जीवन काल में ही उनकी शिक्षा का व्यापक प्रसार पूर्वी प्रदेश में हो चुका था और गंगा तट के कई राज्यों से उन्हें जैन धर्म के लिए समर्थन मिला। उनके ग्यारह शिष्य (गणधर) थे, जिन्होंने भगवान महावीर की शिक्षा का प्रचार किया। उनके 5,27000 अनुयायी थे, उनमें से 1,59000 श्रावक थे और 3,18000 श्राविकाएं थीं। 14000 साधुओं को उन्होंने दीक्षा दी, उनके प्रमुख आचार्य इंद्रभूति गौतम थे। 36000[34] साध्वियों ने उनसे दीक्षा ली। आचार्या चंदनबाला साध्वियों की प्रमुख थीं। भगवान महावीर के उपदेशों को ग्रहण कर उनके धर्मसंघ के कई शिष्यों ने आध्यात्मिक प्रगति की, आध्यात्मिक ऊंचाइयों को प्राप्त किया। कल्पसूत्र में वर्णन है कि तीन सौ चौदह साधकों ने भाषा पर पूर्ण प्रभुत्त्व प्राप्त किया। 400 साधुओं ने जैन दर्शन पर पूरा अधिकार प्राप्त किया, 1300 ने परोक्ष दर्शन की क्षमता प्राप्त की, 700 लोगों ने सर्वज्ञता एवं 700 लोगों को वह शांति-सुख प्राप्त हुआ जो देवलोक में प्राप्त होता है। 500 साधुओं को दूसरे के मन के विचार, भाव पढ़ने का ज्ञान मिला और 700 साधु एवं 1400 साध्वियों को मोक्ष लाभ हुआ।[35]

जैन धर्म की प्राचीनता और विवाद

वह भगवान महावीर का ही संगठन कौशल था, जिससे उनका चतु:श्रेणी समाज, धर्म के इतिहास में एक शक्ति संपन्न समाज के रूप में उभरकर सामने आया। भगवान महावीर की उपलब्धियों को केंद्र में रखते हुए अब हम फिर से एक बार जैन धर्म की प्राचीनता पर विचार-विनिमय कर सकते है। हिंदूओं का कहना है कि भगवान महावीर ने जैन धर्म का आरंभ किया। उनकी दृष्टि से उनका कथन सत्य है। सच तो यह है कि जैन शब्द ही भगवान महावीर की उपलब्धियों के पश्चात, उनकी सर्वज्ञता के बाद, प्रचलन में आया। इसका अर्थ यह हुआ कि जैन धर्म भगवान महावीर से पुराना नहीं है। मगर जैन दृष्टिकोण से, यह सवाल शब्द का नहीं बल्कि शब्द से जुड़े धर्म और दर्शन का है। भगवान महावीर ने श्रमण धर्म का संशोधन किया, परिष्कार किया। श्रमण धर्म में आत्मशुद्धि का दर्शन तो बहुत प्राचीन काल से है, केवल पार्श्वनाथ से ही नहीं, बल्कि उससे भी पहले रिखव (ऋषभ) तक उसकी प्राचीनता है। इस दृष्टि से जैनों का दावा भी सत्य है। फिलहाल हम यह दावा भी 'निष्ठा' समझकर मान लें।

---

* भगवान महावीर का निर्वाण ई.पू. 527 में हुआ। अत: जैनों का पंचाग ई.पू. 527 से शुरू होता है। जैन संवत को वीर संवत कहा जाता है। इसके अनुसार ई.पू. 527 होता है वीर संवत 000. इस संवत का वीर संवत में रूपांतर इ.स. +527 - से कर सकते है। उदाहरणार्थ ई.स. 2005 हो जाता है वीर संवत 2005+527=2537

34. कल्पसूत्रम् 133-135
35. कल्पसूत्रम् 138-144

जैन धर्म का प्रसार

भगवान महावीर के ग्यारह गणधरों में से केवल दो, इंद्रभूति गौतम और सुधर्मन् अपने गुरु के पश्चात जीवित रहे। इंद्रभूति को भगवान महावीर की मृत्यु के तुरंत बाद सर्वज्ञान प्राप्त हुआ, और सुधर्मन् को बारह वर्षों बाद। दोनों ही भगवान महावीर के संदेश का प्रचार आजीवन, अपनी मृत्युपर्यंत बयानवे और सौ साल की उम्र तक करते रहे। सुधर्मन् के शिष्य जंबूस्वामी, धर्मशास्त्र पारंगत थे। उन्होंने सर्वज्ञान प्राप्त किया था। जंबूस्वामी सर्वज्ञान प्राप्त करनेवाले गुरुओं में अंतिम माने जाते हैं (अर्हत केवली) धर्मशास्त्र, साधुओं की चार पीढ़ियों तक मौखिक रूप से हस्तांतरित हुई। उनमें से अंतिम, भगवान महावीर के निधन के एक सौ सोलह वर्षों बाद भद्रबाहु थे।

प्राचीन भारत में धर्म प्रचार मुख्यत: राज्याश्रय पर निर्भर रहा। उत्तर भारत के सोलह महा जनपदों, मुख्य राज्यों ने, जो पूर्वी प्रदेशों में थे, उन्होंने श्रमण धर्म स्वीकार किया था। उनमें से चार राज्यों (काशी, मगध, वज्जी और मल्ली) के राजपरिवार पार्श्वनाथ के उपासक थे। भगवान महावीर चूंकि वज्जी राज्य के थे इसलिए उक्त चारों राज्यों में जैन धर्म को राजाश्रय मिला। अन्य श्रमण समान राज्यों में भगवान महावीर शायद उतने सफल नहीं हुए। इसका कारण अन्य श्रमणों (आजीविका और बौद्ध) द्वारा समानांतर रूप से प्रतिस्पर्धात्मक प्रयत्न किए जाते रहे !

ई.पू.-1500 में सिंधु घाटी में आर्यों के आगमन के साथ श्रमणों को अन्यत्र प्रस्थान करना पड़ा था। इस बार शुंग वंश के ब्राह्मण राजाओं की पूर्व में स्थित राज्यों पर विजय हुई। इस क्षेत्र के श्रमणों के लिए जीवन कठिन हो गया और उन्हें पुनः प्रस्थान करना पड़ा। ई.पू. 150 में (वीर संवत 377 में) कुछ जैन समुद्र किनारे के रास्ते से होकर दक्षिण पश्चिम की ओर गए तो कुछ जैन गंगा तट से उत्तर-पूर्व की ओर व्यापार मार्गों से गए। दक्षिण में देशांतरित श्रमण समूहों का अच्छा स्वागत हुआ। राज्याश्रय पाकर श्रमण धर्म का अच्छा विकास हुआ। वर्तमान आंध्र, तमिलनाडु, कर्नाटक और महाराष्ट्र में जैन धर्म को राजाश्रय और महत्त्व भी प्राप्त हुआ।

जैन धर्म का विभाजन

भगवान महावीर के प्रयत्नों को सबसे अधिक धक्का संभवत: सदियों बाद उनके ही अनुयायियों से लगा। ई.पू. 360 (वीर सं. 167) में उत्तर-पूर्व भारत में विशेषत: मगध क्षेत्र में, जो उस समय जैन धर्म का गढ़ था, भयंकर सूखा और अकाल पड़ा। जैन साधुओं के एक दल ने आचार्य भद्रबाहु के नेतृत्त्व में दक्षिण में, जिसे आज कर्नाटक कहा जाता है, देशांतर का निश्चय किया। दूसरे ने आचार्य स्थूलभद्र के साथ पाटलीपुत्र में (वर्तमान पटना, बिहार) में रहना तय किया। नए क्षेत्र में (दक्षिण में) श्रमण धर्म के प्रचार के समय साधुओं ने अलिखित धर्मशास्त्र की कर्मकाण्ड संबंधी विधियों में परिवर्तन करते हुए अपनी ओर से कुछ नया जोड़ा। इस परिवर्तन से स्थूलभद्र आशंका से स्तब्ध रह गए और भद्रबाहु की मृत्यु के बाद उन्होंने वीर सं. 200 में 'श्रमणों की परिषद' (327 ई.पू.) पाटलीपुत्र में आमंत्रित की और उसमें भद्रबाहु के प्रमुख शिष्य बलभद्र

को सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित किया। मगर बलभद्र परिषद् में शामिल नहीं हो पाए।* फिर तो श्रमण समाज में गंभीर मतभेद उत्पन हुआ। कुछ साधुओं ने स्थूलभद्र द्वारा संपादित धर्मग्रंथ को स्वीकार किया और कुछ ने उसके वर्चस्व को नहीं माना। प्रत्येक का दावा था कि अन्य संप्रदाय ने भगवान महावीर की मौलिक वाणी में परिवर्तन किया है। जैन श्रमण समाज में विभाजन की, अलगाव की शुरुआत यहां से हुई।

ईसा की प्रथम शताब्दी में देश में जैनों के स्थानांतरण और यहां-वहां बिखरने से दोनों संप्रदायों के बीच में कर्मकाण्ड को लेकर गंभीर मतभेद होने लगे। ईसवी सन् 82 में शिवकोटि ने जैन नग्न साधुओं की एक पृथक श्रेणी बनाई, इससे दोनों दलों में और भी गहरी दरार पड़ी।[36] मगर दो संप्रदायों में अंतिम विभाजन संभवत: वल्लभीपुर (गुजरात) में हुआ होगा। वहां राजा लोकपाल के आदेश से सभी श्रमण साधुओं को पूरे वस्त्र पहनना अनिवार्य किया गया। इस आदेश से असहमत साधु पश्चिमी तट से होकर, दक्षिण में अपने साथियों से मिलने गए जो पूर्वी समुद्र किनारे से होकर वहां पहले से बस चुके थे। जैन धर्म इस प्रकार दो मुख्य संप्रदायों में विभक्त हुआ-दिगंबर और श्वेतांबर, जिसमें दिगंबर साधु निर्वस्त्र रहते हैं और श्वेतांबर साधु, सफेद सादे वस्त्र पहनते हैं। यह विभाजन आज भी प्रचलित है।

दोनों संप्रदायों में आगे जाकर और उपविभाजन हुआ। प्रत्येक संप्रदाय एक-दूसरे से स्वतंत्र था। प्रत्येक संप्रदाय में अन्य संप्रदाय से छोटी-मोटी क्रियाकाण्ड की बातों में अंतर था। मगर दर्शन के स्तर पर उनमें कोई बड़ा अंतर नहीं था। जैन धर्म का कोई भी छात्र सरलता से निष्कर्ष निकाल सकता है कि दो संप्रदायों के बीच लंबे समय से चले आ रहे छोटे-मोटे मतभेद बहुत ही मामूली हैं, उनसे साधुओं का अहंकार और अनुयायियों का अज्ञान स्पष्ट है। दूसरी तरफ यह भी कहा जा सकता है कि श्रमण समाज का विभाजन 'अनेकांतवाद' का प्रत्यक्ष उदाहरण है, जहां भगवान महावीर के मार्ग की विभिन्न व्याख्याएं हो सकती हैं, उनका समादर किया जाता है और सभी संप्रदायों द्वारा उनका पालन होता है।

दो संप्रदायों के बीच विवाद का मुख्य मुद्दा है अपरिग्रह का सिद्धांत पालन। दिगंबर संप्रदाय साधुओं के नग्न रहने का समर्थक है। उनके विचार में साधु लज्जा और काम से रहित होकर मोक्ष पा सकते हैं। अपरिग्रह अर्थात् कुछ भी न रखना, वस्त्र भी नहीं। पूर्ण नग्नता संपूर्ण अपरिग्रह का द्योतक है और मोक्ष के लिए आवश्यक है। यह दिगंबर संप्रदाय की मान्यता है। श्वेतांबर संप्रदाय अपने साधुओं को अनुमति देता है कि वे सफ़ेद, सूती बिना सिले कपड़े के दो टुकड़ों से शरीर ढांक कर रखें, वस्त्र से शरीर ढांकना परिग्रह नहीं है। उनका (श्वेतांबर संप्रदाय) कहना है कि दिगंबर साधु मोरपंखी और कमंडल लेकर चलते हैं वह भी परिग्रह

---

* अन्य स्रोत के अनुसार, भद्रबाहु, जो समस्त आगम शास्त्रों के ज्ञाता थे, नेपाल में थे और स्थूलभद्र को उनसे शास्त्र अध्ययन करने पाटलीपुत्र से नेपाल भेजा गया था। मगर वे आगम शास्त्रों का केवल एक भाग ही सीख सके। बाद में स्थूलभद्र ने आगम शास्त्रों के एकीकृत संस्करण तैयार करने के लिए श्रमणों की परिषद् आमंत्रित की, किंतु बलभद्र उसमें उपस्थित नहीं हो सके थे।

(36) शुब्रिंग वाल्थेर: 'जैन सिद्धांत', जर्मन से अनुवाद, बनारसीदास मोतीलाल, 1962, पृ-26-27

न माना जाए क्यों? 17 वीं सदी के साधु यशोविजयजी ने स्थिति स्पष्ट की- ''अपरिग्रह तो मन की भावना है। सफ़ेद वस्त्र धारण करना या मोरपंखी साथ रखना इसका अर्थ यह नहीं कि साधु की उन वस्तुओं में आसक्ति है।''[37]

अपरिग्रह की इस व्याख्या का परिणाम दोनों संप्रदायों में महिलाओं की स्थिति पर पड़ा। दिगंबर मानते हैं, चूंकि महिलाएं समाज में निर्वस्त्र नहीं घूम सकतीं अत: अपरिग्रह का पूर्णपालन संभव नहीं होता और इसी कारण वे मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकतीं। महिलाओं के लिए दिगंबरों का ऐसा विचार बहुत बाद के काल में रहा होगा। दिगंबर संप्रदाय के तीसरी-चौथी सदी के महत्त्वपूर्ण ग्रंथों में स्पष्ट लिखा है कि स्त्री, पुरुष दोनों ही मोक्ष के अधिकारी हैं।[38]

श्वेतांबरों का मानना है कि पुरुष, स्त्री दोनों समान रूप से आध्यात्मिक सफलता प्राप्त कर सकते हैं। वस्तुत: यहां संकेत 'मल्ली' नाम की महिला की ओर है, जो उन्नीसवीं तीर्थंकर कहलाईं।

अपरिग्रह की व्याख्या में दूसरा अंतर जैन मंदिरों की तीर्थंकरों की मूर्तियों से स्पष्ट है। दिगंबर मंदिरों में मूर्तियां अनलंकृत एवं ध्यानस्थ तपस्वी की मुद्रा में होती हैं, जबकि श्वेतांबर मंदिरों में मूर्ति प्राय: मुकुट पहने एक राजा की भांति अलंकृत, सज्जित होती है।

अपरिग्रह से शुरू होकर विवाद और आगे सर्वज्ञान-संपन्न अर्हंत की प्रकृति को लेकर चला। जैन धर्म सिद्धांत के अनुसार सर्वज्ञान की स्थिति तब प्राप्त होती है जब आत्मा के सभी घातिया कर्मों का क्षय होता है। तब आत्मा सभी कषायों से मुक्त होकर कार्मिक कणों को आकृष्ट नहीं करती। कई मामलों में अघातिया कर्म भी तत्काल नष्ट हो जाते हैं। आत्मा इस प्रकार सब कर्मों से मुक्त, शरीर त्यागकर सिद्धलोक जाती है। कुछ थोड़े सर्वज्ञ त्रिकालदर्शी अर्हंतों की आत्मा फिर भी प्राप्त शरीर में रहती है, क्योंकि उनके अघातिया कर्म (तीर्थंकर कर्म) तत्काल नष्ट नहीं होते। दिगंबरों के अनुसार सर्वज्ञ, त्रिकालदर्शी अर्हंत यद्यपि मानव शरीर में ही रहते हैं, तथापि उनकी कोई शारीरिक क्रियाएं नहीं होतीं जैसे भोजन करना, चलना, बोलना आदि। अपने शरीर से संज्ञारहित होकर अपनी सुध भूलकर वे अनासक्त भाव से ध्यानस्थ मुद्रा में बैठे रहते हैं। उनके अंतर से एक 'दिव्य ध्वनि' निकलती है जो उनके संदेश को ग्राहक मन तक पहुंचाती है। श्वेतांबर 'दिव्य ध्वनि' की धारणा नहीं मानते बल्कि उनका मानना है कि सभी तीर्थंकर चलते, फिरते, बोलते हैं और अपने अनुयायियों को आदेश देते हैं। 'अर्हंत' इस अर्थ में भिन्न हैं कि सर्वज्ञान संपन्न होने के कारण उनकी आत्मा की अनंत ऊर्जा किसी भी घातिया कर्म को उनकी आत्मा का स्पर्श करने से रोकती है। अब उनकी आत्मा पुन: कभी दूषित नहीं होगी।

(37) मुनि यशोविजयजी, धर्म संग्रह टीका, सत्रहवीं सदी.

(38) देखें - (1) Schubring. W. Kleine Schriften Wiesbaden, 1977, page 344-61
(2) मालवनिया दलसुख : 'जैन धर्म' कुछ निबंध, जयपुर, 1986, पृ.8.

दोनों संप्रदाय अपरिग्रह की अपनी-अपनी व्याख्या के आग्रह में अनेकांतवाद के सिद्धांत को अनदेखा कर गए। सिद्धांत-समन्वय स्थापित करने का बड़ा सफल साधन है- अनेकांतवाद! दिगंबर और श्वेतांबर के शास्त्रों के उनके अपने-अपने संस्करणों में बहुत कम अंतर है, लेकिन दोनों संप्रदायों के कट्टर हठधर्मी, एक-दूसरे के पाठांतर की प्रामाणिकता को नहीं मानते। दोनों संप्रदायों में कुछ विवाद इस बात को लेकर है कि क्या मोक्ष की खोज में जाने से पहले भगवान महावीर विवाहित थे या नहीं। यह विषय विशुद्ध अध्ययन क्षेत्र का है। इसका आम जनता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए क्योंकि सामान्य जनों का इस मुद्दे से कोई संबंध है भी नहीं, किंतु प्राय: आम जनता अपने साधू-मुनियों के प्रभाव में आकर बहक जाती है। फिर भी दोनों संप्रदायों के बीच परस्पर सौहार्द्र एवं सहयोग के संबंध हैं। जैन मंदिरों और पवित्र स्थलों के स्वामित्व का बहुचर्चित विवाद भारत में कुछ समाजों में हुआ था किंतु उसकी समीक्षा विपरीत अर्थ में नहीं की जानी चाहिए। इसके अलावा भारत से बाहर जैनों की संख्या क्रमश: बढ़ रही है। इस कारण साधु, मुनियों से उनका संपर्क बहुत कम हो पाता है। भारत से बाहर, संप्रदायों के बीच के विवाद या मतभेद, कोई अर्थ नहीं रखते, फिर भी यहां के दोनों संप्रदाय कभी, आपसी मतभेद मिटाकर आपस की दूरियां कम करेंगे, ऐसा कहना जल्दबाज़ी होगी।

दिगंबर संप्रदाय का विकास

दोनों दिगंबर और श्वेतांबर संप्रदायों में परस्पर मतभेद को लेकर उपशाखाओं के रूप में विभाजन होता रहा। दिगंबर दक्षिण में थे और श्वेतांबर उत्तर-पश्चिम में। दोनों संप्रदायों के साधु दावा करते रहे कि मूल संघ से केवल वे ही अधिकृत रूप से, भगवान महावीर के समय से, एक लंबी गुरु-शिष्य परंपरा के माध्यम से जुडे हुए हैं। भगवान महावीर द्वारा दिखाए गए सच्चे मुक्तिमार्ग को आधार मानने वाले मूल संघ के कहलाए और अन्य जो उस परंपरा के नहीं थे उन्हें मिथ्या (सूडो) जैन माना गया।[39] उदाहरणार्थ- दसवीं सदी में देवसेन लिखित दिगंबर ग्रंथ में बौद्धों को (पार्श्वनाथ के अनुयायी) कहा गया। श्वेतांबर और यपानिया को[40] (एक जैन संप्रदाय, जो दिगंबर और श्वेतांबर में समझौता कराने के लिए इच्छुक था।) 'सांप्रदायिक उत्पाती' शरारती पंथ माना गया। उन्होंने अन्य दिगंबर संप्रदायों की कड़ी आलोचना की। जैसे कि मथुरा, द्रविड़, काष्ठसंघ संप्रदाय। इनमें से दूसरी सदी में मथुरा संप्रदाय की स्थापना रामदेव ने की, पांचवीं सदी में व्रजनंदिन ने द्रविड़ संप्रदाय की तथा सातवीं सदी में काष्ठसंघ की स्थापना कुमारसेन ने की। इन संप्रदायों के लिए देवसेन के क्रोध का कारण था, उक्त तीन संप्रदायों द्वारा मोरपंखी की बुहारी साथ न रखना। देवसेन का आग्रह था कि सच्चे (मूल) दिगंबर साधु के लिए मोरपंखी की बुहारी रखने का आदेश है।

(39) सोनी पन्नालाल (सं) श्रुतसागर, शतप्रभृत आदि संग्रहम, 16वीं सदी, मुंबई, 1920.

(40) उपाध्याय ए.एन., 'यपानिया संघ' एक जैन संप्रदाय, मुंबई, वि.वि., समाचार पत्र, मुंबई, 'More Light on Yapania Sangh' भंडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट, पुणे.

भट्टारक

हम पहले बता चुके हैं कि दक्षिण में जैन धर्म राज्याश्रय पाकर समृद्ध हुआ। इस कारण राजपरिवारों पर साधुओं के प्रभाव के साथ-साथ धर्म के नाम पर धीरे-धीरे संप्रदायों को भूमि का दान भी पर्याप्त मिलने लगा। वनों में रहने वाले साधु ऊपरी तौर पर जनसाधारण को आध्यात्मिक मार्गदर्शन देने के बहाने धीरे-धीरे अर्द्धगृहस्थ के ढंग से रहने लगे। कुछ वरिष्ठ साधु तो अपनी महत्ता, अधिकार, सत्ता दर्शाने के लिए फौजी सिपाहियों से घिरी शाही पालकी पर थे। एक जैन साधु के लिए ऐसा व्यवहार निश्चित ही अनुचित है। इसके लिए साधुओं की कड़ी आलोचना की गई और बारंबार चारित्रिक पतन का लांछन भी उन पर लगाया गया। इसे दुर्भाग्य ही मानना होगा कि इससे सामान्य जनता और साधुओं के बीच संबंध बिगड़ते हैं। समाज भी उनके आध्यात्मिक मार्गदर्शन से वंचित होता रहा।

ऐसी स्थिति में आवश्यक हो गया कि एक ऐसी सम्माननीय, अधिकार-संपन्न पदस्थापना की जाए जो अध्यात्म क्षेत्र में मार्गदर्शन करे एवं धन की, अनुदान की, भवन और दान में प्राप्त भूमि संपत्ति की व्यवस्था भी करे। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए एक नई धार्मिक अधिकार प्राप्त संस्था के रूप में भट्टारक का उदय हुआ। लगभग सभी सामान्य कार्यों, व्यवहार के लिए 'भट्टारक' एक साधु की भांति होगा, विद्वान, ब्रह्मचारी, किंतु साधु के व्रत नहीं लेगा अथवा औपचारिक रूप से दीक्षित नहीं होगा। आम जनता में एक अधिकारी प्रशासक के रूप में रहने के लिए स्वतंत्र होगा। इस प्रकार भट्टारक पद एक अधिकारी व्यक्ति का बना, जो कार्य संपन्न कराएगा, मठों का प्रशासन देखेगा, अन्य धार्मिक अचल संपत्तियों की व्यवस्था देखेगा, शास्त्रों की रक्षा करेगा एवं पुस्तकालयों की सुरक्षा करेगा। राजदरबार में जैन धर्म का प्रतिनिधित्व करेगा। राज्य के साथ अथवा अन्य धर्माधिकारियों के साथ जैन प्रवक्ता की हैसियत से बात करेगा। धार्मिक शिक्षा का निरीक्षण करेगा और अपने संप्रदाय के लोगों की समस्या, आचरण पर नज़र रखेगा।

ऐसी पदस्थापना, सत्ता की भूमिका के साथ, तो संभव ही था कि व्यक्ति को सिंहासन, अत्यधिक दिखावा, उत्सव, और रागरंग की चाहत हो, फिर भी यह पद ठाठबाट और दिखावे से समाज की आलोचना का विषय न बने, क्योंकि सत्य तो यह है कि भट्टारक एक त्यागी साधू-मुनी न होकर सत्ता प्राप्त मान्य अधिकारियों में से एक था। फिर भी इस पद की शान, ठाठबाट, दिखावा और व्यापक अधिकारों के कारण भट्टारक का व्यवहार सरल प्रवृति के सीधे स्वभाव वाले जैनियों के लिए सहन शक्ति की सीमा से बाहर हो गया। अंततः, भट्टारक की सत्ता को चुनौती की शुरुआत उत्तर भारत से हुई। बनारसीदास सोलहवीं सदी के एक जैन कवि आगरा में थे।[41] उनका निश्चित मत था कि ब्राह्मणों की तरह भट्टारकों ने कर्मकाण्ड पर एकाधिकार किया है और इस तरह जनता पर वे अपना रौब गांठते हैं। उन्हें यह भी विश्वास था कि जैन मंदिरों में भेंट चढ़ाए जाने वाले ढेरों फल-फूल, मिठाई से बहुत बड़े पैमाने पर पेड़, पौधों के प्रति हिंसा होती है। ठीक वैसी ही, जैसी हिंदुओं के कर्मकाण्ड में होती है। उनके सुधार-प्रयत्नों का परिणाम यह हुआ कि भट्टारकों का महत्त्व बहुत

(41) जैन रवीन्द्र कुमार : कविवर बनारसीदास (हिन्दी), भारतीय ज्ञानपीठ पब्लिकेशन्स, वाराणसी.

कम हो गया, उनकी संख्या छत्तीस से घटकर मध्यकाल में केवल चार रह गई। वैसे इस पद को फिर से स्थापित करने के प्रयत्न किए जा रहे हैं। छः भट्टारकों के पद अभी भी विचाराधीन हैं।

हाशिए पर जैन

एक समय था, जब दक्षिण के राज्यों में - आंध्र, कर्नाटक, तमिलनाडु और महाराष्ट्र में - जैन धर्म ने महत्त्व का, अधिकार का स्थान प्राप्त किया था। मगर आज इन प्रदेशों में जैन समाज हाशिए पर है। इस पतन के कई कारण दिए जा सकते हैं, इनमें ''संप्रदायों के बीच लड़ाई और नेतृत्त्व की कमी'' दो अंदरूनी कारण हो सकते हैं। और बाहरी कारणों में कट्टरतावादी हिंदू पुनरुत्थान और 'मुस्लिम आक्रमण' मुख्य कारण थे। आठवीं सदी के बाद से जैनों को अक्सर हिंसात्मक बदले की भावना से प्रेरित संघर्षों का सामना करना पड़ा। कुछ हिंदू मंदिर जैसे मदुरै का मीनाक्षी मंदिर और कालुगमलाई (ज़िला तिरुनेलवेली) स्थित मुरुगन मंदिर में आज तक जैनों की सामूहिक हत्या के दृश्य वहां की दीवारों पर देखे जा सकते हैं। कर्नाटक में बेलगाम क़िले की प्राचीर की दीवारों पर पच्चीकारी किए गए पत्थरों से स्पष्ट है कि कर्नाटक में तीन सौ बावन जैन मंदिरों को मुस्लिम आक्रमणकारियों ने नष्ट कर दिया था, उन्हीं मंदिरों के पाषाण खंड किले की दीवारों में लगाए गए थे। जैन मंदिरों का हिंदू मंदिरों में जो ज़बरदस्ती परिवर्तन हुआ है, उसका प्रत्यक्ष प्रमाण मंदिरों की दीवारों में - कोल्हापुर के महालक्ष्मी मंदिर की दीवारों, प्राचीर में प्लास्टर की गई मीनारों में और मुरुगन कालुगमलाई के ऐयनार मंदिर में - देखा जा सकता है। इक्कीसवीं सदी में, धर्म-निरपेक्ष और मानव अधिकारों की संस्कृति में भी ऐसे सांस्कृतिक विनाश के स्पष्ट प्रत्यक्ष मामलों में जैन समाज कोई कार्यवाही नहीं कर सकता, यह प्रमाण है इस बात का कि दक्षिण में जैन धर्म हाशिए पर रह गया है।

जैन समाज के इस प्रकार हाशिए पर होने के कारणों में संभवतः जैन समाज में व्याप्त कर्मकाण्डी नातन धर्मपरायणता और सुधार के बारे में लकीर के फ़कीर सदृश मनोवृत्ति का होना है। पहले भी देवसेन ने दिगंबर संप्रदाय के एक बहुत ही मामूली सुधार की हंसी उड़ाई थी, जब मोरपंख की बुहारी को छोड़ने की बात की गई थी। ऐसी कट्टरता से कभी सुधार नहीं हो सकता और समाज को साधुओं का मार्गदर्शन, नेतृत्त्व नहीं मिलता, क्योंकि साधुजन धीरे-धीरे समाज से दूर होते जा रहे हैं, इसलिए कि वे समाज की कठोर आलोचना का लक्ष्य न बनें। 'भट्टारक' पद से भी जैन समाज का गौरव प्राप्त करने में कोई विशेष सफलता नहीं मिली।

पिछली सदी में दो अच्छे विकास कार्य हुए, जिनसे जैन समाज को नई ऊर्जा मिलेगी। इनमें से एक है 'दक्षिण भारत जैन सभा' की स्थापना और दूसरी उसकी नेतृत्व की भूमिका। इस संगठन द्वारा समाज के प्रमुख संभ्रान्त व्यक्तियों ने सारी ज़िम्मेदारियां उठाईं जो पहले भट्टारक के अधिकार में थीं। इस संगठन ने काफी प्रशंसनीय प्रगति की है- दिगंबर प्रकाशन, शिक्षा, मंदिर प्रबंधन और समाज का प्रतिनिधित्व और यहां तक कि कुछ सुधार कार्य भी किए हैं।

दिगंबर उपसंप्रदाय

कानजी स्वामी पंथ

दूसरा मुख्य विकास कार्य दक्षिण में नहीं, श्वेतांबरों के गढ़ पश्चिम गुजरात में हुआ। कानजी, श्वेतांबर संप्रदाय के प्रभावशाली विद्वान साधु थे। स्थानकवासी उपसंप्रदाय (पृष्ठ 195) के कई सुधारवादी उनके अनुयायी थे लेकिन उन्होंने आचार्य कुंदकुंद की दिगंबर दार्शनिक विचारधारा को स्वीकार किया। स्थानकवासी परिवार में उनका जन्म हुआ। चौबीस साल की उम्र में उन्हें स्थानकवासी साधु की दीक्षा दी गई। शीघ्र ही अपनी विद्वता और अद्‌भुत प्रवचन क्षमता के कारण उनका महत्त्व, प्रभाव व्यापक हुआ। पैंतालीस साल की उम्र में, पालिताना (गुजरात) के पास सोनगढ़ में एक सार्वजनिक समारोह में कानजी ने (तब तक वे कानजी स्वामी नाम से प्रसिद्ध हो चुके थे) घोषणा की कि कुंदकुंद, जो दूसरी सदी में दिगंबर संप्रदाय के रहस्यवादी परंपरा के शिक्षक थे, उन्हीं के प्रभाव से अब वे स्थानकवासी उपसंप्रदाय की साधु श्रेणी को त्यागकर, एक सामान्य दिगंबर मात्र रहना चाहते हैं।[42]

कानजी स्वामी ने कर्मकाण्ड पर ज़ोर नहीं देने की बात कही। आहार संबंधी नियंत्रण और जैन धर्म के आध्यात्मिक अभ्यासों पर बल देने की बजाए आत्मा की प्रकृति को समझने की बात कही। उन्होंने कहा आत्मा ही एकमात्र अखंड सत्य है। इसलिए उसे ही हमें समझना चाहिए। कर्मकाण्ड पर ज़ोर देना ज़रूरी नहीं है। उनकी शिक्षा का दक्षिण की धर्मपरायण और सनातन प्रवृत्ति पर कितना और कैसा परिणाम होगा यह फिलहाल कहना कठिन है। फिर भी आचार्य कुंदकुंद के विचारों की शिक्षा की जैन समाज में बहुत प्रतिष्ठा है। उनकी लिखी पुस्तक 'समय-सार' जैन परंपरा में धर्मग्रंथ की भांति सम्मानित और पूज्य है।[43] मगर यह जानते हुए भी कि कानजी स्वामी कुंदकुंद के विचारों को दोहरा रहे हैं और बीसवीं सदी के अत्यंत पूज्य सम्मानित दिगंबर मुनि शांतिसागरजी ने कानजी स्वामी के विचारों का स्वागत किया है, यह देखकर दिगंबर समाज में बहुत बड़ी खलबली मच गई है।

फिलहाल कानजी स्वामी और उनके अनुयायी, इसमें सोनगढ़ के तीन सौ परिवार शामिल हैं, एक उपसंप्रदाय के रूप में जाने जाते हैं जिसका नाम है 'कानजी स्वामी पंथ' जो दिगंबर संप्रदाय में सुधार आंदोलन का नेतृत्त्व कर रहा है। सन् 1980 में अपनी मृत्यु तक कानजी स्वामी ने स्वयं के नाम के साथ किसी भी संप्रदाय के नाम का लेबल स्वीकार नहीं किया। वे यही कहते रहे कि वे केवल तीर्थंकरों की शिक्षा और जैन धर्म के सच्चे मार्ग का प्रचार कर रहे हैं। उनके भक्तों ने सोनगढ़ में दिगंबर स्वाध्याय मंदिर के नाम से बहुत भव्य वास्तु का निर्माण किया है और वहां अब तीर्थंकरों की मूर्तियां स्थापित हैं। नित्य पूजा की जाती है। जबकि पहले अपने स्थानकवासी संप्रदाय की भावना के अनुसार वे मूर्तिपूजक नहीं थे। उनके आलोचक कानजी स्वामी

(42) भारिल्ल एच.: युगपुरुष श्री कानजी स्वामी, जयपुर, 1981

(43) कुंदकुंद : समयसार, अर्द्धमागधी पाठ्य, अनुवाद-ए.चक्रवर्ती, भारतीय ज्ञानपीठ पब्लिकेशन्स्, वाराणसी, पांचवां संस्करण, 2001

इस दावे का उपहास करते हैं कि कानजी स्वामी अपने पूर्व जन्म में कुंदकुंद से मिले थे और अब वे तीर्थंकर के रूप में पुनर्जन्म लेंगे।

श्वेतांबर संप्रदाय का विकास

पार्श्वनाथ के समय में मथुरा प्राचीन नगर था और (इ.पू. 150 में) बिहार से उत्तर-पश्चिम भारत जाने वाले जैन दलों का मुख्य पड़ाव था। अभी हाल ही में खुदाई में निकले 'कंकाली स्तूप' पर खुदा हुआ लिखा है (157 ई.) कि "एक श्राविका द्वारा पार्श्वनाथ के काल में वह स्मारक बनाया गया।"[44]

उन दिनों मथुरा बहुत चहल-पहल वाला व्यस्त नगर था। वहां जैन साधुओं ने अपने को गुरुक्रमानुसार विभिन्न समूहों में संगठित किया था। आज भी श्वेतांबर साधुओं में वही व्यवस्था प्रचलित है। उस युग का एक अन्य प्रभाव यह भी पड़ा कि जैन श्रावकों ने व्यापारी एवं उद्योगपति बनना पसंद किया और यह सिलसिला आज भी जारी है। मथुरा नगर पूर्व-पश्चिम, दक्षिण-उत्तर व्यापार-मार्गों के संगम पर बसा था। उत्तर-पश्चिम के देशांतरित जैनों ने राज्याश्रय के बिना व्यापार आरंभ किया।

मथुरा कई सदियों तक जैनों का पवित्र स्थान रहा है। व्यापार के सिलसिले में जैन धीरे-धीरे पश्चिम की ओर समुद्र किनारे के प्रदेश में जा पहुंचे जहां जहाज़ निर्माण और समुद्री व्यापार का विकास हुआ था। मथुरा नगर तो वैसे चारों ओर से भूमि से घिरा है। पांचवीं सदी तक जैन गुजरात, राजस्थान, उत्तर में पंजाब तक स्थिर हो चुके थे। पांचवीं सदी में गुजरात में वल्लभीपुर में जैन शास्त्र ग्रंथों के विविध संस्करणों में समन्वय स्थापित करने और धर्मशास्त्र की प्रामाणिक लिखित प्रतिलिपियां बनाने के लिए एक अधिवेशन किया। बाद की कुछ सदियों तक जैनों का उत्कर्ष काल रहा। वे अच्छे महत्त्वपूर्ण पदों पर रहे जैसे कि उद्योग-व्यापार के मालिक, साहूकार, विद्वान मंत्री और राजा के सलाहकार रहे। बारहवीं सदी के जैन आचार्य हेमचंद्र इतने प्रभावशाली थे कि उन्होंने राजा कुमारपाल को सिंहासन का उत्तराधिकारी बनाया।[45] कुमारपाल और उसके जैन मंत्री वस्तुपाल का शासनकाल पश्चिम भारत में जैन धर्म का स्वर्णकाल माना जाता है। दोनों ने अनेकों मंदिरों का निर्माण कराया, जिसमें आबू पर्वतमाला स्थित मंदिरों की शृंखला सम्मिलित है और तारंगा पहाड़ी पर बने मंदिर भी।

इस दौरान भारत में महमूद ग़ज़नवी के आक्रमण 999 से 1026 ई. तक और मुहम्मद ग़ौरी के आक्रमण सन् 1151 में शुरू हो गए थे। कुमारपाल का शासन सन् 1165 (वीर स. 1692) में इस्लाम की भेंट चढ़ गया। अगली साढ़े तीन सौ सदियों में तुर्की सल्तनत ने देश के ग्रामीण क्षेत्रों में कहर ढाया। मंदिरों का, मूर्तियों का विध्वंस किया, निर्दोष ग्रामीणों का इस्लाम में धर्मांतर किया, जैन साधुओं को गुलाम बनाया और

(44) श्री निवासन डी.एम., मथुरा : द कल्चरल हेरिटेज, दिल्ली, 1989

(45) भुहलर जी. The Life of Hemchandra Acharya, Shanti Niketan, Varanasi, 1936.

प्रादेशिक सल्तनत स्थापित की। यद्यपि जैन धर्म अल्पसंख्यकों का धर्म था, फिर भी जैन धर्म किसी तरह बचा रहा, यही नहीं, अपने अहिंसात्मक शांति-संदेश से उन्होंने इस्लामी तलवार की धार को भी भोथरा किया। जैन व्यापारी, उद्योगी, साहूकार और निपुण-प्रबंधक थे। अत: अपनी व्यवहार कुशलता से सुलतानों को भी प्रभावित कर सके। उदाहरणार्थ- सन् 1313 में तुर्क आक्रमणकारियों ने (मुग़लों ने) शत्रुंजय पर्वत (पालिताना) पर बना आदिनाथ भगवान का सुंदर भव्य मंदिर नष्ट किया था, मगर सन् 1330 जैनों ने सुल्तान को इस तरह प्रभावित किया कि गुजरात के तुर्क गवर्नर अल्पखान ने मंत्री समारा शाह को फिर से मंदिर की मरम्मत कराने का आदेश दिया और उस काम के लिए आवश्यक धन की भी व्यवस्था की। मंदिर के पुनर्निर्माण में जिस मुस्लिम क़ाज़ी ने सहयोग दिया था, उसके सम्मानार्थ जैनों द्वारा बनाया गया स्मारक आज भी पहाड़ पर बने मंदिरों के बीच देखा जा सकता है।

प्राचीन श्वेतांबर इतिहास का एक प्रमुख स्रोत प्रभाचंद्र लिखित 'प्रभावक चरित्र'[46] (जैन महात्माओं की जीवनियां) है। इस ग्रंथ में बाईस आचार्यों की जीवनियां संकलित हैं, जिसमें वज्रस्वामिन (चौथी सदी) अर्हत के लिए कहा जाता है कि वे अंतिम आचार्य थे जिन्होंने प्राचीन 'पूर्व' शास्त्रग्रंथ को कंठस्थ किया था, उनसे लेकर अनेक जैन ग्रंथों के बहुश्रुत विद्वतर्य लेखक हेमचंद्र (1089-1172 ई.) तक के महात्माओं की जीवनियां हैं। हेमचंद्र का शास्त्र संबंधी अध्ययन अतुलनीय, अद्वितीय था। इस ग्रंथ में सम्मिलित अन्य विद्वान हैं सिद्धसेन दिवाकर, (पांचवीं सदी) हरिभद्र जिन्होंने जैन दर्शन पर सैकड़ों किताबें लिखी हैं, जो स्वयं श्वेतांबर साधु-क्रम में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं (छठीं सदी) कालुका (सातवीं सदी), तक्षशिला के महादेव (980 ईसा पूर्व) और अभयदेव सूरी (ग्यारहवीं सदी)। इस ग्रंथ से आचार्यों का जीवन और उनके समकालीन जैन समाज का ज्ञान प्राप्त होता है, साथ ही प्राचीन गण व्यवस्था और आचार्य परंपरा के संबंध में महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है।

श्वेतांबर उपसंप्रदाय

तप और खरतर गच्छ

चौथी सदी में वज्रस्वामिन के चार शिष्यों-चंद्र, नागेन्द्र, निवृत्ति और विद्याधर ने गण शब्द के स्थान पर 'कुल' शब्द का प्रयोग किया होगा। प्रभाकर का मानना है कि चंद्र कुल के साथ उसका गुरुक्रम जुड़ा है जबकि हरिभद्र का विद्याधर कुल के साथ। यह वर्गीकरण लगता है, शीघ्र ही दूसरे शब्द द्वारा बदला गया है- गच्छ (उपसंप्रदाय)। वह आज भी श्वेतांबर साधुओं के दो समूहों द्वारा प्रयुक्त होता है, जैसे खरतर गच्छ और तप गच्छ। यद्यपि खरतर उपसंप्रदाय का बिलकुल सही मूल ज्ञात नहीं हो सका है फिर भी अभयदेव सूरी के साथ किसी तरह जोड़ा जा सकता है क्योंकि बाद के काल में बहुत से साधु अपने नाम के साथ सूरी जोड़ने लगे, जैसे जिनवल्लभ सूरी (ग्यारहवीं सदी)। जिनदत्त सूरी (1075-1154) जिनचंद्र सूरी प्रथम (1139-1165) जिन कुशल सूरी (1279-1331) और जिनचंद्र सूरी द्वितीय (1537-1612). तप गच्छ

(46) जीन विजयजी महाराज, प्रभाचंद्र लिखित प्रभावक चरित्र अहमदाबाद 1940

साधु भी अपना मूल अभयदेव सूरी से जोड़ते हैं। इसकी शुरुआत जगचंद्र सूरी से (1228) हुई। जगचंद्र सूरी का अपने समकालीन साधुओं की अपेक्षा तप में अधिक विश्वास था।[47] सदियों से तपस्वी साधु केवल आम जनता पर ही नहीं, बल्कि मुगल शासकों पर भी अपनी कठोर तपस्या से प्रभाव जमा चुके थे। उदाहरणार्थ- मुग़ल बादशाह अकबर को (1556-1605) पद्मसुंदर नाम के साधु ने जैन धर्म के सिद्धांतों की जानकारी दी थी। यही नहीं पद्मसुंदर ने अकबर को जैन धर्म-ग्रंथों की कई हस्तलिखित प्रतियां भेंट स्वरूप दीं। आगे जाकर अकबर ने हरिविजय सूरी (1527-1595) को अपने धार्मिक परामर्शदाता के रूप में निमंत्रित किया। हरिविजय और उसके शिष्य शांतिचंद्र के अहिंसा संदेश से अकबर इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने पक्षियों को पिंजरों से मुक्त करने, प्राणियों का वध न करने और ग़ैर मुस्लिम लोगों पर लगाए ज़ज़िया कर को निरस्त करने के आदेश दिए। बाद में 1591 ई. में खरतर गच्छ के जिनचंद्र सूरी द्वितीय ने अकबर को मना लिया कि जैन मंदिरों को मुस्लिमों के क्रोध-द्वेष से बचाया जाए।[48] अकबर का उत्तराधिकारी जहांगीर भी जैन साधु (तप गच्छ) से इतना प्रभावित था कि स्वयं उसने अहिंसा व्रत लिया और अपने बेटे की शिक्षा के लिए जैन साधु को शिक्षक नियुक्त किया।

तप गच्छ और खरतर गच्छ दोनों के बीच काफी स्पर्धा रही है, मगर ज़्यादातर राजस्थान में रहने वाले खरतर गच्छ साधुओं की संख्या घटती जा रही है। अब केवल बीस साधु और दो सौ साध्वियां शेष हैं। इसके विपरीत तप गच्छ में दो हज़ार के लगभग साधु और चार हज़ार साध्वियां हैं।

दक्षिण के जैन साधुओं की तरह श्वेतांबर साधुओं को भी समाज में उनकी भूमिका को लेकर लंबे विवाद का सामना करना पड़ा। क्या साधुओं को शहरों, गांवों में रहकर आम जनता से व्यवहार रखना चाहिए? या वे अलग एकाकी वनों में रहें। नौवीं सदी के आचार्य सिलंक ने समाज के साथ व्यवहार का ज़ोरदार समर्थन किया। उन्होंने भगवान महावीर का उदाहरण दिया कि भगवान महावीर एक ही स्थान पर नहीं रहे बल्कि प्रवास करने वे नगरों, गांवों में घूम-घूम कर जनता को शिक्षा देते रहे।[49]

फिर भी श्वेतांबर साधुओं के दो समूह हो गए। वनवासी साधु और चैत्यवासी साधु (मंदिरों में रहने वाले)। इस प्रकार दो दल चौथी सदी में हुए और यह मुद्दा ग्यारहवीं सदी तक विवाद के रूप में चलता रहा। दक्षिण में समाज के साथ साधुओं के व्यवहार का विरोधी दल विजयी हुआ, जिससे दिगंबर परंपरा में 'भट्टारक' संस्था का उदय हुआ। किंतु गुजरात में श्वेतांबर चैत्यवासी दल विजयी रहा। ग्यारहवीं सदी के लगभग जिनेश्वर सूरी के नेतृत्त्व में सुधार आंदोलन के कारण चैत्यवासी श्वेतांबर साधुओं का प्रभाव घट गया। एक समझौता आज तक है जिसके अनुसार श्वेतांबर साधुओं को न वनों में रहना आवश्यक है और न ही एक स्थान पर बने रहना। उन्हें जनता से संपर्क रखना है, अधिकाधिक लोगों को शिक्षा, उपदेश देना है और इसके

(47) क्लाट जे. Abstracts from the Historical Records of the Jains, Indian Antiguary, 1882.
(48) देसाई, एम.डी., भानुचंद्र चरित्र, अहमदाबाद, 1941.
(49) मुनि जंबूविजयजी : आचारंग सूत्रम् श्रुतिकांगसूत्रम्, आगमोध्याय समिति संस्करण, दिल्ली, 1978.

लिए निरंतर एक समाज से दूसरे समाज में घूमते रहना है। वर्षाकाल के चार माह को छोड़कर श्वेतांबर साधु से अपेक्षा की जाती है कि वह पैदल चलकर प्रदेश में भ्रमण करे।*

लोंका गच्छ

श्वेतांबर परंपरा में सुधार का सबसे मुख्य प्रयत्न पंद्रहवीं सदी में गुजरात में मुस्लिम शासन काल में हुआ। लोंका (1418-75) एक साधारण जैन व्यक्ति अहमदाबाद में रहकर जैन पांडुलिपियों की प्रतिलिपि तैयार करते थे। जैनों के मंदिर, मूर्तियां तोड़े जाने के कारण वे बहुत दुखी थे। वे इस बात से भी दुखी थे कि जैन साधु, तपस्वियों द्वारा बहुत कर्मकाण्ड संपन्न होते हैं और अधिकतर मंदिरों से संबंधित होते हैं। लोंका मानते थे के साधुओं का आचरण इस तरह का नहीं है जैसा कि 'अयरंग सुत्तम्' या 'दशवैकालिक' ग्रंथ में वर्णित है। उक्त दोनों ग्रंथ मठों में रहने वाले साधुओं के आचरण से संबंधित हैं। मठों के नियमों की उन्हें पूरी जानकारी थी क्योंकि वे उन दिनों ग्रंथों की पांडुलिपियों की नकल कर रहे थे। बाद में आगे जाकर उन्हें यह भी जानकारी धर्मग्रंथों से मिली कि भवन निर्माण कार्यों में जीवों की हत्या होती ही है।[50] इस जानकारी के बाद लोंका मूर्तिपूजा के विरोधी, निंदक हो गए। लोंका ने कभी दीक्षा नहीं ली लेकिन वे निरंतर भ्रमण करते हुए मूर्तिपूजा बंद करने का उपदेश देते रहे। उनके अनुयायियों ने एक अलग संगठन बना लिया 'लोंका गच्छ'। घूमते रहते हुए ये अनुयायी चैत्य मंदिरों में बड़े-बड़े कक्षों का (उपाश्रय) का उपयोग तो करते, मगर मंदिरों में मूर्तिपूजा कभी नहीं करते थे। लोंका गच्छ उपसंप्रदाय के साधुओं ने कुल तेरह शास्त्र ग्रंथों के धर्म आदेशों को इसलिए अस्वीकार कर दिया कि उनमें मूर्तिपूजा का समर्थन था। इस कारण मूर्तिपूजक समाज अप्रसन्न हुआ। 'लोंका गच्छ' संप्रदाय को लोंका की मृत्यु के लगभग एक शताब्दी बाद, बहुत खामियाजा उठाना पड़ा। क्योंकि उनके एक साधु आचार्य मेघजी और उनके सौ शिष्यों ने सार्वजनिक रूप से मूर्तिपूजक पंथ में प्रवेश किया।

स्थानकवासी

सन् 1730 के लगभग लोंका की विचारधारा सूरत (गुजरात) के दो व्यापारियों - लवजी, और धर्मसिंह के रूप में, फिर से मानो जीवित हुई। साधुओं की जीवन शैली एवं 'दशवैकालिक' में वर्णित मठाचरण पर बल देते हुए उन्होंने सुझाया कि साधुओं को मंदिरों के उपाश्रय गृहों का रहने के लिए उपयोग नहीं करना चाहिए। उन्हें पुराने खाली पड़े घरों, भवनों (स्थानक) का उपयोग करना चाहिए। इस प्रकार लोंका दल स्थानकवासी

---

* इस परंपरा को चुनौती के रूप में 20 वीं सदी में एक नई प्रवृत्ति यह है कि आचार्य अमरेंद्र मुनि की शिष्या, आचार्या चंदनाजी के नेतृत्त्व में पाश्चात्य मिशनरियों की तरह मानव सेवा का कार्य किया जा रहा है- अस्पताल बनाना, रोगी सेवा, पाठशालाएं चलाना, दीन, बीमार वृद्धों के लिए आश्रय स्थल बनाना। उनके विचार से भगवान महावीर के अहिंसा संदेश का तात्पर्य यही है, मगर उनके आलोचक, जैन साधु, तपस्वी के लिए यह सेवा कार्य अनुचित मानते हैं। देखें, इसी अध्याय में आगे- आचार्या चंदनाजी।

(50) महाप्रज्ञ युवाचार्य, अहिंसा तत्त्वदर्शन, जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूं, 1988.

कहलाया। इस नए संप्रदाय ने स्थायी रूप से मुख पर कपड़े की पट्टी (मुंह पट्टी) बांधना एक पहचान के रूप में शुरू किया।

लोंका गच्छ के समान स्थानकवासियों को भी कई बार कुछ हानि उठानी पड़ी। कुछ ही वर्षों में भीकनजी, एक स्थानकवासी साधु, ने पंथ से अलग होकर अपना पंथ अलग बनाया- तेरा पंथ (आगे देखें)। स्थानकवासी पंथ की एक और हानि, एक सदी बाद होने को थी। दो स्थानकवासी साधु-आत्मारामजी और बटेरियाजी स्थानकवासी पंथ के मुख्य साधुओं में माने जाते थे, उन्होंने घोषणा की कि शास्त्रों में मूर्तिपूजा का विधान है; अत: वे मूर्तिपूजक तप गच्छ में शामिल हो रहे हैं। आत्मारामजी को तप गच्छ उपसंप्रदाय में फिर से दीक्षा दी गई। उनको नाम दिया गया-विजयानंद सूरी। उन्होंने एक जैन विद्वान के रूप में यश प्राप्त किया। ऐसी कुछ हानियों को छोड़ दें तो स्थानकवासी उपसंप्रदाय आज तक एक ऊर्जावान उत्साही उपसंप्रदाय के रूप में जीवित है। उनकी मान्यता है कि मूर्तिपूजा के स्थान पर भावपूजा की जानी चाहिए और मूर्तिपूजा की अपेक्षा भावपूजा पर उनका बल रहा है और उनके कई साधुओं को इसके लिए मान्यता भी प्राप्त हुई। मुनि सुशीलकुमार स्थानकवासी साधु ने 1975 में अमेरिका में देशांतर किया। वे मूर्तिपूजक चित्रभानुजी के साथ रहे थे। दोनों ने उत्तर अमेरिका में सोलह जैन मंदिरों का तथा एक तीर्थस्थान का निर्माण करवाया।

तेरापंथी

स्थानकवासी समाज को एक और आघात राजस्थान के भीकनजी द्वारा संप्रदाय छोड़ने से लगा। (1726-1803) भीकमजी को 1751 में स्थानकवासी पंथ में साधु की दीक्षा दी गई थी। भीकनजी अपने समकालीन साधुओं की सुस्त शिथिल जीवनचर्या के कारण दुखी थे। अत: अपने छ: साथियों के साथ अलग होकर 1759 में उन्होंने अपना नया पंथ बनाया जो श्वेतांबर तेरापंथ कहलाया।[51]

यह नाम मिलते-जुलते दिगंबर तेरापंथ नाम से अलग पहचान के लिए रखा गया। दिगंबर तेरापंथ उपसंप्रदाय भट्टारकों की सत्ता के विरोध में बनाया गया था। हालांकि नए तेरापंथ ने स्थानकवासी पंथ से किसी भी संबंध से इनकार कर दिया था, फिर भी तेरापंथ ने कुछ स्थानकवासी रीति-रिवाज़ों को जारी रखा, जैसे, मूर्तिपूजा को न मानना, तेरह शास्त्र ग्रंथों की महत्ता को स्वीकार न करना और स्थायी रूप से मुंह पट्टी का उपयोग।*

भीकनजी के तेरापंथ ने शुरू में तो कोई ख़ास तरक्की नहीं की। इसका कारण शायद उनके अतिवादी विचार रहे हों। तेरापंथ ने उन लोगों को अपने पंथ में शामिल करने से मना कर दिया जिन्हें उन्होंने अपनी साधना के कठोर मापदंड के अनुसार अयोग्य पाया। भीकनजी ने शास्त्र वचनों के अनुसार साधु की साधना का अर्थ लगाया- एक साधु को आला संयम, कठोर तप और ध्यान द्वारा केवल अपनी आध्यात्मिक उन्नति के बारे में सोचना चाहिए। साधु/साध्वियों को मानवतावाद, समाज कार्य आदि संवेदनशील गतिविधियों में संलग्न

(51) रामपुरिया एस., आचार्य भिक्षु जीवत कथा और व्यक्तित्त्व, जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूं

* स्थानकवासियों की मुख पट्टी चौकोर और तेरापंथियों की आयताकार होती है।

नहीं होता चाहिए।[52] अधिकांश जैन समाज को भीकनजी की अतिवादी विचारधारा स्वीकार्य नहीं हुई क्योंकि उनकी राय में दया, करुणा आदि संवेदनशील कर्म ही पुण्यकर्म के रूप में जीव की आध्यात्मिक प्रगति में सहायक होते हैं। साधु की दिनचर्या और आचरण के विषय में भीकनजी के विचार कठोर अनुशासनात्मक थे। भीकनजी साधुओं के आचरण के विषय में इतने आग्रही थे कि उन्होंने तेरापंथी साधु की जीवनचर्या की एक तालिका बनाई थी। आचरण मर्यादा के रूप में उसका पालन ही नहीं बल्कि प्रतिदिन तालिका का वाचन भी प्रत्येक साधु/साध्वी के लिए अनिवार्य था। प्रत्येक आचार्य के साथ तालिका का विस्तार भी बढ़ता गया। चतुर्थ आचार्य जीतमलजी ने समस्त मर्यादा तालिका की एक संक्षिप्त सूची बनवाई जिसे प्रतिदिन पढ़कर उस पर हस्ताक्षर करना आवश्यक बनाया गया ताकि प्रत्येक साधु/साध्वी आचरण की मर्यादा में निष्ठा रखे। तेरापंथ आंदोलन जीतमलजी आचार्य के संगठन कौशल के बल पर ही जीवित रहा।

आचार्य तुलसी

तुलसी 1936 में श्वेतांबर तेरापंथ के नौवें आचार्य बने। तेरापंथ उपसंप्रदाय में उन्होंने सुधार किया और उसे दुनिया के नक्शे में स्थान प्राप्त कराया। आचार्य तुलसी ने निश्चित ही जैन इतिहास का अच्छा अध्ययन किया होगा, तभी तो वे समझ सके थे कि भीकनजी के आचरण संबंधी आदेशों को शिथिल करने से साधुओं के व्यवहार में शिथिलता आएगी और यदि शिथिल नहीं किया गया तो फिर से उनका उपसंप्रदाय उपेक्षित और हाशिए पर होगा। उन्हें एक समाधान खोजना था, जिससे साधुओं का आचरण सच्चे साधुओं के उपयुक्त आदर्श रहे और अपने उपसंप्रदाय तेरापंथ की सामाजिक गतिविधियों में भागीदारी भी बनी रहे। उन्होंने यह भी जान लिया होगा कि दिगंबर संप्रदाय द्वारा 'भट्टारक' पद की उपयोगिता सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए थी, जो बाद में बनारसीदास के विद्रोह के कारण समाप्त कर दी गई। उन्हें एक बहुत उत्तम उपाय सूझा।

भगवान महावीर ने व्रतों को दो रूप में बांटा था- एक आरंभिक व्रत जिन्हें अणुव्रत कहा गया, और दूसरा महाव्रत था। अणुव्रत एक आम आदमी के लिए और दूसरे महाव्रत, साधु-तपस्वियों के लिए (देखें अध्याय 3)। आम जनता अणुव्रत की भावना को समझकर उसे जीवन में उतारने का प्रयत्न करती है जबकि साधु-संन्यासियों के लिए महाव्रत ग्रहण करना और उनका कठोरतापूर्वक पालन करना अनिवार्य है। भगवान महावीर के इन विचारों से प्रेरणा लेकर आचार्य तुलसी ने समण/समणी नाम से आम जनता में से एक नया वर्ग निर्माण करना निश्चित किया। समण और समणी 'वीरमण' व्रत की दीक्षा लेते हैं। वीरमण व्रतधारी, कठोर महाव्रतधारी तपस्वी वर्ग साधु/साध्वी और श्रावकों के बीच एक सेतु समान है। चुंकी साधु/साध्वी वाहनों से प्रवास नहीं कर सकते, मानवतावादी समाज सुधार कार्य में प्रत्यक्ष

(52) महाप्रज्ञ युवाचार्य अहिंसा तत्त्व दर्शन, जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूं. 1988

सहभागी नहीं हो सकते, खास उनके लिए बनाया गया भोजन भी सेवन नहीं कर सकते, परंतु समण/समणी देश-परदेश में श्रावकों को आध्यात्मिक मार्गदर्शन दे रहे हैं; एकता, शांति, मैत्री, नीति, न्याय और नैतिक आचार के जैन विचार तथा भगवान महावीर की साधना के तंत्र-''प्रेक्षाध्यान'' का पुनरूत्थान करके उसका भी प्रचार देश-परदेश में कर रहे हैं।

1949 में आचार्य तुलसी ने अणुव्रत आंदोलन शुरू किया। इस आंदोलन को वे जैन धर्म के सीमित क्षेत्र से परे वे बहुत दूर तक ले जाना चाहते थे। उन्होंने अणुव्रत आंदोलन सबके लिए खुला रखा, उनका आंदोलन सभी धर्म, वर्ण, जाति, राष्ट्रीयता और भाषा के लिए खुला, मुक्त था। उनका लक्ष्य था, पूरे विश्व में नैतिक सुधार लाना और इस लक्ष्य के लिए एकता, शांति, मैत्री, नैतिकता एवं नीतियुक्त आचरण के मूल्यों की ज्योति पुनः प्रज्वलित कर विश्व में नैतिक सुधार लाना।[53] इसलिए उन्होंने दस अणुव्रतों की एक नई तालिका बनाई।

जो भी आंदोलन में शामिल हो उसे अणुव्रतों का पालन निर्देशानुसार करने का परामर्श दिया जाता है।

'अणुव्रत' आंदोलन तभी से फलता-फूलता रहा है। समण/समणी विश्व की कई यात्राएं करते रहे, उन्होंने कई देशों में 'प्रेक्षाध्यान' केन्द्र खोले और न्याय, एकता, मैत्री, नैतिकता, सच्चरित्रता जैसे जैन मूल्यों को बढ़ावा दिया।

आचार्य तुलसी के प्रयासों की समीक्षा, जैन मूल्यों की और विश्व का ध्यान आकृष्ट करने की दृष्टि से की जाएगी। कुंदकुंद के प्रेक्षाध्यान को पुनर्जीवित करने और 'समस्त प्राणियों के प्रति न्याय और करुणा' भगवान महावीर के इस मूल संदेश को जीवन में उतारने की दृष्टि से की जाएगी। आचार्य तुलसी की मृत्यु के बाद 'अणुव्रत' आंदोलन का नेतृत्त्व उनके उत्तराधिकारी आचार्य महाप्रज्ञाजी कर रहे हैं।

श्रीमद् राजचंद्र

जैन दर्शन का मुख्य सारतत्त्व मोक्ष की ओर ले जाने वाले मार्ग में है। भगवान महावीर के समय विद्वानों की भाषा संस्कृत थी, मगर भगवान महावीर ने स्थानीय भाषा, जनता की भाषा अर्द्धमागधी में उपदेश दिया। जैन धर्म शास्त्र ग्रंथ आगमों की रचना अर्द्धमागधी भाषा में हुई थी और बाद में साधुओं की कई पीढ़ियों द्वारा भगवान महावीर का संदेश जनता तक अर्द्धमागधी में ही पहुंचाया गया। यद्यपि अर्द्धमागधी भाषा का समकालीन भाषाओं में विकास हुआ, तथापि एक भी आगम शास्त्र का अनुवाद किसी भी आधुनिक भाषा में नहीं हुआ और इसीलिए सामान्य जनता को जैन धर्म का सार समझने के लिए साधु, तपस्वियों पर निर्भर रहना होता था। सन् 1883 में गुजरात के एक सोलह साल के लड़के ने बोलचाल की भाषा में एक पुस्तक

(53) भटनागर आर.पी.: आचार्य तुलसी फिफ्टी इयर्स ऑफ सेल्फलेस डेडिकेशन, जैन विश्वभारती प्रेस, लाडनूं, 1985 तथा आचार्य तुलसी, अणुव्रत- ए कोड ऑफ कॉन्डक्ट फॉर मॉरल डेव्हलपमेंट, नई दिल्ली, 1988.

प्रकाशित की- 'मोक्षमाला'। वह लड़का था, लक्ष्मीनंदन मेहता, जो आगे जाकर श्रीमद् राजचंद्र के नाम से विख्यात हुआ। सरल गुजराती भाषा में लिखी इस छोटी-सी रचना में एक सौ आठ विभागों में शास्त्र को सरल भाषा में समझाने का प्रयास किया गया है। भूमिका में लेखक ने रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "युवा पीढ़ी को जैन दर्शन सरल भाषा में समझाना और उन्हें मिथ्या धारणाओं से भ्रष्ट होने से बचाना ही इसका उद्देश्य है। रचना को पढ़कर और उसके विचारों पर ध्यान देने से जैन दर्शन के सारतत्त्व पर निष्ठा दृढ़ होगी।" यह पुस्तक न तो किसी मूल ग्रंथ का अनुवाद है, न ही शास्त्रों की टीका-व्याख्या है, बल्कि इसमें आत्मबोध पर, ज्ञान के आध्यात्मिक अनुभवों पर बल दिया गया है। यह संदेश जैन साधना परंपरा की अपेक्षा हिंदू रहस्यवाद के अधिक निकट है। दूसरी सदी के जैन साधु कुंदकुंद भी ऐसे ही प्रमुख जैन साधु थे जिन्होंने राजचंद्र के समान ही रहस्यवादी अनुभूतियों को व्यक्त किया था।

श्रीमद् राजचंद्र द्वारा आध्यात्मिक विषयों पर उनके मित्रों और शिष्यों को लिखे गए लगभग 800 पत्र[54] और आगे जाकर प्रकाशित पुस्तक 'आत्मसिद्धि'[55] रहस्यवादी अनुभूतियों को ही बार-बार मुख्य रूप से व्यक्त करते हैं। उनके विचार में 'स्व' (आत्मा) के सीधे प्रत्यक्ष 'अनुभव' या 'आत्मज्ञान' और आत्मा की मुक्ति में कोई अंतर नहीं है। 'आत्मसिद्धि' पुस्तक में और उनके पुराने मित्र सोभागभाई को लिखे पत्र में वे ज़ोर देकर लिखते हैं कि आत्मा का अस्तित्व शाश्वत है और वह स्वयं अपने कर्मों की कर्ता है, वही परिणाम का अनुभव भी करती है। मोक्ष की अवस्था होती है और उसे आत्मज्ञान के द्वारा गुरु की सहायता से प्राप्त किया जा सकता है। इसके विपरीत जैन परंपरा की दृष्टि में आत्मा का ज्ञान (जागृति या सम्यक् दर्शन) तथा आत्मा की मुक्ति (अर्थात् समस्त कर्मों का नाश या मोक्ष) में अंतर है। राजचंद्र की मान्यता थी कि 'आत्मज्ञान' ही सच्चे धर्म का मूल है। मूर्तिपूजा, कर्मकाण्ड, साधु बनना, संप्रदायवाद आदि सब अनावश्यक हैं।

मोक्ष के लिए जैन मार्ग मूलत: तपस्या का मार्ग है। उसका अनुकरण चौथे गुणस्थान पर सम्यक् दर्शन (जागृति) के बाद किया जाता है। मोक्ष मार्ग दोनों पर बल देता है- आत्मा की आंतरिक शुद्धि और तपस्वी के आत्म संयम के रूप में उसकी बाह्य अभिव्यक्ति। श्वेतांबर परंपरा मानती है कि मोक्ष के लिए जहां तप साधना बहुत महत्त्वपूर्ण है, वहीं एक श्रावक भी अपवादस्वरूप आत्म शुद्धि के बल पर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। मगर दिगंबर परंपरा नग्नता और तपश्चर्या को मोक्ष के लिए अनिवार्य मानती है और एक गृहस्थ के लिए मोक्ष की संभावना को बिलकुल स्वीकार नहीं करती। इस सच्चाई के बावजूद दिगंबर संप्रदाय के सम्मानित आचार्य कुंदकुंद ने समयसार में कहा है-

"अज्ञानी कहते हैं, तपस्वी जीवन के बाहरी लक्षणों को अपनाना... यही मोक्ष का एकमात्र साधन है। लक्षण (सांकेतिक चिह्न) कभी भी मोक्ष का मार्ग नहीं है, क्योंकि अर्हतों ने शरीर से लगाए गए सभी परिग्रहों को, लगावों को, छोड़ दिया था।"

(54) श्रीमद् राजचंद्र, श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, आयस, 1985

(55) सेल्फ रियलाइज़ेशन (इंग्लिश ट्रान्सलेशन) मेहता भारतीय विद्या भवन, मुंबई, 1978

उन्होंने सांकेतिक चिह्नों की उपेक्षा की और अनुभव किया कि सम्यक् दर्शन, ज्ञान और आचरण ही मोक्ष का मार्ग है।'

हिन्दू वैदिक व्यवस्था में मोक्ष के लिए तपश्चर्या अनिवार्य नहीं है। श्रीमद् राजचंद्र भी जब स्वानुभव के आधार पर आत्मज्ञान पर ज़ोर देते हैं तो वे असल में तपश्चर्या की छूट देते हैं। मगर सच तो यह है कि अपने जीवन में छोटी-सी उम्र में ही आत्मज्ञान या सम्यक दर्शन (चतुर्थ गुणस्थान) पाने के बाद वे स्वयं वैसे भी तपस्या के मार्ग पर चल चुके थे। और हो सकता है कि छठे गुणस्थान या लगभग सातवें गुणस्थान तक पहुंचे हों। उनकी मान्यता है कि आत्मधर्म समस्त दर्शन का मूल है और आज भी हम योग्य सद्गुरु के मार्गदर्शन में आत्मज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। सात साल की उम्र में उन्हें पूर्वजन्मों की स्मृतियां थीं, ऐसा उनका कहना था। और यह भी वे कहते थे कि श्रावक होकर भी उन्होंने 1890 में आत्मज्ञान की स्थिति को प्राप्त किया था। (उनके विचार में आत्मज्ञान मोक्ष अथवा सिद्धि है) उनके अंतिम दिनों में उन्होंने अपने साधु शिष्यों जैसे लालूजी और देवकरणजी से स्पष्ट कहा था, कि वे उनमें (राजचंद्र) और भगवान महावीर में कोई अंतर न करें। चतुर्भुजजी बेचर को लिखे अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा था-

"मैं दूसरा भगवान महावीर हूं। इसे मैंने अपनी आत्मा की शक्ति से अनुभव किया है। .... मैं सर्वज्ञानी हूं, अनासक्त हूं। भगवान महावीर का अनुकरण कर सर्वश्रेष्ठ धर्म की स्थापना करने जा रहा हूं ....। मैंने शिष्य बनाए हैं और उनके लिए आचार संहिता ....। इस धर्म के प्रचार के लिए मैं संसार त्याग दूंगा और मेरे शिष्यों को सर्वज्ञ बनाऊंगा। मैं हर बात में सभी दृष्टि से भिन्न हूं। मैं केवल विशुद्ध चेतना हूं, सर्वोन्नत, अविचारणीय, विशुद्ध आत्मज्ञान हूं।"[56]

वैष्णव पिता और जैन माता के घर में उत्पन्न लक्ष्मीनंदन बहुत प्रतिभावान बालक थे। बहुत छोटी उम्र में हिंदू और जैन दर्शन को उन्होंने आत्मसात किया था। चार साल की उम्र में उनका फिर से नामकरण हुआ-रायचंद्र जो बाद में श्रीमद् राजचंद्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। छोटी उम्र से जो लेखन किया, उस पर हिंदू वैदिक प्रभाव स्पष्ट है (पुष्पमाला, बोधवचन, अनुप्रेक्षा) में वे सत्संग पर ज़ोर देते हैं। सद्गुरु अथवा सत्पुरुष और उसके सतश्रुत (शिक्षा) को आत्मज्ञान के लिए आवश्यक मानते हैं।

अपने जीवन में श्रीमद् ने सद्गुरु, सतश्रुत और सत्संग को ही महत्त्व दिया। बाईस साल की उम्र में उन्होंने एक और हिन्दू अवधारणा, भक्ति या समर्पण प्रस्तुत की। गुरु को परमेश्वर के समकक्ष माना। अपने हिंदू भक्त मनसुखराम सूर्यराम को लिखे नौ पत्रों में श्रीमद् ने लिखा- "शास्त्र केवल मोक्ष मार्ग बताते हैं। लेकिन उसका रहस्य सद्गुरु के अंतर में होता है। परमात्मा को जानना हो तो सद्गुरु को ही परमेश्वर मानना चाहिए। परमात्मा सद्गुरु और संत में कोई अंतर नहीं है।" ऐसा ही पत्र उन्होंने मुनि लल्लूजी को लिखा था जिसमें उन्होंने उपदेश दिया था। सत्पुरुष की भक्ति में लीन हो जाओ, "सत्पुरुषों के चरित्र पढ़ो, उन पर विचार करो, सत्पुरुष की विशेषताओं पर गौर करो, सत्पुरुषों के मुख का ध्यान करो और अंतर की आंख से उन्हें देखो।

(56) मेहता एस.आर. सेठ बी.जी, श्रीमद् राजचंद्र : ए ग्रेट सीर, श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, आगरा, 1971.

उनकी मानसिक, शाब्दिक और शारीरिक चेष्टाओं का बारंबार चिंतन करो और वे जो दें, उसे स्वीकार करो यही परमेश्वर की ओर जाने वाला मार्ग है।'' अपनी पुस्तक 'आत्मसिद्धि' जो कि एक प्रसिद्ध एवं सम्मानित पुस्तक है, उसमें एक सौ चालीस छंदों में से इकतीस छंद श्रीमद् राजचंद्र ने सत्गुरु की महत्ता, सद्गुरु की प्राप्ति और उसके प्रति समर्पण भक्ति में लिखे हैं।

श्रीमद् राजचंद्र ने जिस तरह गुरु की महिमा का वर्णन किया है, उस तरह जैन परंपरा में आध्यात्मिक उन्नति के लिए गुरु की भूमिका महत्त्वपूर्ण नहीं मानी गई है। श्रीमद् की गुरु भक्ति या समर्पण भावना पर वेदांत का, वैष्णव भक्ति का प्रभाव है। वे बारंबार कहते हैं, जैन धर्म सर्वोच्च धर्म है मगर गुरु भक्ति पर उनका सतत ज़ोर, वैदान्तिक शब्दावली का प्रयोग जैसे हरि, ब्रह्मा, सत, चित, आनंद आदि उनका वक्तव्य, 'चेतना विश्व का अधिष्ठान है' यह वेदांती ब्रह्मवाद की अवधारणा है। जैनों की विचारधारा से यह सर्वथा विपरीत है, जिसमें जैन दार्शनिक जीव और अजीव दोनों को विश्व के मुख्य घटक मानते हैं। इससे उन पर कितना वैष्णव प्रभाव था, यह स्पष्ट है। हिंदू परिवार में पालन पोषण होने के कारण उन पर ही ऐसा प्रभाव हुआ होगा। श्रीमद् का गहन विस्तृत अध्ययन और भी एक कारण है। उन्होंने जैनेतर साहित्य बहुत पढ़ा था, जैसे कि दासबोध, भगवद्गीता, गुरुगीता, योगवाशिष्ठ आदि।

सारांश यह कि जैन धर्म को श्रीमद् का सबसे बड़ा योगदान है उनकी रचनाएं, पत्र-साहित्य, पुस्तकें, काव्य, गद्य आदि। उन्होंने जैन धर्म को सरल आसान आधुनिक भारतीय भाषा में समझाया है। जैन और जैनेतर दर्शनशास्त्र का उनका अध्ययन गहन था। सद्गुरु की भक्ति पर उन्होंने बल दिया, इस कारण बहुत बड़ी संख्या में उनके जैन एवं अन्य जैनेतर अनुयायी थे। यह केवल उनकी ही उपलब्धि नहीं, अंतत: जैन धर्म की उपलब्धि भी है। महात्मा गांधी ने अपने प्रारंभिक वर्षों में अपने आपको श्रीमद् का अनुयायी घोषित किया था। श्रीमद् के प्रशंसक मानते हैं कि वे एक उदार सुधारक थे। उन्होंने वैदिक और जैन दर्शन को मिलाने का प्रयत्न किया था, लेकिन उनके निंदक उन्हें दो दर्शन शास्त्रों के बीच संभ्रमित और अस्थिर स्थिति में देखते हैं जिसके कारण वे पूरी सच्चाई के साथ उभर नहीं सके। उनकी दृष्टि में परंपरानुगत जैन तप, साधना मार्ग के सिद्धांत को चुनौती देना, उसमें सुधार का प्रयत्न करना, श्रीमद् राजचंद्र का असफल प्रयास था।

वास्तविकता तो यह है कि श्रीमद् ने जैन धर्म में गुरु भक्ति का आंदोलन शुरू किया। उन्होंने घोषित किया, एक सामान्य व्यक्ति होकर भी उन्होंने सर्वज्ञान और आत्मज्ञान (तात्पर्य मोक्ष) प्राप्त किया और यह कहकर कि वे दूसरे भगवान महावीर हैं, उनके गुरु भक्ति आंदोलन को हवा दी। 1901 में उनकी असामयिक मृत्यु हुई। उनके कई शिष्यों ने भी घोषणा की कि सद्गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण के द्वारा उन्होंने आत्मज्ञान प्राप्त किया। श्रीमद् के निकटतम शिष्य लल्लूजी और लल्लूजी द्वारा नियुक्त उनके उत्तराधिकारी ब्रह्मचारी, गोवर्धनदास ने दृढ़तापूर्वक कहा कि उन्हें भी आत्मज्ञान प्राप्त हुआ है और उनकी और उनकी परवर्ती नियुक्ति प्रत्यक्ष, सीधे गुरुक्रम से है।

अन्य लोगों ने भी इसी प्रकार का दावा किया है। उसका आधार है आत्मसिद्धि का ग्यारहवां छंद जिसमें श्रीमद् सद्गुरु का दो तरह से वर्गीकरण करते हैं एक, वर्तमान में जीवित (प्रत्यक्ष)और दूसरा विगत (परोक्ष) उदाहरणार्थ लड़कचंद वोरा (1903-1447) ने श्रीमद् की, परोक्ष गुरु की भक्ति के आधार पर स्वयं को स्वतंत्र गुरू घोषित किया।

वोरा ने राज सौभाग सत्संग मंडल की स्थापना सायला (गुजरात) में की। डॉ. मुकुंद सोने (आत्मानंद महाराज) ने 1969 में आत्मज्ञान प्राप्ति की घोषणा की और कोबा (गुजरात) में 'श्रीमद् राजचंद्र आध्यात्मिक साधना केंद्र' की स्थापना की। इसी तरह डॉ. राकेश जवेरी ने, जिन्हें उनके अनुयायियों ने गुरु माना, मुंबई में श्रीमद् राजचंद्र आध्यात्मिक सतसंग साधना केंद्र की स्थापना की। अब ये केंद्र गुजरात के धरमपूर में पुनःस्थापित हुआ है।

श्रीमद् राजचंद्र ने गुरु भक्ति की शिक्षा देकर, और 'एक श्रावक भी मोक्ष लाभ कर सकता है।' यह कहकर संभवतः अपनी गुरु परंपरा को निश्चित करने का प्रयत्न किया होगा। मगर इसके साथ ही उन्होंने सत्ता की लड़ाई और आपसी संघर्ष के दरवाज़े खोल दिए हैं। कई अनुयायी स्वयं ही गुरु बन बैठे हैं। हालांकि अभी इस आंदोलन के परिणामों के बारे में कुछ कहना जल्दबाज़ी होगी। श्रीमद् ने स्वयं को दूसरा भगवान महावीर घोषित कर अपने कट्टर आलोचकों की शंकालू होने का अवसर दिया है।

गुरुदेव चित्रभानु एवं आचार्य सुशील कुमार

बीसवीं सदी दो-दो महायुद्धों, कुछ प्रादेशिक संघर्षों, क़त्ले-आम और भयानक अग्निकाण्डों के लिए याद की जाएगी। दुनिया भर के बुद्धिजीवियों ने उक्त दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं पर क्षुब्ध होकर शांति के नए रास्ते खोजने की कोशिश की है। इनमें से एक कोशिश थी, आध्यात्मिक सम्मेलन के माध्यम से 'अंतर-धर्म संवाद' की। 1970 जेनेवा, स्विट्ज़रलैण्ड में, अमेरिका स्थित 'टेम्पल ऑफ अंडरस्टैण्डिंग' द्वारा एक आध्यात्मिक शिखर सम्मेलन आयोजित किया गया। सम्मेलन में भारत से एक जैन मुनि आमंत्रित थे- मुनि चंद्रप्रभा सागर (जो बाद में गुरुदेव चित्रभानु के नाम से जाने गए)। गुरुदेव बड़ी दुविधा में थे। एक ओर भगवान महावीर का संदेश लेकर सम्मेलन में जाने की तीव्र इच्छा थी, दूसरी ओर विदेश यात्रा पर जैन परंपरा का प्रतिबंध था।

जैन परंपरा के आदेश के अनुसार साधुओं के लिए वाहन से यात्रा करना प्रतिबंधित है। मुनि चंद्रप्रभा सागर ने अठ्ठाईस वर्ष लगभग तीस हज़ार मील नंगे पैर पैदल चलकर गांव-गांव, शहर-शहर भगवान महावीर का संदेश सुनाया था। अब उन्हें लग रहा था कि अंतर्राष्ट्रीय संवाद में जहां समस्त धर्मों के विषय में चर्चा होगी, वहां भगवान महावीर का संदेश-विश्वशंति, विश्व-बंधुत्व, करुणा, अहिंसा और सभी जीवों के प्रति वे चाहे जिस रूप में हों, दया का संदेश पूरे विश्व को समझाने का यह अच्छा मोका है। उन्हें यह भी अनुभव हुआ कि साधुओं पर विदेश यात्राओं के प्रतिबंध से विदेशों में रहने वाले हज़ारों जैन आध्यात्मिक मार्गदर्शन से वंचित

रहते हैं। प्रति वर्ष अफ्रीका, उत्तर अमेरिका, यूरोप में जैनों की संख्या बढ़ रही है, मगर साधुओं के अभाव में वे अपनी आध्यात्मिक पहचान तेज़ी से खोते जा रहे हैं। मुनि चंद्रप्रभा सागर ने जेनेवा यात्रा करना तय कर लिया।

भारत में एक जैन साधु की विदेश यात्रा के समाचार से जैन समाज में विरोध का एक तूफ़ान खड़ा हो गया। मगर जेनेवा यात्रा ने मुनि चंद्रप्रभासागर को एक नई दृष्टि दी, विश्व मिशन की दृष्टि। विरोध के उत्तर में मुनि ने संन्यासी पद त्याग दिया और एक आम जैन की तरह चित्रभानु के नाम से यात्रा का निश्चय किया। चित्रभानु नाम से वे पहले ही से कविता एवं अन्य पुस्तकें लिखा करते थे। उन्होंने 1971 में केनिया, इंग्लैंड, हैग और फिर संयुक्त राज्य अमेरिका की यात्रा की। वहां उन्होंने व्याख्यानमाला में भाषण दिए। न्यूयार्क अब उनका नया कार्यक्षेत्र बनने जा रहा था। एक बुद्धिजीवी साधु के धैर्य, साहस, एक खुले दिमाग़ वाले मुक्तचिंतक के संकल्प और एक धर्म प्रचारक के उत्साह के साथ उन्होंने अमेरिका में संयुक्त राष्ट्रसंघ न्यूयार्क के संयुक्त राष्ट्र भवन के पास प्रथम जैन मेडिटेशन अंतर्राष्ट्रीय केंद्र का उद्घाटन किया। वे अब साधु न थे, फिर भी बड़ी जल्दी एक आध्यात्मिक नेता के रूप में लोकप्रिय हुए, स्नेहभाजन बने, जैन और जैनेतर लोगों की प्रशंसा के पात्र हुए। लोग उन्हें प्रेमपूर्वक गुरुदेव चित्रभानुजी कहकर संबोधित करते हैं।

मुनि चंद्रप्रभा सागर का विदेश यात्रा का साहसपूर्ण निर्णय बहुत ही महत्त्वपूर्ण और सामयिक क़दम सिद्ध हुआ, विशेषत: जैन सुधार प्रयासों की दृष्टि से![57] उन्हीं के सौजन्य से 1975 में एक और साधु आचार्य सुशील कुमार ने उनका अनुसरण किया और पश्चिमी राष्ट्रों को भगवान महावीर का संदेश देने, संयुक्त राज्य अमेरिका गए और वहां चित्रभानुजी के सहयोगी बने। आचार्य सुशील कुमार ने उत्तरी अमेरिका में भगवान महावीर जैन मिशन और एक तीर्थ केंद्र- सिद्धाचलम् की स्थापना की। 1981 में इन दो उदार विचारधारा के साहसी महानुभावों ने उत्तर अमेरिका में विभिन्न स्थानों में रहने वाले लगभग 80,000 जैनों को प्रेरित किया कि एकत्र होकर वे एक संगठन बनाएं। जैना-फेडरेशन ऑफ जैन असोसिएशनस् ऑफ नॉर्थ अमेरिका - नाम का यह संगठन इन्हीं के शुभ संकल्प की परिणति है। दोनों गुरुजनों ने अमेरिका में[57] जैन केंद्रों की अध्यक्षता की और 16 जैन मंदिर बनवाए। चित्रभानु जी प्रति वर्ष यूरोप, अफ्रीका और भारत की लंबी यात्राएं करते हैं, भगवान महावीर का संदेश प्रसारित करते हैं, उनका श्रोता वर्ग निरंतर बढ़ता हुआ उनके प्रवचनों से लाभान्वित होता है। उनका वैश्विक मिशन विशेष रूप से जैन युवा वर्ग के लिए है, वे चाहते हैं कि जैन युवा पंथ भेदों को गौण मानकर अहिंसा और अनेकांतवाद की विरासत को समृद्ध करें।

(57) जैन डी.पी., द वेव ऑफ ब्लिस: द इम्पेक्ट ऑफ चित्रभानु ऑन द वेस्टर्न वर्ल्ड, स्वाध्याय मंदिर चेरिटेबल ट्रस्ट, अहमदाबाद। तथा रोज़नफील्ड क्लेअर: गुरुदेव श्री चित्रभानु: ए मैन ऑफ विज़न, जैन मेडिटेशन इंटरनेशनल सेंटर, न्यूयार्क, 1981.

आचार्या चंदनाजी

जैन धर्म में सुधार आंदोलन की सबसे विवादास्पद तपस्विनी 'आचार्या चंदनाजी' हैं। उनका जन्म 1937 में हुआ। माता-पिता, माणेक और प्रेम ने उनका नाम रखा था शकुंतला। बहुत छोटी उम्र में- चौदह साल की उम्र में - उन्हें दीक्षा दी गई। दीक्षा आचार्य आनंद मुनि ने दी। वे इस बात से बहुत प्रभावित हुईं थी कि भगवान महावीर की साधना केवल व्यक्ति तक ही सीमित नहीं रही बल्कि उन्होंने अपना जीवन अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकांतवाद के द्वारा सामाजिक पुनर्रचना के उद्देश्य के लिए समर्पित किया। उनका विश्वास था कि भगवान महावीर का संदेश-अहिंसा, वस्तुत: भगवान महावीर का समस्त प्राणी मात्र की सेवा का संदेश था, मानवसेवा का संदेश था। 1972 में वे सुधारवादी गुरु अमर मुनि जी के मार्गदर्शन में साध्वी दल में शामिल हुईं। अनेकांतवाद की मूल भावना के अनुरूप जैन और अन्य जैनेतर शास्त्र ग्रंथों का उन्होंने अध्ययन किया। 1946 में उनतालीस वर्ष की उम्र में उनकी आध्यात्मिक प्रगति की सराहना के रूप में उन्हें दर्शन आचार्या; तापस जीवन की,पदोन्नति दी गई। यह उनकी योग्यता एवं आध्यात्मिक प्रगति की मान्यता थी।

दूसरी बात, जिसने उन्हें प्रभावित किया, वह था भगवान महावीर का एकता संदेश! भगवान महावीर का चतु:संघ समाज समानता का समाज था, जहां जाति, लिंग आदि की कोई विषमता नहीं थी। महावीर स्वामी ने बहुत तत्परता से उच्च या नीच जाति के हिंदू स्त्री/पुरुषों को संघ में प्रवेश दिया, उन्हें आगे बढ़ाया। मगर साधु के श्रेष्ठता क्रम का निर्धारण करते समय साधू की विद्वत्ता और आध्यात्मिक प्रगति ही केवल उनका मापदंड रहा। उन्होंने समान रूप से स्त्री-पुरुष दोनों को तापस श्रेणी के नेतृत्व के लिए चुना। भगवान महावीर के जीवन काल में समस्त साध्वियों की प्रमुख के रूप में आचार्या चंदनबाला का चयन किया।[58] दुर्भाग्य से जैसा कि अन्य संप्रदायों में होता है, पुरुष की प्रधानता सर्वत्र है। जैन साध्वियों के विषय में भी यही हुआ। कालांतर से साधुओं की श्रेणी में वरीयता क्रम का निर्धारण करते समय साधुओं की अपेक्षा साध्वियों का दर्जा कमतर ही रहा। एक दिगंबर लेखक प्रभाचंद्र[59] तो यहां तक कह गए कि महिला कभी सच्ची जैन नहीं हो सकती। हालांकि लेखक शकटायन ने दृढ़तापूर्वक इस स्थिति पर प्रहार किया कि महिलाएं भी मानव समाज की पुरुषों के समान सदस्याएं हैं, अत: ज्ञान प्रबोधन के लिए उतनी ही योग्य हैं।[60]

पुरुषों की वरिष्ठता की मान्यता के समक्ष तो श्वेतांबर भी झुक गए। श्वेतांबर साधु श्रेणी परंपरा के अनुसार

(58) जेकोबी एच.द लीडर ऑफ द नन्स (इन भगवान महावीर संघ) आचार्या चंदना 'जैन सूत्र भाग', ऑक्सफोर्ड.
(59) प्रभाचंद्र: न्याय कुमुद चरित, जैन एम.के. मुंबई, 1941, पृष्ठ-865-70
(60) शकटायन-, स्त्री-निर्वाण केवली भक्ति प्रकरणे, जंबू विजय जी मुनि, भावनगर, 1974

कनिष्ठ साधु, वरिष्ठ साधु को वंदन करते हैं। एक नव दीक्षित साधु, चाहे जिस उम्र का हो, उससे पहले दीक्षित साधुओं को आदर देगा और सामान्य लोग साधु मात्र का आदर अभिनंदन करेंगे। मगर मध्यकाल के श्वेतांबर आचार्य जिनदत्त सूरी ने महिलाओं द्वारा मंदिरों में मुख्य तीर्थंकरों की पूजा को प्रतिबंधित करने का प्रयत्न किया था[61] श्वेतांबरों ने भी दीक्षा से संबंधित नियम बनाया जिसके अनुसार एक साध्वी चाहे जितने वर्ष साध्वी श्रेणी में रही हो, उसकी श्रेणी में वरीयता प्राप्त हो, किंतु उसे नव दीक्षित साधु को सम्मान देना ही होगा।[62] उन्होंने मठ के साधुओं की उपाधियों का एक नया क्रम बनाया जिसके अनुसार साधुओं के पद इस प्रकार हुए।

साधु संघ	**साध्वी संघ**
(1) साधु या मुनि	साध्वी या गणिनी
(2) गणिवर्य	प्रवर्तनी
(3) पन्न्यास या प्रवर्तक	महत्तरा
(4) उपाध्याय	
(5) आचार्य।	

साध्वियों के लिए पद इस प्रकार हुए, साध्वी या गणिनी, प्रवर्तनी, महत्तरा।

केवल आचार्य ही श्रेणी प्रधान के रूप में मान्य रहे। जैन इतिहास में बहुत काल तक केवल पुरुष ही श्रेणी प्रधान रहे, मुखिया रहे। यह सत्य आचार्याजी के संबंध में भी चरितार्थ रहा।

महत्तरा के स्थान पर आचार्या पद की उपाधि पाने के लिए चंदनाजी और उनके प्रदायक अमर मुनिजी ने परंपरा को तोड़ा। सच तो यह है कि ऐसा करने से वे भगवान महावीर के समता संदेश के पुनरावलोकन के लिए संघ को आमंत्रित कर रहे थे। चंदनाजी के पक्ष में भगवान महावीर का समता संदेश भी था और इतिहास भी, अत: उनका 'आचार्या' बनना वैसे स्वयमेव सिद्ध था किंतु उसके पीछे उनकी स्वभावगत विशिष्टता भी थी-जो उनकी, बाद की प्राय: हर गतिविधि में स्पष्ट है-वह है, उनकी कृति-निश्चयता और समाज को कार्य प्रवृत्त करने के लिए चुनौती देना।

भगवान महावीर का संदेश 'जीव दया' एक अन्य मुद्दा ऐसा था जहां कार्यान्वयन के लिए उनके मन में तड़प थी। उनका कहना है कि जैन कर्म सिद्धांत और तप मार्ग की ग़लत व्याख्या की गई है। जैन साधु पांच महाव्रत ग्रहण करते हैं-वह व्यक्तिगत रूप से प्रतिबद्ध है कि कर्मबंध से आत्मा को मुक्त कराने का प्रयत्न करे। अच्छी या बुरी जैसी भी गतिविधियां हों वे आत्मा को कर्म के साथ बांधती हैं इसीलिए कई साधु व्रत का अर्थ

(61) डूंडस पॉल, द जैनस् रोटलेज, लंदन 1962, पृष्ठ 52
(62) डूंडस पॉल, द जैनस् रोटलेज, लंदन 1992, पृष्ठ 27

लगाते हैं 'समस्त गैर ज़रूरी गतिविधियों' से दूर रहना। वे सामान्य जनता को उपदेश देते हैं कि उन्हें दया-करुणा के कार्य करना चाहिए पर वे स्वयं ऐसे कर्मों से दूर रहना चाहते हैं, इसीलिए कि कर्म में लिप्त होने से उनमें आसक्ति उत्पन्न होगी और आसक्ति से आत्मा पर कार्मिक बंधन दृढ़ होगा। इस तरह की व्याख्याएं भारत जैसे देश में सामाजिक न्याय के उद्देश्यपूर्ण कार्यों पर प्रतिकूल नकारात्मक प्रभाव डालती हैं। सामान्यत: आम जैन व्यक्ति उदारता पूर्वक मंदिरों, अस्पतालों, प्राणी आश्रय-शालाओं, पाठशालाओं और तीर्थ स्थानों में दान देते हैं। फिर भी जैन समाज में स्वयंसेवक के रूप में मानव सेवा कार्यों में तन-मन से शामिल होने की वृत्ति कम पाई जाती है। विशेष रूप से साधु-संन्यासियों द्वारा मानव सेवा कार्य में स्वयं भाग न लेने के कारण भी सामान्य जनता उदासीन रहती है।

जैन साधुओं का मानव सेवा कार्य में प्रत्यक्ष भाग न लेना एक बहुत बड़ी कमी है। आचार्या चंदनाजी को यह समझने में देर नहीं लगी। सामाजिक न्याय, मानव अधिकारों की और समस्त प्राणी मात्र के अधिकारों की रक्षा की बात आज पूरे विश्व में नई आध्यात्मिकता की अवधारणाओं का रूप ले रही है, इस तथ्य से चंदनाजी अवगत हैं।

'व्यक्तिगत मोक्ष के साथ ही सर्वसामान्य मनुष्य के साधारण जीवन को ऊंचा उठाना मेरे साधु जीवन का उद्देश्य है। वह करते हुए मुझे भगवान महावीर के मूल सूत्रों से प्रेरणा मिलती है।'[63]

सामाजिक न्याय के लिए कार्य करने के लिए वे बार-बार अपने गुरु से आग्रह करने लगीं। तो उनके गुरु अमरमुनि ने उन्हें एक दिन कठिन जोखिम भरा मानव सेवा का कार्य सौंपा। 1973 में चंदनाजी और अन्य चार साध्वियों को बिहार के दूर-दराज़ के क्षेत्रों में जाकर ग़रीबों की सहायता का काम सौंपा गया। बिहार उन दिनों और आज भी भारत का बहुत ग़रीब, पिछड़ा और खतरनाक प्रदेश है। ढाई हज़ार वर्ष पहले बिहार जैन धर्म का गढ़ था। चौबीस में से बाईस तीर्थंकरों ने बिहार की भूमि पर विचरण किया और मोक्ष भी वहीं प्राप्त किया। भगवान महावीर ने बिहार ही में राजगिरि स्थान में चौदह वर्ष तपस्या की थी। अहिंसा, प्रेम, करुणा का संदेश दिया था। आज उसी बिहार में शायद ही कोई जैन परिवार रहता हो। अब इन साध्वियों को वहां रहकर मानव सेवा का केंद्र स्थापित करना था 'वीरायतन!'

आरंभ में 'वीरायतन' की स्थापना में स्थानीय लोगों का सहयोग बहुत कम मिला। काफ़ी विरोध सहना पड़ा। 'वीरायतन' मिशन का काम एक छोटी-सी झोपड़ी में शुरू हुआ। शुरू-शुरू में गुंडागर्दी, तोड़-फोड़ यहां तक कि साध्वियों को जान का भी ख़तरा रहता था। अब तीस सालों बाद चंदनाजी एवं दस साध्वियों के समर्पण, परिश्रम एवं लगन से 'वीरायतन' एक सामाजिक धार्मिक संगठन के रूप में दो सौ बिस्तर का अस्पताल, निःशुल्क चिकित्सा-केंद्र, राहत कार्य, शोध संस्थान एवं स्कूल का संचालन कर रहा है। राजगिरि में और पुणे में यह कार्य हो रहा है। गुजरात में सन् 2001 में भूकंप आया तब चंदनाजी और उनकी

(63) अमर भारती: वीरायतन प्रकाशन, खंड 4, जनवरी, 1988, पृष्ठ 6.

साथी साध्वियों ने वहां जाकर कुछ ही हफ्तों में एक स्कूल खोलकर लगभग 6000 बच्चों को नि:शुल्क शिक्षा और भोजन की व्यवस्था की।

चंदनाजी स्वयं 'वीरायतन' का प्रबंध देखती हैं। वे न केवल स्वयं विभिन्न कार्यों में व्यस्त रहती हैं बल्कि अपनी साथ की शिष्या साध्वियों को व्यावसायिक प्रशिक्षण, चिकित्सा क्षेत्र में, दर्शनशास्त्र में, व्यापार प्रबंधन में शिक्षा दिलाने की व्यवस्था करती हैं। मानव सेवा कार्य के लिए प्रेरित करती हैं। दीक्षा प्राप्त साध्वियों को विदेश के विश्वविद्यालयों में विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करने भेजा जाता है। विदेशों में शिक्षा केंद्रों की स्थापना की जाती है। चंदनाजी, मानव सेवा, प्रेम, सामाजिक न्याय, शिक्षा के विभिन्न कार्यों के लिए अपने नित्य परिवर्द्धित होने वाले अनुयायी समुदाय के बीच विदेशों में घूमती रहती हैं। अफ्रिका, यूरोप, अमेरिका आदि देशों में आध्यात्मिक मार्गदर्शन करती हैं, सामाजिक न्याय के मुद्दे पर प्रोत्साहित करती हैं। और आज भी दक्षिण भारत की सुनामीग्रस्त जनता की सेवा करने में चंदनाजी और वीरायतन की साध्वियां कार्यरत हैं।

समस्या होती है, प्रत्यक्ष प्रबंधन कार्य में! प्रबंधक की भूमिका करते समय कई छोटी-मोटी धोखाधड़ी, ठगी की वारदातें, रोज़ की ज़िंदगी की परेशानियां होती रहती हैं। इतने बड़े कार्य विस्तार के लिए पैसा लाना, पैसे की व्यवस्था करना, सरकारी अधिकारियों के साथ काम करना, काम कराना, व्यावसायिक अधिकारियों के साथ, मज़दूर कार्यकर्ताओं के साथ काम करना, काम लेना और इसके अलावा, विदेश यात्राएं करना, इन जैसी कितनी सारी समस्याएं होती हैं, व्यस्तताएं होती हैं। आचार्या चंदनाजी के ऐसे कार्यों से, निर्णयों से जैन समाज का दक़ियानूस संकीर्ण विचारों का वर्ग नाराज़ रहता है। क्योंकि इसमें उन्हें साध्वी जीवन के साथ विश्वासघात नज़र आता है। वे मानते हैं कि साध्वी को पूरी तरह आध्यात्मिक गतिविधियों में लीन रहना चाहिए जैसे-धर्मग्रंथ पढ़ना, ध्यान करना और कर्मबंध से मुक्ति के लिए साधना करना। किसी भी प्रकार की अन्य गतिविधि व्रत-भंग है, आत्म शुद्धि के निर्धारित मार्ग से दूर हटना है!

चंदनाजी नित्य ध्यान, धर्मशास्त्र का अध्ययन करती हैं, इसके साथ ही भगवान महावीर के अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकांतवाद के संदेश को, कर्म का रूप देती हैं। संदेश को कार्यान्वित करना सच्ची आध्यात्मिकता है। सभी तीर्थंकरों ने यही संदेश अपने स्वयं के उदाहरण से दिया है। वे कहते हैं- "भगवान ज्ञान प्राप्त करने के बाद कभी समाज से विमुख नहीं हुए, बल्कि उन्होंने स्वस्थ, सामाजिक मूल्यों के लिए अपना जीवन समर्पित किया।" आज पूरे विश्व में आंदोलन हो रहे हैं। सच्ची आध्यात्मिकता को फिर से खोजने, उसे मानव अधिकारों की रक्षा और समस्त प्राणीमात्र के अधिकारों की रक्षा के रूप में फिर से परिभाषित किया जा रहा है। चंदनाजी के सुधार कार्य, विश्व में हो रहे सुधार कार्यों के साथ संगति स्थापित कर रहे हैं। उनके सुधार आंदोलनों में विश्व की दृष्टि को, प्रगतिशील विचारकों को, कार्यकर्ताओं को और युवा पीढ़ी को आकृष्ट किया है। फिर भी जैन समाज के कट्टर, दक़ियानूस, संकीर्ण, रुग्ण मानसिकता वाले एक वर्ग द्वारा कठोर समीक्षा, कड़ा विरोध और विवाद का भी वे लक्ष्य रही हैं। राजगिरि के पास गया रेलवे स्टेशन पर बड़े-बड़े

अक्षरों में बोर्ड पर लिखकर यात्रियों को सावधान किया गया है- 'सुबह से पहले और शाम के बाद रेलवे परिसर न छोड़ें।'

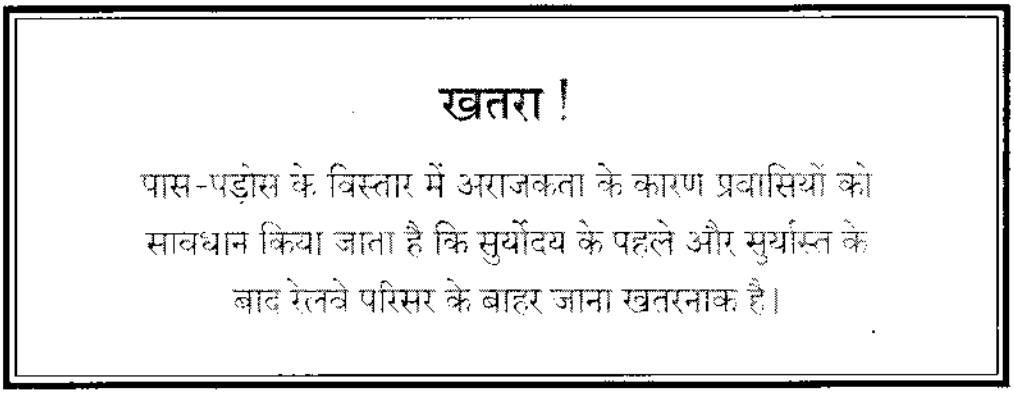

मैंने जब चंदनाजी से पूछा- 'ऐसे ख़तरनाक क्षेत्र में काम करने का ख़तरा मोल लेते हुए, जैन समाज की कटु आलोचना को सहते हुए आप काम कैसे करती हैं?' तो उनके चेहरे पर एक कोमल मुस्कुराहट फैल गई और उत्तर में उन्होंने अपने गुरु की कविता की एक पंक्ति सुनाई-

'पथ दर्शक बनानारे बळवूं पड़े छे'
(जलकर ही दिया दिखाता है राह!)

Only by burning, Can a Candle Show The path!

20

20. पवित्र साहित्य

यद्यपि पुरातत्त्व और जैन साहित्य के प्रमाण से रिखवदेव का काल, कम से कम 8500 वर्ष पूर्व निश्चित किया गया है, तथापि उस काल का कोई लिखित साहित्य नहीं हैं। भगवान महावीर के कई सदियों बाद पहला जैन पवित्र ग्रंथ लिखा गया।

मौखिक परंपरा

प्राचीन भारत में एक महान परंपरा रही है। गुरु-शिष्य परंपरा, जिसमें शिष्य गुरु की शिक्षा को कंठस्थ करते थे, बाद में उसे अपनी दूसरी पीढ़ी को मौखिक रूप से अंतरित करते थे और वही शिष्य आगे की पीढ़ी को मौखिक रूप से दे जाते थे। लगभग 1300 ई.पू.* भारत में पहला, पढ़ा जा सके ऐसा लिखित साहित्य भोजपत्रों पर लिखा गया था। मगर श्रमण साधुओं ने (वर्तमान जैनों के पूर्वज) उस काल में भोजपत्रों पर लिखने की पद्धति को दो कारणों से नहीं अपनाया।

पहला कारण, श्रमणों की, किसी भी चेतन वस्तु को दुख न पहुंचाने की प्रतिज्ञा। अहिंसा व्रत के कारण भोजपत्रों के लिए वृक्ष से पत्र काटना, सुखाना उन्हें स्वीकार्य नहीं था।

दूसरा कारण, यदि इस प्रकार भोजपत्रों पर ग्रंथ लिखे भी जाते, तो भी उन्हें साथ उठाए घूमना उनके अपरिग्रह व्रत के विपरीत था।

इसके अलावा एक कारण और भी था कि भारत की गर्म एवं आर्द्रतायुक्त जलवायु में, भोजपत्रों में कई प्रकार के सूक्ष्म कीटकों का वास होता है। उनका नाश करना, साधुओं के लिए अहिंसा व्रत के विरुद्ध आचरण होता।

रिखवदेव की शिक्षा, अवधारणाएं, उनके द्वारा विकसित ज्ञान स्मृति में धारण कर श्रमणों द्वारा, तीर्थंकरों द्वारा

---

* ईसा पूर्व 3500 मोहनजोदड़ो काल की सील मुहरों पर लिखे शब्द वैज्ञानिक कुछ साल पहले तक नहीं पढ़ पाए थे। लेकिन पहली बार सन् 2000 फरवरी में उन्हें पढ़ने में सफलता मिली है।

मौखिक शिक्षा के रूप में पीढ़ी-दर -पीढ़ी अतंरित की जाती रही। अंत में, अंतिम तीर्थंकर महावीर द्वारा उन्हें एकत्रित कर 600 ई.पू. के लगभग संकलित की गई। उनके मुख्य शिष्य इंद्रभूति गौतम ने गुरु द्वारा दिए गए समस्त ज्ञान को व्यवस्थित रूप देकर बारह भागों में वर्गीकृत किया। बारह भागों में वर्गीकृत साहित्य का नाम था 'द्वादशांग सुत्तम्'- यही जैन धर्मशास्त्र ग्रंथ है। यह तब भी मौखिक रूप में था और बाद की कई सदियों तक वैसा ही रहा।

लिखित मूल ग्रंथ

भगवान महावीर के निर्वाण के 1000 वर्षों बाद 453 ई.पू. तक जैन धर्म पर लिखित ग्रंथ नहीं था। तब तक भगवान महावीर के वचन मौखिक रूप से साधुओं द्वारा शिष्यों में अंतरित होते रहे। उन दिनों (ई.पू. चौथी सदी) बिहार ज्ञान का केंद्र था। किंतु जब दक्षिण में स्थित आचार्य भद्रबाहु की मृत्यु हुई और उनके शिष्य दक्षिण भारत से लौटे तो 'महावीर वचन' (आगम) के उनके संस्करण में और बिहार में रह रहे आचार्य स्थूलभद्र दल के संस्करण में अंतर था।

मौखिक संस्करणों के अंतर के कारण स्थूलभद्र ने पाटलीपुत्र बिहार में 327 ई.पू. में देश के समस्त साधुओं का सम्मेलन बुलाया। उनका उद्देश्य था, दक्षिण और उत्तर-पूर्व बिहार के संस्करण के अंतर को परस्पर वार्ता से, समझौते से दूर कर एक अधिकृत संस्करण तैयार करना। साधुओं को आशंका थी कि भगवान महावीर की वाणी को मौखिक रूप में रखने की परंपरा से कहीं उनका ज्ञान ही लुप्त न हो जाए शायद ऐसी ही आशंका से निर्णय लिया गया होगा कि 'महावीर वचन लिखित रूप में सुरक्षित रखे जाएं और इस संग्रह को 'अपरिग्रह व्रत' की सीमा से बाहर रखा जाए। यदि उस समय लिखा भी गया होगा तो बिल्कुल अल्प मात्रा में रहा होगा। इस बीच में 'महावीर वचन' को लेकर मौलिकता का विवाद चल पड़ा क्योंकि 'महावीर वचन' विभिन्न दलों द्वारा विभिन्न रूप से कंठस्थ किए गए थे। एक बड़ा विवाद पहले भी 82 ईसवी सन् में हुआ था कि साधुओं द्वारा वस्त्र प्रयोग के लिए शास्त्र की अनुमति है या नहीं। तब उस विवाद के कारण दोनों संप्रदायों में मतभेद गहरा हो गया था। हालांकि आगमों का क्रम बनाना, संपादन करना, प्रकाशन के लिए तैयार करना शुरू भी नहीं हुआ था, फिर भी कई साधुओं ने स्वतंत्र रूप से विभिन्न विषयों पर मौखिक रूप से प्राप्त ज्ञान के आधार पर लिखना शुरू कर दिया। उस काल की मुख्य कृतियां, आचार्य कुंदकुंद (दूसरी सदी) लिखित 'समयसार', 'नियमसार' और 'प्रवचनसार'; भुतबली रचित 'सतखंड' और गुणभद्र कृत 'कषाय-प्रभृत्र' को दिगंबर संप्रदाय में धर्मग्रंथ के रूप में मान्यता प्राप्त है।

द्वितीय एवं तृतीय साधु परिषद् (मथुरा 340 ईसा पूर्व और वल्लभीपुर ई. सन् 453) में अंततः 'द्वादशांग सुत्तम्' नाम से एक अधिकृत संस्करण तैयार हुआ, जो साधु क्षमाश्रमण के नेतृत्व में लिखा गया और उसे 'आगम' कहा गया। साधु परिषद् द्वारा निकाला गया यह संस्करण था जिसमें सैकड़ों साधुओं ने एक-एक सूत्र उच्चरित किया और वह सैकड़ों साधुओं द्वारा सुना गया, फिर उसे लिखा गया। श्वेतांबर मानते हैं कि

परिषद् में जो पाठ पढ़ा गया और लिखा गया वह प्रामाणिकता में भगवान महावीर के वचनों के अत्यंत निकट है, भगवान महावीर के ही मूल शब्दों का उसमें प्रयोग है। भगवान महावीर के पूर्व के अधिकतर शिक्षा वचन जिन्हें 'पूर्व' कहा जाता है, तेईसवें तीर्थंकर पार्श्व के समय से ही खो गए थे। पुस्तकों की इस प्रथम नई लहर को 'अंग आगम' कहा गया। अंग अर्थात् मूल या मुख्य और आगम का अर्थ है भगवान महावीर की वाणी। श्वेतांबरों ने इसे भगवान महावीर की शिक्षा का अधिकृत प्रामाणिक रूप माना है जबकि दिगंबरों ने भगवान महावीर के वचनों का अधिकृत रूप नहीं माना। फिर भी सर्व-सम्मति से इतना तो माना गया कि वे भगवान महावीर के बिल्कुल वे ही शब्द भले ही न हों परंतु हैं तो भगवान महावीर का मूल संदेश!

मुख्य धर्मशास्त्र ग्रंथ

बाइबल या पवित्र क़ुरान एक ही पुस्तक के रूप में है, मगर पवित्र जैन साहित्य बहुत से ग्रंथों को मिलाकर बना है। श्वेतांबर समाज आगम के 45 खंड मानता है, इसमें ग्यारह खंड मुख्य शास्त्र ग्रंथ 'अंग आगम' में शामिल हैं (12 वां खंड, 'पूर्व' की 14 पुस्तकों का संग्रह था, जो खो गया) और 34 सहायक पूरक ग्रंथ अंग-बाह्य आगम हैं। दिगंबरों का मानना है कि भगवान महावीर की सभी रचनाएं खो गई हैं। केवल बाद के दो ग्रंथों को वे विश्वसनीय-प्रामाणिक मानते हैं।

भगवान महावीर के समय अर्ध्दमागधी भाषा, गंगा नदी के मैदानी इलाकों में रहने वाले आम लोगों की भाषा थी, जबकि तत्कालीन विद्वानों की भाषा, विशेषकर ब्राह्मण, पंडितों की भाषा संस्कृत थी। भगवान महावीर ने अर्द्धमागधी भाषा में जनसाधारण की आम बोलचाल की भाषा में उपदेश दिए थे। इसी कारण आगे जाकर 'अंग आगम' उसी भाषा में लिखे गए। जैन अध्यात्म विद्या और ज्ञान-मीमांसा आदि सामग्री जो पहले के अध्यायों में दी गई है वह इन ग्रंथों पर आधारित है। बारह खंडों को मोटे तौर पर, उनकी विषय सामग्री के आधार पर चार समूहों में बांटा जा सकता है। उदाहरणार्थ-

1. खंड 1, 7, 10 सम्यक चरित्र पर हैं।
2. खंड 2 में जैन सम्यक् दर्शन की अन्य समकालीन दर्शन शास्त्रों से तुलना है।
3. सम्यक् दर्शन और सम्यक ज्ञान की चर्चा खंड 3, 4, 5 में की गई है।
4. खंड 6, 8, 9, 11, 12, में जैन दर्शनशास्त्र समझाया गया है। और मोक्ष मार्ग पर अनुयायियों को प्रेरित करने वाले विवरण हैं।

खंड 12 खो गया है। किंतु खंड 3, 4 को छोड़कर अन्य सभी खंडों का या तो जर्मन भाषा में या फिर अंग्रेजी में अनुवाद हो चुका है। सभी खंडों का गुजराती में अनुवाद किया जा चुका है। सभी खंडों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया गया है। मूल शीर्षकों के साथ संस्कृत नाम भी साथ-साथ दिए गए हैं:-

खंड 1 आचारंग सुत्तम् (आचारंग सूत्र)
इसमें भगवान महावीर के तापस जीवन का वर्णन है, जो एक साधु/साध्वी का आदर्श आचरण कैसा होना चाहिए, यह दर्शाता है। जैन दर्शन के 'अकारत्रय' सिद्धांतों का बहुत विस्तार में किंतु सूक्ष्म विवेचन है।

खंड 2 सूयगदडंग सुत्तम् (सूत्रकृतांग सूत्र)
यह खंड मूलत: वाद-विवाद है-जैन दार्शनिक धारणाएं तथा अन्य विरोधी समकालीन विश्व-दर्शन धारणा यथा, भाग्यवाद, सांख्य, कर्मकाण्डवाद, अज्ञेयवाद आदि के विषय में। अनेकान्तवाद के मापदंड से अन्य सभी दर्शन इकतरफ़ा होने की वजह से अपर्याप्त, अपूर्ण माने गए हैं, और अनेकांतवाद के सिद्धांत की तुलना में हीन हैं।

खंड 3 थनंग सुत्तम् (स्थानांग सूत्र)
यह खंड नव दीक्षा प्राप्त साधु-साध्वियों के लिए, उन्हें जैन सिद्धांत और सम्यक् दर्शन समझाने के लिए है।

खंड 4 समवायांग सुत्तम् (समन्वयांग सूत्र)
खंड 3-4 सूची में, तालिका की तरह लिखे हैं। मुख्य उद्देश्य जैन सिद्धांतों को विस्तृत रूप से समझने और कंठस्थ करने में विद्यार्थियों की सहायता करना है। कालक्रम के अनुसार ये खंड संभवत: अंतिम होने चाहिएं। क्योंकि उनमें 12 खंडों की सामग्री विस्तारपूर्वक दी गई है।

खंड 5 वियाहपन्नति सुत्तम् (व्याख्या प्रज्ञाप्ती सूत्र, भगवती सूत्र)
यह खंड समस्त अंग-आगमों में सबसे बड़ा है। प्रश्नोत्तर शैली में लिखा गया है। प्रश्नकर्ता है मुख्य शिष्य इंद्रभूति गौतम और उत्तर भगवान महावीर के हैं। लगभग 36,000 से अधिक प्रश्नोत्तरों में आत्मा, कर्म, स्याद्वाद आदि की बहुत विस्तृत किंतु सूक्ष्म व्याख्या है। इसमें प्रश्नोत्तर शैली में जो चर्चा है वह इतनी बहुमूल्य है कि इसे भगवती सूत्र (परम पवित्र) कहा जाता है।

खंड 6 नय धम्म कहाओ सुत्तम् (ज्ञातृ/धर्म कथा सूत्र)
यह विवरणात्मक खंड है। भगवान महावीर ने प्रवचन के समय दृष्टांत के रूप में, अपने कथन की पुष्टि के लिए अनेक कथाओं का उपयोग किया था, उन कथाओं का, दृष्टांतों का इसमें संकलन है। कथात्मक शैली से कोई गूढ़ कठिन मुद्दा समझना आसान होता है। इस शैली का महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि आज भी जैन साधु इसमें दी गई कथाओं का, दृष्टांतों का उदाहरण देते हैं। जैसे हाथी और सात अंधे, (अनेकांतवाद का उदाहरण) अथवा 'कुएं में पड़ा मनुष्य' (छोटे सुखों की अपेक्षा स्थायी सुख की खोज का महत्त्व)

खंड 7 उवसग्दसउ सुत्तम् (उपासक-दशाध्ययन सूत्र)
प्रथम खंड में जिस प्रकार भगवान महावीर के तापस जीवन के आदर्श आचरण के प्रसंग हैं, जिनका उद्देश्य

साधुओं के लिए आचरण संहिता का उदाहरण रखना है, यह खंड भी उसी प्रकार आम जनता के लिए आचरण का निर्धारण करता है। इसमें भगवान महावीर के दस अनुयायी (आम जनता से) व्यक्तियों के आचरण, उनकी कठिन परीक्षा, उनके दुख-क्लेश और उनकी दृढ़ता का विवरण है।

खंड 8 अंतगदसाओ सुत्तम् (अंत:कृदशा सूत्र)

यह खंड मूलत: कथा संग्रह है जिसमें श्रावक/श्राविकाओं के लिए कथा के माध्यम से जैन धर्म की गूढ़ दार्शनिक बारीकियों को समझाने की दृष्टि है। यह आम जनता के लिए भी समान रूप से उपयोगी है। जैन साधु अपने प्रवचनों में आज भी इन कहानियों का उपयोग करते हैं।

खंड 9 अणुत्तरोव वाइय दसाओ (अनुत्तरोपपातिकदशा सूत्र)

दो खंडों की इस रचना में आम आदमी को व्रत एवं 'प्रतिमा' की साधना द्वारा साधु बनने की प्रेरणा और अंत में मोक्ष प्राप्ति के लिए आकृष्ट करना, उद्देश्य है।

खंड 10 पण्हवागरणाइं सुत्तम् (प्रश्न व्याकरण सूत्र)

मोक्ष मार्ग की यात्रा के लिए साधारण मनुष्य बारह व्रत (अणुव्रत) लेता है। (अध्याय 3) यदि साधु की दीक्षा लेनी हो तो उसे पांच महाव्रत लेने होते हैं (अध्याय 4)। इस खंड में मुख्य व्रतों का वर्णन तथा आचार संहिता है। साथ ही निम्न कोटि के पांच पापों के विषय में सावधान किया गया है।

खंड 11 विवागसूयम् सुत्तम् (विपाकश्रुत सूत्र)

इस खंड में जैन कर्म सिद्धांत के विषय में कथाएं हैं, जो बताती हैं कि मनुष्य के अच्छे-बुरे कर्मों का फल उसे भोगना ही पड़ता है। अपने विगत कर्मों के फल का लाभ कुछ लोगों को किस प्रकार मिला, और कैसे कुछ लोग, विगत जन्मों के बुरे कर्मों का दंड इस जन्म में भुगत रहे हैं, यह इस खंड की विषय सामग्री है जो बुरे कर्मों से हमें रोकती है।

खंड 12 दिट्ठीवाय सुत्तम् (दृष्टिवाद सूत्र)

हालांकि ऐसा माना जाता है कि यह खंड खो गया है फिर भी उसके संबंध में कई प्रसंग, संदर्भ 'प्रज्ञापन' शीर्षक सहायक धर्म ग्रंथ में मिलते हैं, जिससे इस खंड की सामग्री का पता चलता है। माना जाता है कि इसमें महावीर के पूर्वकाल की कथाएं और जानकारी है। दिगंबर परंपरा के अनुसार इस भाग का कुछ अंश सुरक्षित है और दूसरी सदी में भूतबली द्वारा लिखा गया था। इस रचना का नाम है 'सतखंड आगम'। इसी विषय सामग्री पर आधारित दूसरा ग्रंथ गुणभद्र द्वारा लिखा गया, जिसका शीर्षक है 'कषाय प्रभृत'। दिगंबर वैसे तो समस्त साहित्य का आदर करते हैं परंतु उन्होंने उक्त अंतिम दो खंडों को ही वैध-प्रामाणिक शास्त्र माना है।

सहायक खंड

मुख्य शास्त्र, अंग-आगम सामान्यत: श्वेतांबरों द्वारा स्वीकृत शास्त्रग्रंथ है। क्योंकि वे मानते हैं कि वे भगवान महावीर के प्रत्यक्ष शिष्यों द्वारा- गणधरों द्वारा- संकलित हैं, और प्रामाणिक भी। बाद में कई साधुओं ने अंग आगम की विस्तृत व्याख्या करने के उद्देश्य से सहायक ग्रंथ रचनाएं लिखीं। वे ग्रंथ भी पवित्र (आगम) माने जाते हैं किंतु उनका स्थान अतिरिक्त, अंग-बाह्य (मुख्य शास्त्र के बाहर) माना गया है। अंग-बाह्य आगमों की संख्या 34 है, उनकी विषय सामग्री इस प्रकार वर्गीकृत है-

उपांग - (12 खंड) ये पुस्तकें श्रावकों के लिए लिखी गई हैं, ताकि वे महत्त्वपूर्ण जैन अवधारणाओं को समझें। उदाहरण उववाइय (औपपतिका) में व्रत निर्वाह का महत्त्व बताया गया है।

रायपसेणिय (राज प्रसन्नीय) में जैनों की आत्मा संबंधी धारणा की तुलना अन्य धर्म संप्रदायों की धारणा के साथ संवादों के माध्यम से की गई है। संवाद जैन एवं जैन से भिन्न प्रस्तावकों के बीच है। जैनेतर संप्रदाय मानते हैं कि आत्मा पदार्थ रहित होने के कारण असीम है और सर्वत्र विद्यमान है। जैन मानते हैं कि आत्मा पदार्थ रहित होने पर भी जब वह कर्मबंध में बद्ध स्थिति में होती है तब प्राप्त शरीर के अनुसार आकृति एवं आकार में होती है। 'जीवजीवाभिगम' ग्रंथ में संवाद रूप में जैन सत्त्वविद्या प्रस्तुत है। पन्नावणा (प्रज्ञापन) ग्रंथ में चौदह खोए हुए 'पूर्व' साहित्य की संक्षिप्त सामग्री के अतिरिक्त बद्ध आत्मा (कर्मबंध में बंधी) के विभिन्न पहलुओं पर चर्चा है।

जैन विश्व-विद्या की चर्चा सूरियपण्णति (सूर्य प्रज्ञापति) चंदण्णति (चंद प्रज्ञापति) तथा जंबूदिवपण्ति (जंबूद्वीप प्रज्ञापति) में की गई है। 'जंबूदिवपण्णति' ग्रंथ समय-चक्र संबंधी जैन धारणा को स्पष्ट करता है। रिखवदेव-प्रथम तीर्थंकर ने किस तरह सभ्यता का श्रीगणेश किया, इसका भी विवरण है। जैनों की मान्यता है कि हिंदू अवतार कृष्ण, बलराम, नेमीनाथ-22 वें तीर्थंकर, परस्पर रिश्ते में थे, इसके विषय में विवरण वन्हिदसउ (वृष्णिदशा) ग्रंथ में दिया गया है।

छेद सूत्र - (6 खण्ड) जैन साधु संघ के नियमों का अनुशासन और साधु/साध्वी के आचरण के संबंध में ये रचनाएं हैं। आचरण में त्रुटियां होने पर दोष-परिहार के नियम भी दिए गए हैं। उक्त 6 पुस्तकें इस प्रकार हैं (1) अचारदसो (आचार-दप्प) (2) बिहकल्प (बृहत्कल्प) (3) ववहार (व्यवहार) (4) निसिह (निशीथ) (5) महानिसिह (महानिशीथ) (6) जियकप्प (जितकल्प)।

मूल सूत्र - (4 खण्ड) ये पुस्तकें सभी साधु/साध्वियों के लिए पठनीय हैं विशेष रूप से तपस्वी जीवन के आरंभकाल में साधु/साध्वी कितने कठोर अनुशासनपूर्वक रहते हैं, इसका वर्णन है। उक्त चार पुस्तकें हैं- (1) दसवैयालिय (दशवैकालिक) (2) उत्तराज्शयन (उत्तराध्ययन) (3) अवस्सय (आवश्यक)

(4) पिंडणीज्जुत्ती (पिंडनियुक्ति)। इन पुस्तकों में साधुओं के लिए विस्तार पूर्वक किंतु सूक्ष्म निर्देशों के साथ बताया गया है कि दैनिक जीवन में उनके लिए क्या करणीय है और क्या निषिद्ध। 'उत्तराझझयन' रचना भगवान महावीर के अंतिम 36 प्रवचनों का संग्रह है, ऐसा माना जाता है।

प्रकीर्ण सूत्र - (10 खण्ड) दस छोटी पुस्तकों में , संथारा-पवित्र मृत्यु से संबंधित कर्मकाण्ड का वर्णन है। विषय- जैसे आश्रय लेना, मृत्यु के समय चेतना को रोक रखना, महावीर एवं अन्य जिनों की स्तुति करना आदि विषय हैं।

चूलिक सूत्र - (2 खण्ड) इसमें पहली पुस्तक नंदीसुत्त (नंदी सूत्र) ज्ञान के पांच प्रकारों की व्याख्या है- मति, श्रुति, अवधि, मन पर्याय और केवलज्ञान। इसमें तीर्थंकरों एवं गणधरों के विषय में विस्तृत वर्णन है। दूसरी पुस्तक अनुओगद्वारोयम् (अनुयोगद्वार सूत्र) में विभागानुसार अन्य शास्त्रों में दी गई सामग्री संक्षेप में दी गई है।

अनुयोग (भाष्य)

आगम ग्रंथों के समान जैन विद्वान साधुओं का लिखा गया अन्य साहित्य भी समृद्ध एवं वैविध्यपूर्ण है। विगत 2000 वर्षों की अवधि में जिनों की जीवनियां, जिनों की स्तुति में मंत्र, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विषयों पर तर्कपूर्ण एवं वैज्ञानिक साहित्य, भौतिक जगत के संबंध में विभिन्न विषयों पर लेख, तपस्वी जीवन और अनुशासन आदि विषयों पर लिखित जैन साहित्य बहुत समृद्ध है। परंपरागत रूप से जैन मंदिरों में, मठों में, भट्टारकों द्वारा सुरक्षित रखी गई हस्तलिखित प्रतिलिपियां बहुत बड़ी संख्या में पुस्तकालयों में हैं, जिन्हें पुस्तक भंडार कहा जाता है।

यहां विख्यात विद्वान साधुओं की अणुयोग कृतियों का छोटा-सा नमुना प्रस्तुत है :

लेखक	रचना	अनुवाद
दिवाकर सिद्धसेन (पांचवीं सदी)	न्यायावतार	उपाध्ए ए.एन., जैन साहित्य विकास मंडल, मुंबई, 1971
	सन्मति तर्क	संघवी, शुक्लजी, एवं दोषी बेचरदासजी, महावीर जैन विद्यालय, 1939
गुणभद्र (नौवीं सदी)	उत्तर पुराण	पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ पब्लिकेशन्स्, वाराणसी, 1954
हरिभद्र (आठवीं सदी)	संबोध प्रकरण	जैना ग्रंथ प्रकाशक सभा, अहमदाबाद, 1915
	षडदर्शन समुच्चय	योग बिंदुजैन एम.के. भारतीय ज्ञानपीठ पब्लिकेशन्स्, 1969
	योग दृष्टि समुच्चय योग शतक	दीक्षित के.के., एल.डी. इंस्टीट्यूट ऑफ इंडोलॉजी, अहमदाबाद, 1968
हेमचंद्र (बारहवीं सदी)	त्रिषष्टी शलाका	1. हेलन एम.जॉनसन Lives of Sixty Three Illustrious Persons, 6 vol. ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ोदरा, 1962
		2. चरण विजय मुनि सं. जैन आत्मानंद सभा, भावनगर, 1933
	योग शास्त्र	भारिल्ल शोभागचंद, दिल्ली, 1963
	प्रमाण मीमांसा	(1) मुकर्जी, सत्कारी, तातिया नाथमल, तारा पब्लिकेशन्स्, वाराणसी, 1970
		(2) संघवी, शुक्लजी, सिंधी, जैना सीरीज़, कलकत्ता, 1939
	अन्य योगावयवच्छेदिका	थॉमस एफ़. डब्ल्यू. The Flower Spray of the Quodammodo Doctrine Akademic-Verlag, 1960
		जैन जे.सी., राजचंद्र जैन शास्त्र माला, आगरा, 1970

लेखक	रचना	अनुवाद
	परिशिष्ट पर्व	जेकोबी एच., बिबलिओथेका इंडिका नं. 96, कलकत्ता, 1932
	शब्दानुशासन	हिमांशु विजय मुनि, अहमदाबाद, 1934
जिनसेन	आदिपुराण	पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ (आठवीं सदी) पब्लिकेशन्स्, वाराणसी, 1963, 1965(दो खंड)
	हरिवंश पुराण	पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ पब्लिकेशनस, वाराणसी
कुंदकुंद (दूसरी सदी)	नियम सार	मगनलाल जैन, दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर, सोनगढ़, 1965
	प्रवचन सार	उपाध्ये ए.एन., राजचंद्र जैन शास्त्रमाला, आगास, 1934
	समय सार	चक्रवर्ती ए., भारतीय ज्ञानपीठ पब्लिकेशन्स्, वाराणसी, 1925, पुनर्प्रकाशित 1971 भोर डी.जी., महावीर ज्ञानोपासना समिति, कारंजा, 1968
सोमदेव (दसवीं सदी)	नीति वाक्यामृत	मालवीय आर., चौखंभा, विद्या भवन, 1972
	यश तिलक चंपू	शिवदत्त महामहोपाध्याय, काव्यमाला नं. 70, मुंबई, 1901-1903
उमा स्वाति (दूसरी सदी)	तत्त्वार्थ सूत्र	(1) तातिया नाथमल, That Which is हार्पर कॉलिन्स पब्लिकेशन्स, द सेक्रेड लिटरेचर सीरीज़ सानफ्रान्सिस्को, 1994 (2) सिद्धांत शास्त्री फूलचंद वर्णी ग्रंथमाला, वाराणसी, 1949 (3) संघवी, शुक्लजी, जैना संस्कृति संशोधन मंडल, वाराणसी, 1952, द्वितीय संस्करण वोहरा, सुनंदा, तत्त्वमीमांसा, (गुजराती)
यशोविजय (सत्रहवीं सदी)	जैन तर्कभाषा ज्ञान बिंदु न्यायलोक	भार्गव डी., मोतीलाल बनारसीदास, 1973

ऋण स्वीकार

परिवार, स्वजन एवं मित्रों के सहकार बिना इस प्रकार का लेखन असंभव है । आपकी सलाह-सूचना, प्रशंसा एवं आलोचना ने मेरी प्रेरणा को सम्बल प्रदान किया । ''जैन धर्म जैसे एक प्राचीन दर्शन का आज के आधुनिक वैज्ञानिक युग से क्या संबंध हो सकता है'' यह थी युवा पीढी की जिज्ञासा । इस अदम्य जिज्ञासाने मुझे लिखने के लिए प्रेरीत किया । इन सारे जिज्ञासुओं को मेरे हार्दिक धन्यवाद ।

माइकल रॅडफोर्ड, मोनाली वारीया, लोरा ओ'ब्रायन एवं मेरी पुत्री रिटा ये सारे मेरे युवा विवेचक ! मेरे अनेक विधानों की विवेचनात्मक परीक्षा और चर्चा कर इन्होंने इस पुस्तक को असांप्रदायिक उदार दृष्टिकोण दिया। मेरे सुपुत्र डॉक्टर सागर परीखने भारतीय एवं पाश्चिमात्य तत्त्वज्ञानका गहरा अध्ययन किया है । जैन दर्शन के साथ साथ अन्य विचारप्रणालियों का समन्वय कर पुस्तक की विशालता बढाने में डॉ. सागरकी अनमोल मदद हुई ।

मेरी पत्नी नलिनी मेरी सच्ची समीक्षक ! शुरूआतसे अंत तक इस प्रकल्प से वो मन:पूर्वक जुडी रही। इस किताब का हरएक पन्ना उसके परीक्षण मापदंड से संपूर्ण तर्कबध्द, विचारों मे सरल, लिखाई में स्पष्ट और डीजायन में सुंदर प्रतीत होनेपर ही उसकी मंजूरी की मोहर लगती । इस पुस्तक के पन्ने पन्ने पर मेरे इन सब शुभेच्छकों की सद्‌भावना की छाप अंकित है । इन सबका मैं अत्यंत ऋणी हुं ।

कई साल पहले अहमदाबाद के श्री. ललित शाह ने मुझे लिखने के लिए प्रवृत्त किया । लेखनके दरमियान अनेक शुभेच्छक और विद्वान मित्रों ने चर्चा विमर्श कर तथा पत्रों द्वारा मुझे मार्गदर्शन दिया जिससे इस पुस्तक की गुणवत्ता में वृध्दि हुई। मेरे इन सब मार्गदर्शकों के - डॉ. जितेन्द्र शाह (पंडित), डॉ. शेखरचन्द्र जैन, डॉ. प्रेमचन्द्र गाडा, डॉ. प्रवीण शाह, डॉ. लॉन फ्रिइझ एवं टोरांटो विद्यापीठके प्राध्यापक जोसेफ ओ'कॉनल - का अगणित ऋण स्वीकार करता हूं।

अहमदाबाद स्थित 'ॲबस्ट्रॅक्ट' के मशहूर फोटोग्राफर श्री. परमानंद दलवाडी और बुक-डीजायनर श्री. वीरेन झवेरी के विशेष आभार ! उनकी उत्कृष्ट कलाकारीने इस पुस्तक को एक अनोखा रंगरूप दिया और दुनीया भर की पाठशालाएं एवं विद्यापीठों में 'टेक्स्टबुक' बनने की योग्यता प्राप्त करा दी। इन कलाकारों को मेरे धन्यवाद!

संदर्भ ग्रंथ सूचि

Some Abbreviations used:

BJ: **B**haratiya **J**nanapitha Publications, Varanasi
LDII: **L**albhai **D**alpatbhai **I**nstitute of Indology, Ahmedabad
MB: **M**otilal **B**anarasidas, Delhi

Babb, L. A. Absent Lord: Ascetics and Kings in a Jain Ritual Culture, University of California Press, Los Angeles 1996

Banks, M. Organising Jainism in India and England, Oxford University Press, New York, 1992

Bhadrabahu Swami *Kalpa-Sutra* (Hindi Translation by Devendra Muni), Amara Jaina Agama Shodhasthana, Shivana 1968*Shree Kalpsutram* (Gujarati Translation by Kheem Vijay Ganiji), Mehta Family Trust, Stoughton, MA, USA 1998*Kalpa-Sutra of* Bhadrabahu Svami (English translation by Lalwani, K.C.), MB, Delhi 1979

Bhargava, D. Jaina Ethics, MB, Delhi 1968

Bhattacharya, H. *Anekatavada*, Jain Atmanand Sabha, Bhavnagar 1953

Bhattacharya, H. Reals in the Jain Metaphysics, SSK Charitable Trust, Bombay 1950The Philosophy of the Jainas, Jain Literature Society, Bombay 1958The Jain Prayer, University of Calcutta Press, Calcutta 1964Jain Moral Doctrine, Jain Sahitya Vikasa Mandala, Bombay 1976*Sri Namaskara Mahamantra*, Jain Youth Forum, Madras 1979

Bhattacharya, N.N. Jain Philosophy, Historical Outline, Munshiram Manoharlal, Delhi 1976Jainism and Prakrit, Manohar Publishers, New Delhi 1994

Bothra, P. Jain Theory of Perception, MB, Delhi 1976

Buddhisagar Surisvarji Muni *Shree Anandghanapada Samgraha*, (Gujarati) Adhyatmajnana Prakashan Mandala, Bombay 1954

Caillat, C., Upadhye, A.N., and Patil B. Jainism, Macmillan Company of India, Delhi 1974

Carrithers, M. and Humphrey, C. eds. The Assembly of Listeners, Cambridge University Press, Cambridge 1991

Chakravarti, A. *Samaysara* of Shri Kundakunda, Tr. with Introduction, BJ, Delhi 1971*Pancastikayasara*, BJ Delhi 1975

Chapple, C. K. Non Violence to Animals, Earth, and Self In Asian Traditions, State University of New York Press, Albany 1993

Chatterjee, A.K., Comprehensive History of Jainism, (2 Volumes), Firma KLM, Calcutta 1978 and 1985

Chaudary, G.C. Political History of Northern India from Jaina Sources, Amritsar 1963

Cort, J. E. ed. Open Boundaries: Jain Communities and Culture in Indian History, State University of New York Press, 1988

Dasgupta, D.C. Jaina System of Education, MB, Delhi 1999

Deepratnasagar Muni *Agamadeep: 45 Agama Gurjarchaya*, Gujarati translation of Agama Scriptures, Agamadeep Prakashan, Ahmedabad 1997

Deleu, J. *Viyah Pannati Suttam (Bhagavati Sutra)*, (Critical Analysis of 5th Agama, MB 1996

Desai, P.B. Jainism in South India and Some Jaina Epigraphs, Jivraja Jain Granthamala, Sholapur 1957

Desai, R.C.	Srimad Rajachandra Volumes I & II, Srimad Rajacjandra Ashram, Agas 1976
Devendra Muni	Source-Book in Jaina Philosophy, Sri Tarak Guru Jain Grnathalaya, Udaipur Hindi – 1973, English - 1983
Divyakirti Muni	*Visva Vijnana: Prachin Ane Navin* (Universal Science: Old and New) Ch. 5 of Tattvarthsutra (Gujarati), Sanmarg Prakashan Ahmedabad 1994
Dixit, K. K.	"A New Contribution to the Discussion of Jaina Monastic Discipline," in *Sambodhi*, V, No. 2-3, pp. 13-48. LDII, Ahmedabad 1976Early Jainism, LDII, Ahmedabad 1978Jaina Ontology, LDII, Ahmedabad 1971
Dundas, P.	The Jains, Routledge Press, London 1992
Dwivedi, R.C. ed.	Contribution of Jainism to Indian Culture, MB, Delhi 1975
Fischer, E. andJain J.	Art and Rituals: 2500 Years of Jainism in India, Sterling Publishers, New Delhi 1977 (translation of German original in 1974)
Folkert, K. W.,	"Jaina Studies: Japan, Europe, India", in *Sambodhi*, V, No. 2-3, pp. 138-147. LDII, Ahmedabad 1976Scriptures and Community, Collected Essays on the Jains, ed. By John Cort, Scholars Press, Atlanta 1993
Gandhi, V.R.	Religion and Philosophy of the Jainas, Edited by Nagin Shah, Jain International, Ahmedabad, 1993
Glasenapp, H. V.	Doctrine of *Karman* in Jain Philosophy, English translation from German by G. Barry Gifford, P.V. Research Insitute, Varanasi 1991
Gopalan, S.	Outlines of Jainism, Wiley Eastern New Delhi 1973
Gopani, A.S. (Tr.)	*Saman Suttam*, translated by Gopani A.S. Yajna Prakashan Samiti, Vadodara 1976*Saman Suttam*, translated by Tukol, T.K. and Dixit, K.K., Sarva Seva Sangh Prakashan, Varanasi, 1993
Guseva, N.R.	Jainism, English translation from Russian by Y. S. Redkar, Sindhu Publications, Bombay 1971
Jacobi, H.	"On Mahavira and His Predecessors", in Indian Antiquary, IX, pp. 158-163, 1880Jain Sutras, (2 Volumes) originally published by Clarendon Press, Oxford in the Sacred Books of the East Series, XXII and XLV in 1884 and 1895. Reprinted in Dover Publications, New York 1968
Jain, S. K. ed.	Glimpses of Jainism, MB, Delhi 1997Progressive Jains of India, Shraman Sahitya Samsthan, New Delhi 1975
Jain, B.C.	Jaina Logic, University of Madras Press, 1992
Jain C. R.	Fundamentals of Jainism, Veer Nirvan Bharati, Meerut 1974
Jain Hiralal and Upadhye, A.N.	Mahavira: His Times and His Philosophy of Life, BJ, Varanasi 1974
Jain Jyoti Prasad	Jainism: The Oldest Living Religion, Cultural Research Society, Varanasi, 1951The Jaina Sources of the History of Ancient India, Munishiram Manoharlal, Delhi 1964Religion and Culture of the Jains, BJ, New Delhi 1983
Jain K.C.	Lord Mahavira and His Times, MB, Delhi 1974
Jain L.C.	The Essence of Attainment – *Labdhisara*, Acharya Vidyasagar Research Institute, Jabalpur 1993
Jain N.L.	Glossary of Jaina Terms, Jain International, Ahmedabad 1995Scientific Contents in Prakrit Canons, Parsvanath Vidyalaya, Varanasi 1996Biology in Jaina Treatise on Reals, (translation of Tattvatika Rajvartika by Akalanka), P.V. Institue, Varanasi 1999
Jain R. K.	*Kavivara Banarasidas* (in Hindi), BJ, New Delhi 1966The Universe as Audience: Metaphor and Community Among the Jains of North India, Indian Institute of Advanced Study, Shimla 1999
Jain S.C.	Structure and Functions of Soul in Jainism, BJ, New Delhi 1978
Jain Sagarmal	An Introduction to Jain Sadhana, (Jaina Way of Living), Parsvanatha Sodhapitha, Varanasi, 1995
Jaini, P.S.	The Jaina Path of Purification, University of California Press, Berkeley 1979Gender and Salvation Jaina Debates on the Spiritual Liberation of Women, University of California Press, Los Angeles, 1991
Johrapurkar, V.P.	*Bhattaraka Sampradaya* (in Hindi), Jivraj Jain Granthamala, Sholapur 1958
Joshi, G. N.	*Atma and Moksha* Gujarat University, Ahmedabad 1965
Joshi, L.M.	Facets of Jain Religiousness in Comparative Light, LDII, Ahmedabad 1981

Kalghatgi, T.G. *Karma* and Rebirth, LDII, Ahmedabad 1971Jaina View of Life, Jaina Samskrti Samraksaka Sangh, Sholapur 1984

Kapadia, H.R. A History of the Canonical Literature of the Jainas, Surat

Kapashi, V. J. In Search of the Ultimate, V.K. Publications, Harrow 1984

Khushaldas, J. ed. *Yogasastra*, Sri Mahavir Jain Vidyalaya, Bombay 1972

Kuhn, Hermann The Key to the Center of the Universe, Crosswind Publishing, 2000

Kulke, H. et. al. A History of India, Rupa & Co., Calcutta, 1993 (2nd edition)

Laislaw, J. Riches and Renunciation: Religion, Economy and Society Among the Jains, Oxfor University Press, Oxford 1995

Lal R.B. Religion in the Light of Reason and Science, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay 1978

Law B.C. Some Jaina Canonical Sutras, Royal Asiatic Society Monograph No. 2, Bombay 1949

Marathe, M.P., et. al. Studies in Jainism, I.P.Q. Publications, Dept. of Philosophy, University of Poona, Poona 1984

Mardia, K.V. The Scientific Foundations of Jainism, L.S.L. Jain Research Series, MB, Delhi 1990

Marett, Paul Jainism Explained, Jain Samaj Europe Publications, Leicester 1985

Matilal, B.K. The Central Philosophy of Jainism, LDII, Ahmedabad 1981

Mehta, Mohanlal Jaina Psychology, Sohanlal Jaindharma Pracharak Samiti, Amritsar 1955Jaina Theory of Knowledge, Gujarat Vidyapith, Ahmedabad 1995

Mookerjee, S. The Jaina Philosophy of Non-Absolutism: A Critical Study of Anekantavada MB 1978 (2nd edition)

Nair, V.G. Jainism and Terapathism, Adinatha Jain Temple, Banglore 1970

Nathmal Muni Acharya Bhiksu: The Man and His Philosophy, Adarsha Sahitya Sangha Churu, 1968

Nemichandra Siddhantideva *Dryva-Sangraha*, translated by Sarat Chandra Ghosal, Shri Chandraprabha Digambar Jain Mandir Trust, Bombay 1986 (3rd ed.)

Nevaskar, B. Capitalists Without Capitalism: The Jains of India and the Quakers of the West Greenwood Publications,Westport, Conn. 1971

Nyayavijayji Muni Jaina Darsana, Original 1956 Sanskrit text translated by Nagin J. Shah as: Jaina Philosophy and Religion, MB, Delhi 1998

O'Connell, J.T. ed. Jain Doctrine and Practice: Academic Perspectives, University of Toronto Press, Toronto 2000

Padmarajiah, Y. J. Jaina Theories of Reality and Knowledge, Jaina Sahitya Vikas Mandala, Bombay 1963

Pal, P. The Peaceful Liberators: Jaina Art from India, Los Angeles County Museum of Art, and Thames and Hudson, Los Angeles 1994

Pandey, V., ed. The World of Jainism, Published by the author, Bombay 1976

Rajchandra Srimad *Atmakatha*, Srimad Rajachandra Asharam, Agas 1929*Mokshamala*, Srimad Rajachandra Asharam, Agas

Ramachandran, T.N. Harappa and Jainism, Kundakunda Bharati Prakashan, New Delhi 1987

Rosenfield, C. Gurudev Shree Chitrabhanu A Man with a Vision, Jain Meditation International Centre New York 1982

Roy, A. K. History of the Jains, Gitanjali Publishing House, New Delhi 1984

Salter, E. "Unity and Diversity Amongst the followers of Srimad Rajacandra," in *Jinamanjari*, Vol. 23, No. 1, pp. 32-51

Sangave, V. A. The Jaina Path of Ahimsa Bhagawan Mahavir Research Centre, Sholapur 1991Aspects of Jain Religion, 3rd ed., BJ 2001

Sanghavi, Sukhlalji *Samdarshi Acharya Haribhadra* (in Hindi), Rajasthan Puratan Granthamala, Jodhpur 1963*Darshan Aur Chintan* Part 1 & 2, Gujarat Vidyasabha, Ahmedabad 1957

Schubring, W. The Doctrine of the Jainas, translated from German by Wolfgang Beurlen, MB, Delhi 1962*Isibhasiyaim*, text and commentary, LDII 1974

Settar, S. Pursuing Death, Brahmi Society Publication, Mississauga 1991

Shah, D.M., Pungaliya, U.K. "Srimad Rajacandra on the Role of the *Sadguru* for Self-Realization" in *Jinamanjari*, Vol. 23, No. 1, pp. 1-31

Shah, Hemant Jain Theism, Academy of Philosophy, Ahmedabad 1997

Sharma, A. A Jaina Perspective on the Philosophy of Religion, MB, Delhi 2001

Sharma, J.P. "Hemchandra: The Life and Scholarship of a Jain Monk," in *Asian Profile* III, no. 2, pp 195-215, Hong Kong 1975

Shukla, R. and Mishra, S.M. — *India as Known to* Haribhadrasuri, Kusumanjali Prakashan, Meerut 1991

Sikdar, J. C. — Studies in Bhagavati Sutra, Muzaffarpur 1964"The Fabric of Life as Conceived in Jaina Biology," in *Sambodhi* III, No. 1, pp 1-10 Ahmedabad 1974

Singh R.J. — The Jaina Concept of Omniscience, LDII, Ahmedabad 1974

Singhavi, L. M. — Jain Declaration of Nature, Presented to H.H. Prince Phillip, 1990

Smart, N. — The Religious Experience of Mankind, Collins, London 1969

Smith, V. A. — The Jain Stupa and Other Antiquities of Mathura" Indological Book House, Varanasi 1969 (reprint of original in 1901)

Sogani, K.C. — Ethical Doctrines in Jainism, Jaina Samskriti Samrakshaka Sangha Sholapur 1967

Stevenson, S. — The Heart of Jainism, Munshiram Manoharlal, New Delhi 1970 (reprint of 1915 publication by Oxford University Press)

Sudharma Svami — *Bhagavati Sutra*: Volume III, Jain Bhavan, Calcutta 1980

Sushilkumar, Muni — Songs of the Soul An Introduction to the Namokar Mantra and the Science of the Soul, Siddhachalam Publishers, New Jersey 1987

Talib, G.S., ed. — Jainism, Punjab University, Patiala 1975

Tatia, Nathmal — Studies in Jaina Philosophy, Jaina Cultural Research Society, Varanasi 1951That Which Is, commentary and English translation of Umasvati's *Tattvarthasutra*, Harper Collins Publishers, San Francisco 1994

Titze, Kurt — Jainism: A Guide to the Religion of Nonviolence MB, Delhi, 2000

Tiwary, B.K. — History of Jainism in Bihar Academic Press, Delhi 1998

Tukol, T.K. — *Sallekhana* Is Not Suicide, LDII, Ahmedabad 1976Compendium of Jainism, (Original *Jain Darsana* translated by Shukla, C.P.), S.P. University, Vallabha Vidyanagar, 1978

Tull, H.W. — The Vedic Origins of *Karma*: Cosmos as Man in Ancient Indian Myth and Ritual, State University of New York Press, Albany 1989

Tulsi Acharya — My Religion, Adarsa Sahitya Sangh, Churu 1969Illuminator of Jain Tenets, (Original *Jaina-Siddhanata Dipika* translated by Satkari Mookerji and edited by Nathmal Tatia), Jain Vishwa Bharati University, Ladnum 1985

Upadhye, A. N. et. al. — Lord Mahavira and His Teachings, 2nd ed. Shree Vallabhsuri Smarak Nidhi, Bombay 1983*Nayavatara*, Jain Sahitya Vikas Mandal, Bombay 1971

Wagle, N.K. , Qvarnstrom, O. eds. — Approaches to Jain Studies: Philosophy, Logic, Rituals and Symbols, University of Toronto Press, 1999

Warren, H. — Jainism in Western Garb, as a Solution to Life's Great Problems, 2nd ed. with notes by N.J. Shah, Shree Vallabhsuri Smarak Nidhi, Bombay 1983

Williams, R. — Jaina Yoga MB Delhi 1983

Zaveri, J.S. — Microcosmology: Atom in Jain Philosophy and Modern Science, Jain Viswabharati University, Ladnum, 2nd edition 1991

ईन्टरनेट वेबसाईट सूचि

http://atmavallabh.com
http://www.ahimsa.com
http://www.ahmedabadjinalay.org/
http://www.anekant.org
http://www.arham.com/
http://www.atmadharma.com
http://www.atmasiddhi.com
http://www.bhaktisangeet.com/
http://www.cs.colostate.edu/~malaiya/jainblinks.html -
http://www.digambarjain.com
http://www.geocities.com/tamiljain/
http://www.hindibooks.8m.com
http://www.jaamjv.org
http://www.imjm.ca
http://www.jain.ws
http://www.jaina.org/
http://www.jaindharam.org/
http://www.jain-germany.de
http://www.jainheritage.com
http://www.jainheritagecentres.com
http://www.jain-houston.org
http://www.jainism.org
http://www.jainmatrimonial.com
http://www.jainmeditation.org
http://www.jainnet.com
http://www.jainojago.com
http://www.jainology.org/
http://www.jainpilgrimages.com
http://www.jains.australians.com/indexJains.htm
http://www.jainsamaj.org
http://www.jainspirit.com http://www.jainstudy.org

http://www.jaintirth.org
http://www.jainworld.com
http://www.jcgb.org
http://www.jcnc.org
http://www.jirs.ac.in/
http://www.jiva.org
http://www.jsgatemple.org
http://www.jsgmatrimonial.com
http://www.jsmw.org
http://www.kalikund.org
http://www.mahavirpuram.org
http://www.nepaljain.com
http://www.peacepublications.com
http://www.saint-louis.net/jainism.htm
http://www.shantivijay.org
http://www.shrimad.org
http://www.shubhlabh.net
http://www.smjvalumni.org http://www.terapanthonline.com
http://www.veg.org
http://www.vegdining.com
http://www.vegeats.com
http://www.vegsoc.org
http://www.vegsource.com
http://www.vegweb.com
http://www.wizard.net/~ethan/ahimsa.htm
http://www.vja.org http://www.yjponline.org
http://www.youngjains.org

लेखक परिचय

वस्तुपाल परीख का जन्म भारत में एक जैन परिवार में हुआ। सद्‌भाग्य से बचपन से ही जैन धर्मके एक विख्यात विद्वान प्रा. ए.एन. उपाध्ये का मार्गदर्शन आपको प्राप्त हुआ ।

इ.स. 1960 में कनाडा जाकर वहां के सर्वश्रेष्ठ विद्यापीठ -क्वीन्स यूनीवर्सिटी, किंगस्टन - से रसायन शास्त्र में आपने डॉक्टरेट (Ph. D.) की उपाधि प्राप्त की और रसायनशास्त्र के प्राध्यापक बन डॉ. वस्तुपाल परीख कनाडा में बस गये। रसायनशास्त्र की अनेक किताबें लिख, 'कठिन विषयों और तत्त्वों को सरल, सुंदर, आसान भाषा में पाठकों को तक पहुँचाने वाले एक संभ्रांत वैज्ञानिक और लेखक' की ख्याति आपने अर्जित की। विज्ञान के अध्ययन के साथ साथ विविध धर्मों के तत्त्वज्ञान की तर्कबद्धता की आपने एक वैज्ञानिक ढंगसे खोज की ।

आधुनिक विज्ञान और प्राचीन धर्मविचार का एक अनोखा समन्वय आपको जैन दर्शन में प्राप्त हुआ और 35 साल से अधिक समय तक जैन धर्म का अध्ययन आप करते रहे । जैन धर्म की तर्कबद्धता और जैन सिद्धान्तों की वर्तमान जीवन में उपयुक्तता से प्रभावित होकर आपने इस पुस्तक की रचना की। सीधी और सरल भाषा में जैन दर्शन को आजके विचारकों एवं युवा पीढी के समक्ष प्रस्तुत करने का आपका यह प्रयास है । मूल अंग्रेजी ग्रंथ का पाठकों ने बड़े उत्साहपूर्वक स्वीकार किया और इस का अनुवाद विविध भारतीय भाषाओं में उपलब्ध कराने का सुझाव भी दिया। प्रा. भारती जोशी के सधे हाथों से अनुवादित यह हिंदी कृति अब आपके सम्मुख पेश है ।

शिक्षा संस्थान से अवकाश पाकर डॉ. परीख आपकी पत्नी नलिनी के साथ कनाडा के टोरांटो शहर में निवास करते हैं।

अनुवादक परिचय

भारती जोशी ने इ.स. 1951 में नागपुर यूनीवर्सिटी से स्वर्णपदक के साथ B.A. की उपाधि प्राप्त की। तत्पश्चात् आप इन्दौर यूनीवर्सिटी में हिंदी भाषा और साहित्य की प्राध्यापिका बनीं। वहां आपने हिंदी विभाग प्रमुख, आर्टस् फॅकल्टी की डीन और हिंदी शिक्षा कमिटी प्रमुख बन 36 साल सेवा प्रदान की।

आप साहित्य, रंगमंच और संगीत में रुचि रखती हैं। All India Radio, नाट्यजगत और हिंदी साहित्य में 'एक सिद्धहस्त लेखिका' की ख्याति आपने अर्जित की है।

Worldwide praise for the English Edition

"This amazing book starts with the simple basics of Jainism and smoothly transports us to the heights of the critical analysis and applications of Jain Principles."

Mr. Shreyans Shah - Managing Editor, Gujarat Samachar

"A unique synthesis of unweavering trust in religion and critical scientific analysis of religious principles. The author has presented this in a simple, straight forward and logical style that would attract the most critical and itellectual mind of the modern youth and yet be accessible to a novice. How many religious books can achieve this? Such books must be made available in various languages."

Prof. Poornima M. Dave

"Professor Parikh connects issues of ecology and global interdependence with logic and reasoning as reflected in Jain Dharma, in a lucid, clear and simple language. Dr. Parikh puts Jain Dharma among the world religions of this 21st century with its scientific and spiritual approaches for solutions."

Gurudev Chitrabhanu

"Most books have not succeeded in bringing to the subject the high degree of readability, as also the extraordinarily attractive and reader friendly structure, that you have achieved."

Mr. Abhay Firodia - Chairman, Bajaj Tempo India

"It is written in a scholarly yet approachable style well suited for the university student but valuable to anyone with an enquiring mind."

Mr. Aiden Rankin - Guest editor, Jain Spirit, Issue 17, Dec. 2003

"... a sumptuous, 224 page exploration of an ancient and relatively little-known faith that is surprisingly relevant for the 21st century."

Mr. Ron Csillag - Toronto Star, August 10, 2002

"While comparing this book with two recent publications, Dr. Parikh's book comes in handy for young Jains... who need a simple book to understand their faith."

Mr. Ajit Jain - India Abroad, New York, August 23, 2002

"No educated person can afford to be without this book."

Dr. Ramesh Khajuria, Founder, Jain University

पीस पब्लिकेशन्स
4 चंदनवाडी, राज भवन के सामने
शाहीबाग, अहमदाबाद
गुजरात, 380 004
भारत

PEACE
Rs. 220
PUBLICATIONS

ISBN 0-9689863-2-3
9 780968 986325